प्रस्तावना

अरविन्द आश्रम पांडिचेरी के श्री दिलीपकुमार राय ने इस पुस्तक मे हमारे समकालीन कुछ महापुरुषो, कलाकार रोम्याँ रोलाँ, महात्मा गाधी, विचारक बर्टेण्ड रसेल, कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा तत्वदर्शी श्री अरविन्द के साथ अपने सभाषणो व पत्र-व्यवहार का सग्रह किया है। लेखक श्री दिलीपकुमार राय एक तीर्थयात्री है जो सत्य व ज्ञान की खोज मे तीर्थ यात्रा कर रहे हैं, और उन्होने अपनी पुस्तक का नाम 'महापुरुषो के साथ' रखा है।

महामना क्या वस्तु है ? यह कोई मापने योग्य गुण प्रतीत नही होता, परन्तु फिर भी जब हम इसके सम्पर्क मे जाते है तो हम झट इसे पहचान लेते है। वे उच्च मन तथा वीर हृदय जो सन्देह रहित होकर तथा विघ्न-बाधाओ की परवाह न करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढते रहते है, अपने अन्दर महत्ता का गुण रखते है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है, "भिन्न-भिन्न जलवायु के प्रत्येक देश मे कुछ पुरुष प्रकाश के केन्द्र के रूप मे अवस्थित होते है, वे पुरुष जो साहस पूर्वक यह घोषणा करते है कि अकेला रह जाने पर भी वे किसी से भयभीत नही होते। तुम उनका उपहास कर सकते हो, उन पर अत्याचार कर सकते हो, यहाँ तक कि उनके प्राण तक ले सकते हो, परन्तु वे कभी भी घूँसे का जबाव लात से नही देगे। कारण, वे हृदय के अन्दर विराजमान प्रभु की वाणी के प्रति अखड भक्ति व प्रेम के साथ प्रतिज्ञाबद्ध है।"

वे चुनी हुई आत्माएँ, अनेक मनोरजक व आवश्यक विषयो पर, जिनके दृढ विचार इस पुस्तक मे प्रकाशित किए गए है, अत्यन्त विनम्र तथा गहरी अन्तर्दृष्टि रखनेवाली हैं, वे साम्प्रदायिकता की सकीर्णता से सर्वथा मुक्त है और उनके विचार महान्, उच्च तथा उदार है। उन्होने जीवन की केन्द्रीभूत समस्याओ के साथ सघर्ष किया है और अन्त मे निश्चयात्मक परिणामो पर पहुँच गए है। कोई भी व्यक्ति जिसमे आत्मा का प्रकाश विद्यमान है, जीवन व विचार के उन केन्द्री-भूत प्रश्नो को, जिन्होने अतीत के महान् विचारको का ध्यान आकर्षित किया है,

उठाए बिना नही रह सकता। मै कौन हूँ, मेरी उत्पत्ति का कारण क्या है, और किस अवस्था मे मुझे लीन होना है। मैं किन प्राणियो से घिरा हुआ हूँ और मेरा उनसे क्या सम्बन्ध है ? कान्ट ने मुख्य समस्याओ का तीन प्रश्नो के रूप मे वर्णन किया है। मैं क्या जान सकता हूँ? मुझे क्या करना चाहिए ? और मुझे क्या आशा करनी चाहिए ? पाँचो महापुरुषो ने इन अन्तिम अनिश्चितताओ पर गभीर विचार किया है और अथक परिश्रम तथा अनेक कष्टो के बाद वे उन विस्तृत परिणामो पर पहुँचे है, जो प्रतिद्वन्द्वी अर्धसत्यो के सघर्ष तथा असम्बद्ध ज्ञान की थकावट से उनकी रक्षा करते है। बार-बार सिर उठानेवाले महायुद्धो की विभीषिका से पीडित व निराश ससार, हमारे द्वारा घोषित किए जाने वाले धर्म के सिद्धान्तो और हमारे सामाजिक व्यवहार के बीच विद्यमान असगति के प्रति उनके मन मे एक भीषण क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित कर देता है।

१

प्रथम अध्याय हमे रोम्याँ रोलाँ की मृत्यु तथा उन सार्वभौम मूल्यो के प्रति, जो युद्ध के समय बहुतो के लिए विशेष कुछ अर्थ रखते थे, उनकी साहसपूर्ण दृढ आस्था की याद दिलाता है। उन्होने ससार और उसके कष्टो को कालातीत अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। उन्होने अपना स्थान पहले पहल सन् १९०३ मे बीथोवन की जीवनी से बनाया था।' अर्वाचीन कला मे बीथोवन सबसे उत्कृष्ट प्रबल शक्ति है, वह उन सब दलितो का, जो सतत कष्ट उठाते और सघर्ष करते हैं, परम मित्र है।" इस पुस्तक ने सगीत प्रेमियो के अतिरिक्त साधारण जनता का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट किया। रोम्याँ रोलाँ सगीत से कला के रूप मे ही प्रेम नही करते थे, परन्तु उस साधना के रूप मे उसकी उपासना करते थे, जो काल व उसकी सीमा के बन्धनो पर विजयी है। उन्होने १९०४ मे अपनी प्रसिद्ध कृति 'जॉन क्रिस्तोफ' का प्रकाशन आरभ किया, जो स्वय एक पीडित सगीतज्ञ था और इस महान् ग्रन्थ का अन्तिम भाग १९१४ के विश्वव्यापी महायुद्ध के बारह मास पूर्व प्रकाशित हुआ था। युद्ध के बावजूद उन्होने आत्मा की विजय तथा मनुष्य की महानता मे अपना विश्वास कायम रखा। एण्टिगौन के शब्दो मे उन्होने जॉन क्रिस्तोफ के बारे मे जो कथन किया है, वह वे अपने बारे मे भी ठीक उसी प्रकार कह सकते थे, "मैं प्रेम करने के लिए ही बनाया गया था, घृणा करने के लिए नही। उनकी रचनाओ से हम यह अनुभव करते है कि मनुष्य की आत्मा चाहे पूर्व मे हो या पश्चिम मे, सब स्थानो पर एक समान है।" नग्न आत्मा के लिए पूर्व या पश्चिम का कोई पृथक् अस्तित्व नही है, ये वस्तुएँ केवल उसके आवरण मात्र हैं। सारा विश्व ही उसका निवास स्थान है। और चूँकि उसका घर हममे से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान है, यह हम सबसे समान रूप से सम्बद्ध हैं।" यह

कोई आश्चर्य नहीं कि वह भारत की उस प्राचीन विद्वता से, जो रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और गांधी के रूप में प्रकट हुई आकृष्ट हुए। "ओह रवीन्द्रनाथ, ओह गांधी भारत की पवित्र सरिताएँ, जिन्होंने गंगा और सिंधु के समान अपने दुहरे आलिंगन में पूर्व और पश्चिम को आवेष्टित कर लिया है—महात्मा जो आत्म-त्याग व साहसिक कार्यों का गुरु है—कवि जो प्रकाश का एक विस्तृत स्वप्न है—दोनों ही कृपा के हाथ से कल्पित इस जगत में ईश्वर के अमृत-पुत्र के रूप में अवतरित हुए हैं।" वे भारत में आने के लिए बराबर उत्सुक रहे यद्यपि उनका यह स्वप्न कभी पूरा न हो पाया। अपने ११ जून १९२३ के एक पत्र में उन्होंने रवीन्द्रनाथ को लिखा था, "प्रिय मित्र, मेरी भारतवर्ष आने व तुम्हें देखने की कितनी प्रबल अभिलाषा है! मेरे मन की प्रत्येक चेष्टा उसी ओर निर्देश करती है। लेकिन मुझे आशंका है कि इन सदियों में भी मेरी यह इच्छा शायद पूर्ण न हो सकेगी। परन्तु फिर भी मुझे आशा है कि एशिया की यात्रा कर सकूँगा और शान्तिनिकेतन में विश्राम पा सकूँगा। मुझे तुमसे बहुत कुछ सीखना है। और मुझे विश्वास है कि मैं वहां अपने एक पूर्वनिर्धारित धार्मिक कर्तव्य का अपने जीवन के अन्त तक पालन कर सकूँगा। आनेवाली शताब्दियों में योरोप और एशिया का संगम अवश्यंभावी है जो मनुष्य जाति के लिए अत्यन्त उत्कृष्ट कार्य है। जहाँ तक मेरा अपना सबंध है, भारतवर्ष मेरे लिए अब विदेश भूमि नहीं है, वह सब देशों से महान् देश है. यह वह प्राचीन देश है जिससे मैं कभी प्रवासित हुआ था। और अब पुनः अपने अन्तस्तल में मैं उसे दृढ़ता से स्थापित पाता हूँ।" रोम्याँ रोलाँ पारस्परिक सौहार्द के संदेश वाहक थे। "हमें उस महान भारत-योरोपीय परिवार को पुनः परस्पर मिलाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए, जिसे स्थानीय दूरी ने क्रूरतापूर्वक एक-दूसरे से पृथक् कर दिया है।" संसार में कोई भी ऐसा महान् कार्य नहीं है जो किसी ऐसे महापुरुष ने किया हो, जिसका मनुष्य जाति और मनुष्य जाति से उच्चतर व महत्तर किसी वस्तु में विश्वास न हो, जो अब भी मनुष्य जाति में कायम है। रोम्याँ रोलाँ की प्रत्येक कृति इसकी साक्षी है।

२

यदि सबसे महान कलाकार वह व्यक्ति है जो उत्कृष्टतम जीवन व्यतीत करता है, तो गांधी उस पदवी के सर्वथा उपयुक्त हैं। 'सादगी में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कला और क्या वस्तु है, और दैनिक जीवन में सब कृत्रिमताओं व मिथ्याविश्वासों से मुक्त सरल सौंदर्य की उच्चतम अभिव्यक्ति के अतिरिक्त त्यागवाद और क्या वस्तु है?" गांधी का जीवन कला व त्यागवाद का अद्भुत सम्मिश्रण था। वह जो कुछ कहते थे, उसमें विश्वास रखते थे और जो कुछ उपदेश देते, उसे स्वयं अपने जीवन में क्रियान्वित करते थे।

एक वैयक्तिक पारलौकिता है जिसे समर्पण कहते है, परन्तु यदि यह पारलौकिकता ऐसी है जो व्यक्ति को समाज से विमुख कर देती है, तो यह धर्म का परित्याग है। यदि वे लोग, जो सत्ता की चोटी पर वैठे हुए शक्तिशालियो को नीचे गिराने तथा पददलितो को ऊपर उठाने का प्रयत्न करते है, किसी अदृश्य सत्ता मे विश्वास नही करते, तो ईश्वरीय सत्ता मे विश्वास रखने वालो को लज्जा से अपना सिर नीचे झुका लेना चाहिए, क्योकि उन्होने अपना असली कार्य दूसरो पर छोड दिया है। हमारे राजनीतिज्ञो मे धर्म की भावना की कमी है और हमारे धार्मिक पुरुषो मे सामाजिक उत्साह का अभाव है। धर्म को अत्याचार, आक्रमण तथा अन्याय का सबसे प्रवल शत्रु होना चाहिए। यदि वह इसमे से किसी का भी साथ देता है, या शक्ति प्रतिष्ठा के साथ समझौता करता है व पाप की शक्तियो के साथ सधि करता है, तो वह कमजोर, दिखावटी व शक्तिहीन हो जाता है। धर्म क्रान्तिकारी है, अन्यथा वह मिथ्या है। गाधी ने राजनैतिक क्षेत्र मे धर्म की आत्मा का प्रवेश कराया। उनकी दृष्टि मे युद्ध से वढकर और कोई अपराध नही है, और सब विचारशील सच्चे धार्मिक पुरुष इसमे एकमत है। जुलाई, १९३७ मे आक्सफोर्ड मे गैर रोमन चर्च की परिषद् से जो सन्देश प्रचारित किया गया था, वह इस प्रकार हे, "विश्वव्यापी चर्च विश्व के सब राष्ट्रो का सिंहावलोकन करके, जिनमे से प्रत्येक मे इसकी शाखाएँ स्थापित है, विना किसी शर्त व प्रतिबध के युद्ध को निन्दित व दूपित घोषित करता है। युद्ध केवल पाप की ही अभिव्यक्ति या फल है।"

गाधी ने अन्याय व शोषण को दूर करने के लिए कष्ट-सहन की नीति का प्रयोग किया है। यद्यपि वे वास्तव मे मनुष्यमात्र के सेवक थे, तथापि वे भारत के प्लेटफार्म से मनुष्य जाति की सेवा कर रहे थे। हमे फल की प्राप्ति के लिए वृक्ष को काट देने की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार मनुष्य समाज की पूर्णता के लिए हमे परिवार या राष्ट्र के विनाश करने की आवश्यकता नही। हमे उचित दिशा मे उनका विकास करके, और उनमे से उस स्वार्थ भावना का विनाश करके जो उनके सही विकास को रोकती है, उनको परिवर्तित करने की आवश्यकता है। देशभक्ति ऐसा विकार नही है, जिसका उन्मूलन आवश्यक है, अपितु यह एक शक्ति है जिसका उपयोग विश्व समाज की सेवा के लिए करना चाहिए। गाधी जब भारत की स्वतत्रता के लिए सग्राम करते थे। उनके लिए स्वतत्रता केवल राजनीतिक शक्ति की प्राप्तिमात्र नही है, अपितु एक नवजीवन मे प्रवेश है जिसमे समस्त पदार्थ एक परिवर्तित रूप धारण कर लेते है और मानवीय अत्याचार व शोपण का किसी भी रूप मे अस्तित्व नही रहता। इसके लिए एक नई शिक्षा, एक नए नियत्रण, ईश्वर मे दृढ विश्वास तथा मनुष्य जाति की नि स्वार्थ सेवा की आवश्यकता होती है।

श्री दिलीपकुमार राय द्वारा बर्ट्रेण्ड रसेल का वर्णन इस बात का साक्षी है कि किसी व्यक्ति की प्रशसा करने के लिए उससे सहमत होना आवश्यक नही है। श्री दिलीपकुमार का मत है कि उच्चतर मानवीय मूल्य, सौदर्यानुभूति, नैतिक चेतना और धार्मिक अन्तर्दृष्टि की व्याख्या भौतिक यान्त्रिक व प्राकृतिक विकासवाद के शब्दो मे नही की जा सकती और इसलिए उनका विचार है कि रसेल का वह वैज्ञानिक मानववाद, जो प्राकृतिक विकासवाद के शब्दो मे इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करता है, एक दार्शनिक या आध्यात्मिकवाद के रूप मे अन्य स्थूलतर भौतिक वादो की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद नही है। यदि उपासना व पूजा की इच्छा और किसी शाश्वत सत्ता मे विश्वास ही धर्म के लक्षण है तो यह नही कहा जा सकता कि बर्ट्रेण्ड रसेल ने धर्म की आत्मा का अनुभव किया है। तथापि मानवता के प्रति उनका गभीर प्रेम, पाखड व दभ के प्रति उनकी तीव्र घृणा और दलित राष्ट्रो व पीडित जनता की उनकी वकालत ने उनके लिए नवयुवको के हृदय मे प्रेम व श्रद्धा को पैदा किया है और नव आशा का सचार किया है। "हमे उस नैतिकता की आवश्यकता है, जो जीवन के प्रेम पर आधारित है और निश्चित सफलता व उन्नति मे आनन्द पर अवलम्बित है।···वह मनुष्य, जो दूसरो को प्रसन्न देखकर प्रसन्न, उदार व महान होता है, उसे ही हमे अच्छा समझना चाहिए।·· और वह व्यक्ति जो दूसरो के ऊपर अत्याचार करके, उनका शोषण करके फलता-फूलता है, उसे हमे अधार्मिक या पापी समझना चाहिए, चाहे वह नियमपूर्वक चर्च मे क्यो न जाता हो?" रसेल अपने 'मानसिक आकाश को रहस्यवादी मेघो से मुक्त' रखना चाहते है। परन्तु साथ ही पीडित मानवता के लिए उनके हृदय मे एक "रहस्यवादी कोमलता" है। अस्पष्ट व सदिग्ध विचार, मूर्खतापूर्ण निषेधो व अधविश्वासो के प्रति उनके हृदय मे एक तीव्र घृणा है। १९०३ मे उन्होने 'इण्डिपेण्डेण्ट रिव्यू' नामक पत्रिका के 'एक स्वतत्र मनुष्य की पूजा' शीर्षक एक प्रसिद्ध लेख मे अपने भ्रातिशून्य बुद्धिवादी दर्शन शास्त्र का वर्णन किया है। बाद मे उन्होने अपनी पुस्तक 'रहस्यवाद और तर्क' मे उसका इस टिप्पणी के साथ समावेश किया है कि लेखक का जीवन के प्रति रुख मुख्यत ऐसा प्रतीत होता है, जो उन सब व्यक्तियो को जो कट्टर धार्मिक भावनाओ मे विश्वास नही रखते, आन्तरिक पराजय से बचने के लिए स्वीकार करना आवश्यक है। चिर स्मरणीय शब्दो मे बर्ट्रेण्ड रसेल कहते है

"मनुष्य का जीवन अदृश्य शक्यो से घिरी हुई थकावट व कष्टो की यातनापूर्ण अन्धकारमय रात्रि मे एक ऐसे लक्ष्य के लिए दीर्घ यात्रा है, जिस तक पहुँचने की आशा बहुत कम व्यक्ति कर सकते है, और जहाँ हर कोई भी व्यक्ति अधिक

देर तक नही ठहर सकता। हमारे साथी एक के बाद एक जैसे ही आगे बढते है, वैसे ही सर्वशक्तिशाली मृत्यु के शात आदेश से वे हमारी आँखो से विलुप्त होते है। समय बहुत ही अल्प है, जिसमे कि हम उनकी कुछ सहायता कर सकते है, जिनमे उनके सुख व दु ख का निर्णय होता है।

वे हमे हमारे कर्मो के बदले स्वर्ग मे किन्ही सुखो का प्रलोभन दिए बिना हमारे सन्मुख भौतिक पदार्थो की क्षणभगुरता का प्रतिपादन करते है, और साथ ही हमे भद्र व दयालु बनने की प्रेरणा देते है।

"उनके मार्ग मे सूर्य का प्रकाश फैलाने, सहानुभूति के प्रलेप द्वारा उनके कष्टो को हल्का करने, अथक स्नेह के सात्विक सुख को उन्हे प्रदान करने और निराशा के क्षणो मे उनमे विश्वास की विद्युत् भरने का कार्य हमारा होना चाहिए।"

रसेल यह अनुभव करते प्रतीत नही होते कि वह मानव-प्राणी, जो जगत् का निर्णायक बन सकता है, जिसको इतनी बुद्धि है कि वह जान सकता है कि इस भूखड के इतिहास मे उसका जीवन एक छोटी-सी घटना मात्र है, जिसने अपनी चेतना को इतना विकसित कर लिया है कि वह ससार के अपव्यय तथा अभाव के प्रति विद्रोह करने को तैयार है, वह ससार की घटनाओ मे एक साधारण घटना मात्र नही है, व अन्य इद्रियगोचर पदार्थों की तरह साधारण पदार्थ नही है। यदि वह केवल वही होता तो निराशा के क्षणो मे विश्वास का सचार कैसे हो सकता था? रसेल का मानववाद हमे शान के साथ मृत्यु का आलिगन करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है, परन्तु क्या वह हमे आशा के साथ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा भी देता है? रसेल जब हमे "अपने साथियो के मार्ग मे सूर्य का प्रकाश फैलाने, सहानुभूति के प्रलेप द्वारा उनके कष्टो को हल्का करने, अथक स्नेह के सात्विक सुख को उन्हे प्रदान करने, और निराशा के क्षणो मे उनमे विश्वास का सचार करने' का आदेश करते है तो वह हमे यही सोचने के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि हम मनुष्य जाति की उन्नति के लिए बहुत कुछ कार्य कर सकते है और कोई मूल प्रवृत्ति हमे इसके लिए प्रेरित करती है। हमे उसकी सहायता करनी चाहिए व उसके साथ कार्य करना चाहिए। ईश्वर का अनुभव एक ऐसा अनुभव है जिसे हम इस भूखण्ड पर मनुष्य जाति के भविष्य की रक्षा द्वारा प्राप्त कर सकते है, वह एक ऐसा अनुभव है जिसकी आकाक्षा मानवता करती है।

४

रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारतीय पुनर्जागरण की वह महानतम विभूति है जिन्होंने उस युग को, जिसमे वह विद्यमान थे, प्रकाशित किया है। वह उन विरले पुरुषों मे से है जिनके बारे मे बिना अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि उनके समान व्यक्ति उनकी अपनी पीढी मे तथा आने वाली पीढियो मे भी होना

कठिन है। वह स्वभावत एक कवि थे, और इसलिए कर्मशीलता मे ही वह पूर्णता की खोज करते थे न कि पलायन मे। वह जीवन-पर्यन्त मनुष्य जाति के मन को बधन-मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे। वे उन पागलपन, अन्यायो व अस्तव्यस्तताओ के विरुद्ध, जो किसी न किसी रूप मे मानव जाति को खोखला बनाने मे व्यस्त है, मनुष्य जाति को निरन्तर सावधान व जागरूक करते रहे। उन्होने जहाँ विदेशियो द्वारा भारतीयो के शोषण के विरुद्ध सघर्ष किया, वहाँ भारतीय मन की आन्तरिक दासता के विरुद्ध भी उसी प्रकार सग्राम किया। यदि हमे अत्याचारी शासक को सिंहासन-च्युत करना है, तो हमे पहले उस सिंहासन के विनाश करने की आवश्यकता है, जो हमने उसके लिए अपने अन्दर स्थापित किया हुआ है। कोई भी स्वेच्छाचारी शासक स्वतत्र मन पर शासन नही कर सकता। विश्वभारती की स्थापना द्वारा रवीन्द्रनाथ ने उस विश्वराष्ट्र मण्डल का प्रयत्न किया, जिसकी आधार-शिला सार्वभौम नैतिक नियमो पर टिकी हुई है।

५

श्री अरविन्द हमारे लेखक की समस्त हार्दिक भक्ति के अधिकारी है। श्री अरविन्द उन रहस्यवादी आत्माओ के बौद्धिक बल के एक महान् उदाहरण है, जिनके पास हम उनकी बौद्धिक सूक्ष्मताओ को ग्रहण करने के लिए इतना नही जाते, जितना कि जीवन सदेश प्राप्त करने के लिए जाते है। उनके विचारो की गभीर उच्चता, उत्कृष्ट कला की ऊँचाई से आवृत उनका विस्तृत ज्ञान तथा दिव्य जीवन के प्रति उनकी आत्मा की साक्षी आदि उनके सब गुण पाँचवे अध्याय मे दिए हुए उद्धरणो से प्रकट हो जाते है।

हम एक नए युग के द्वार पर खडे है। वर्तमान उलझनो से उत्पन्न अव्यवस्था तथा अनिश्चिततायें उन वैज्ञानिक सफलताओ के सर्वथा प्रतिकूल है जिन्होने स्थानगत दूरी को सर्वथा नगण्य बना दिया है, जिन्होने हमे एक सप्ताह के अन्दर समस्त पृथ्वी का चक्कर लगाने की सामर्थ्य प्रदान की है, और जिन्होने कलकत्ता व सेनफ्रेंसिस्को जैसे सुदूरवर्ती नगरो मे टेलीफोन द्वारा बातचीत करने की सुविधा प्रदान की है। ससार की यह अव्यवस्था मनुष्य के उस मानसिक असतुलन तथा विपर्यस्त चैतन्य का परिणाम है जो कई सदियो से हमारे विचार मे व्याप्त है। जब तक विकृत दृष्टि रखने वाले व्यक्ति सत्तारूढ है, तब तक मनुष्य जाति का भविष्य अधकारपूर्ण बना रहेगा। आधुनिक मनुष्य की मुख्य आवश्यकता उसकी पूर्णता है जो अपने अन्दर उस साम्यावस्था व सतुलन की प्राप्ति है, जो विश्व के साथ उसके सबधो मे प्रतिबिम्बित होगी। श्री अरविन्द के जीवन तथा शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार के एकीकृत पूर्ण मनुष्य के राज्य मे प्रवेश करना ही है।

ईश्वर का शब्द गतिशील व शाश्वत है। दिव्य आत्मा समग्र मानवता की

आत्मा को समाच्छन्न करके अन्दर निवास करती है। इतिहास मनुष्य की शिक्षा की सीढियो का लेखा है। प्रत्येक युग मे ऋषि व महात्मा उस वर्धमान शब्द को अभिव्यक्त करते है जो मनुष्य की जीवित आत्मा को सौपा गया है, वे मनुष्यों के सामने उन तत्वो व सत्यो की व्याख्या करते है, जिन्हे कि वे एक अस्पष्ट आकाक्षा अथवा असतोष के रूप मे ही जानते है।

बर्ट्रेण्ड रसेल के अतिरिक्त दिलीपकुमार राय के सब गुरुजन उस ईश्वर की सत्ता मे, जो समस्त अभिव्यक्ति पदार्थो की मूलभूत अनभिव्यक्त सत्ता है, तथा मानवीय प्राणियो की दिव्य प्रकृति को जानने, प्रेम करने और उसके साथ आत्म-सात होने की इच्छा व सामर्थ्य मे विश्वास करते हैं। मानवीय जीवन का मुख्य व अन्तिम लक्ष्य भी ईश्वर से यह सम्पर्क व तादात्म्य सम्पादन करना ही है। यह पाँचो गुरुजन इस बात को मानते है कि मानवता अभी विद्यमान नही है, वह प्रयत्न कर रही है और धीरे-धीरे विकसित हो रही है। मानवता बनने की हालत मे है और इसका बनाना आवश्यकता है। इसके लिए एक नए अनुशासन, एक नए नियम व धर्म के पालन की आवश्यकता है, जिसका मार्ग श्री अरविन्द के लेखो मे गभीरता व विस्तारपूर्वक प्रदर्शित है।

हम इस अमूल्य पुस्तक को जो मनुष्य जाति के कल्याण की नैतिक भावन से प्रेरित है, इतनी सरल तथा सुन्दर भाषा मे लिखकर प्रकाशित करने के लिए दिलीपकुमार राय के अत्यन्त कृतज्ञ है।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

भूमिका

अपने आनन्द व उत्साह की अनुभूतियो मे दूसरे लोग भी साझीदार हो सकें यह इच्छा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इस पुस्तक के प्रकाशन मे भी यही इच्छा मुख्य रूप से प्रेरक है। इस पुस्तक मे प्रकाशित वार्त्तालापो से जो आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है, उसका अणमात्र भी यदि पाठक प्राप्त कर सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

यद्यपि पहले मैंने उन्हे बगाल मे प्रकाशित किया था, परन्तु काफी समय तक मैं उसका अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने का निर्णय न कर सका। थोडा ही समय बीता था जबकि मुझे उसकी उपयोगिता का कुछ आभास हुआ, जिसके लिए मै अपने उन मित्रो व अपरिचित सज्जनो का आभारी हूँ, जिन्होने मुझे इसके लिए प्रोत्साहन दिया। उनमे से मैं केवल दो का हवाला यहाँ देता हूँ, क्योकि कदाचित् यह सर्वसाधारण को रुचिकर प्रतीत हो।

१६२७ मे जब मैं भारतीय सगीत के राग-विकास सम्बन्धी व्याख्यानो के सिलसिले मे यूरोप भ्रमण कर रहा था, तब श्री हैवलाक एलिस ने श्री रवीन्द्रनाथ के साथ हुए मेरे 'पुरुष के विरुद्ध नारी का स्वधर्म' वार्त्तालाप के बारे मे इस प्रकार लिखा

"मुझे यह देखकर बडी प्रसन्नता हुई है कि टैगोर ने मेरी पुस्तक 'पुरुष और नारी' मे प्रतिपादित प्राय प्रत्येक पहलू पर अत्यन्त स्पष्ट रूप मे अपने विचार प्रकट किये है। सक्षेप मे, मैं अपने विचारो की इस प्रकार मुझसे कही अधिक विद्वत्ता के साथ तथा इससे और अधिक सक्षिप्त व सुन्दर भाषा मे वर्णन की आशा नही कर सकता।"

इन्ही वार्त्तालापो के सम्बन्ध मे लिखते हुए उन्होने अपने एक और पत्र मे लिखा कि 'महापुरुषो का जो चित्राकन उक्त पुस्तक मे किया गया है, उसमे मुझे वहुत अधिक रस मिला" और इस पाँच महापुरुषो के चुनाव के बारे मे मेरी प्रशसा करते हुए उन्होने लिखा कि मैंने वास्तव मे "पाँच प्रतिनिधि व्यक्तियो का

चुनाव किया है।"

रवीन्द्रनाथ ने भी एक बगला मासिक पत्रिका मे लिखा था—"दिलीपकुमार मे एक मुख्य गुण है, वह सुनना चाहता है, और यही कारण है कि वह श्रवण योग्य वस्तुओ को वक्ता के अन्तर से बाहर खीच लाता है। श्रवणेच्छा केवल एक निष्क्रिय गुण नही है, अपितु यह एक सक्रिय गुण है, इससे वक्ता की वक्तृत्व शक्ति प्रदीप्त व जागृत होती है। और चूँकि हम अपने मनोभावो को बाह्याभिव्यक्ति द्वारा ही यथार्थ रूप मे जान सकते है, दिलीपकुमार राय ने मुझे अनेक बार अपने विचारो को जानने का आनन्द प्रदान किया है।"

इसी प्रकार के प्रशसा वाक्यो ने, जिनके कि वास्तव मे मैं योग्य नही हूँ, मुझे इन वार्तालापो को पुस्तकाकार रूप मे लिपिबद्ध कर प्रकाशित करने के लिए साहस प्रदान किया।

परन्तु इन वार्तालापो के प्रकाशन मे सबसे मुख्य कारण उस आनन्दानुभूति की आवश्यकता की भावना है, जो सच्चे महापुरुषो के ससर्ग से ही प्राप्त हो सकती है। आल्डस हक्सले ने विलक्षण बुद्धिशाली होनहार बालक के बारे मे एक कहानी मे लिखा है

"शायद प्रतिभाशाली मनुष्य ही सच्चा मनुष्य है, मनुष्य जाति के समस्त इतिहास मे कुछ सहस्र मनुष्य ही सच्चे मनुष्य हैं, और शेष हम सब। हम क्या हैं, शिक्षा पाने योग्य पशु! सच्चे मनुष्यो की सहायता के बिना हमे कुछ भी उपलब्ध नही हो सकता। वे सब उच्च विचार, जिनसे हम परिचित है, हमारे जैसे क्षुद्र मनो मे कभी उदित नही हो सकते थे। बीज बोकर उनमे उन्हे पैदा किया जा सकता है, परन्तु हमारे मनो मे स्वाभाविक रूप से उनके पैदा करने की शक्ति कदापि नही है।"

इसलिए मैं उन महापुरुषो को धन्यवाद देने का प्रयत्न नही करूँगा, जिन्होने प्रत्येक युग मे आदर्शो का निर्माण किया है, और स्वय मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए प्रेरणा प्रदान की है, साथ ही जिन महापुरुषो का ऋण कभी अदा नही किया जा सकता उनका चिरऋणी रहना ही उत्साहप्रद है।

तथापि मुझे अनेक दयालु मित्रो को, जिन्होने मुझे अपनी उदार सहायता व उत्साह प्रदान किया है, धन्यवाद देना आवश्यक है, जिनमे से कुछ नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है

मेरे एक प्रिय अग्रेज़ मित्र एलेन कोहेन, जिन्होने मेरी पुस्तक की टाइप लिपि का सशोधन किया है, तथा विशेप रूप से पाश्चात्य पाठको के लिए कुछ मूल्यवान् निर्देश दिये है।

श्रीमती फरीदा हसरिथदास, एक स्विस महिला, जिन्होने मुझे उसी प्रकार सहायता प्रदान की है।

अपने पुराने मित्र कृष्ण प्रेम का आभारी हूँ, जिन्होने श्री अरविंद के साथ मेरे वार्तालापो का सशोधन किया है।

इसके अतिरिक्त मैं बर्टेण्ड रसेल, रवीन्द्रनाथ और आल्ड्स हक्सले तथा कुछ अन्य लेखको की पुस्तको मे से कुछ फुटकर प्रकाशित करने की आज्ञा प्रदान करने के लिए लौंगमैन ग्रीन, जार्ज एलन अनविन, मैकमिलन, चैटो विन्डस आदि प्रकाशको को भी धन्यवाद देता हूँ। साथ ही विश्वभारती का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होने रवीन्द्रनाथ से मेरे वार्तालाप की बँगला कापी का तथा कविताओ का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

मै अपने मित्र जी० वेकटाचलम् का भी ऋणी हूँ, जिन्होने पुस्तक का नाम सुझाया है।

मुझे इस बात की हार्दिक प्रसन्नता है कि मेरी अंग्रेजी पुस्तक अब हिन्दी पाठको को भी सुलभ हो सकेगी जिसका श्रेय गुरुकुल विश्वविद्यालय के भूतपूर्व दर्शनशास्त्र के अध्यापक श्री धनराज विद्यालकार को है। दूसरी भाषा मे अनुवाद कर मूल के भावो को सुरक्षित रखना आसान काम नही है। पर जहाँ तक मै समझता हूँ श्री धनराजजी ने इस काम को बखूबी किया है।

कृष्ण मन्दिर पूना
१९६७

—दिलीपकुमार राय

क्रम

मिथ्या प्रतिमाओ का खण्डन कौन करेगा ? उनके रूढ सम्प्रदायवादी उपासको की आँखे कौन खोलेगा ? कौन उन्हे समझावेगा कि किसी भी धार्मिक या ऐहिक इष्ट देवता को, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यो न हो, यह अधिकार प्राप्त नही है कि वह अपने बल से अन्य मनुष्यो की आत्मा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकें या उन्हे अवज्ञा अथवा घृणा की दृष्टि से देखे ?

—रोम्याँ रोलां

आवरण मुक्त आत्मा के लिए प्राच्य व पाश्चात्य कोई भेद नही है। यह केवल उसके बाह्य आवरण मात्र है। समस्त विश्व ही उसका निवास-स्थान है, और हममे से प्रत्येक मे ही जब आत्मा का निवास है, तब हम सभी उसके समान अधिकारी है।

हम उस भावी प्रतिज्ञात भूमि को देखने के लिए जीवित न रह सकेगे। लेकिन क्या यह पर्याप्त नही है कि हम यह जानते है कि वह प्रतिज्ञात भूमि कहाँ है और किस मार्ग द्वारा वहाँ तक पहुँचा जा सकता है।

—रोम्याँ रोलाँ

१

रोम्याँ रोलाँ

रोम्याँ रोलाँ की तरफ मैं सबसे पहले उनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'जाँ क्रिस्तोफ' एव सगीत सबधी उन आलोचनाओ व विचारो द्वारा, जोकि उसके अन्दर गभीर रूप से ओतप्रोत हैं, आकृष्ट हुआ था। मैं उनसे मिलकर भारतीय सगीत के बारे मे जो राग सगीत के रूप मे ही विशेष रूप से विकसित हुआ है, उनके विचार जानने के लिए उत्सुक था। इसलिए मैंने पाश्चात्य सगीत का अध्ययन करने वाले 'एक भारतीय गायक' के रूप मे अपना परिचय देते हुए एक पत्र उन्हे कैम्ब्रिज से लिखा। उन्होने मेरे पत्र का उत्तर देते हुए मुझे शियोनक नामक स्विटजरलैण्ड के एक छोटे ग्राम मे, जहाँ पर वह उस समय ठहरे हुए थे, मिलने के लिए हृदय से आमत्रित किया। यह घटना सन् १६२० की ग्रीष्म ऋतु की है। मैं शीघ्र ही पेरिस व लोज़ान होता हुआ जुलाई मास मे उनके सुन्दर ग्राम्य होटल मे जा पहुँचा।

उनके प्रथम दर्शन से मुझ पर जो प्रभाव पडा, वह यद्यपि मेरी आशाओ के सर्वथा अनुरूप नही था, तथापि मैं एकदम अवर्णनीय रूप से मुग्ध हो गया। उनकी मुखाकृति नम्र थी और उसमे मुझे कोई विशेष मार्के की बात दिखाई न दी। उनका गेहुँआ रग, तरल हरित आँखे, कुछ झुका हुआ व इकहरा बदन, आश्चर्यजनक रूप से पाण्डुर मुखाकृति, सुनने मे मृदु परन्तु अगम्भीर स्वर, इन सब लक्षणो से प्रारम्भ मे मुझे उनसे कुछ निराशा-सी हुई। परन्तु इन सब बातो के होते हुए भी उनके अन्दर कोई ऐसी अद्भुत वस्तु थी जो अनायास ही अपनी तरफ आकृष्ट करती थी, एक ऐसा जादू था जो मत्र-मुग्ध बना देता था तथा एक ऐसी सम्मोहिनी शक्ति थी जो अज्ञात रूप से इस तरह छा जाती और आशा से कही अधिक प्रभावित करती थी। क्यो न हो, उनके अन्दर तपस्वियो का-सा तेज

व उनके चारो ओर रहस्यवादियो का-सा आध्यात्मिक प्रभाव ! उनके बारे मे जितनी ही अधिक जानकारी प्राप्त होती जाती थी, निश्चित रूप से उनका प्रभाव भी उतना ही अदम्य प्रतीत होता था।

भारतीय सगीत के बारे मे हमारी बहुधा बातचीत हुई। मुझसे 'केदारा' जैसे कुछ भारतीय पक्के राग को सुनकर (जो ग्रीक ओलियन राग से मिलता-जुलता है) वह बहुत प्रभावित हुए, और ग्रहणशील यूरोपवासियो द्वारा भारतीय सगीत के लिए अत्यन्त उज्ज्वल भविष्य की आशा प्रकट की। उन्होने कहा कि यूरोप इस समय अपनी सगीत अभिव्यजना के लिए एक नई दिशा की भरसक खोज कर रहा है, और उनकी राय मे भारतीय सगीत उसे आने वाले समय मे नई प्रेरणा दे सकता है। इसलिए उन्होने मुझे भारतीय सगीत को लिपिबद्ध कर यूरोप मे प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया।

लेकिन उनके आशावाद का मुझ पर विशेष प्रभाव न हुआ क्योकि मुझे विश्वास था कि यूरोपवासियो के लिए, चाहे कितने ही ग्रहणशील क्यो न हो, हमारे सगीत की प्रच्छन्न गहराई का मापना सुगम कार्य न होगा, क्योकि उनके अन्दर न तो हमारे जैसी राग-भावना है और न उनके कान ही हमारे राग के सगीतात्मक विकास-सम्बन्धी सूक्ष्म भेदो को ग्रहण करने मे समर्थ है। इसलिए मैंने उनके सम्मुख यह तर्क प्रस्तुत किया कि हमारा सगीत पाश्चात्य श्रोताओ को, जिनके कान शुरू से आखिर तक हारमनी-स्वर सगीत, ध्वनिसमन्वय और आर्केस्ट्रेशन—सामूहिक वादन मे दीक्षित है, कभी भी तृप्ति प्रदान नही कर सकता। हमारे सगीत का आनन्द-क्षेत्र पाश्चात्य सगीत-क्षेत्र से सर्वथा भिन्न है, और उसके अन्दर यूरोप का प्रवेश विना विशेष दीक्षा लिये असम्भव है।

लेकिन रोलाँ मुझसे सहमत न हुए। बाद को ३१ जुलाई १६२२ के एक पत्र मे उन्होने मुझे लिखा-"मै तुम्हारे इस विचार से सहमत नही हूँ कि जब तक कोई व्यक्ति किसी पेशेवर अथवा कलाविद् की तरह पहले इस विषय का गभीर अध्ययन न कर ले तब तक उसके लिए भारतीय सगीत या अन्य किसी सगीत का आनन्द ले सकना असम्भव है। मेरा अपना विश्वास है कि किसी भी कला की महत्ता इसी बात मे निहित है कि वह उस कला से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति को भी, यद्यपि निश्चय ही पूर्ण रूप से अथवा कलाकार की अनुभूति के साथ नही, प्रभावित कर सके। परन्तु कला की किसी भी उत्कृष्ट कृति मे यह गुण आवश्यक है कि वह जनसाधारण की आध्यात्मिक भूख को सतुष्ट करने मे किसी हद तक समर्थ हो। क्या स्वय ईसा ने यह नही कहा था, "सब लोग इससे अपनी क्षुधा व पिपासा शात करें, क्योकि यह मेरा अपना रक्त है।" निश्चय ही ईसा कुछ मुट्ठी-भर नवदीक्षित ईसाइयो को ही सच्चे ईसाई धर्म का पाठ पढाने के लिए बलि नही हुए थे। तुम एक महान् कलाकार से केवल थोड़े-से अतरग दीक्षितो मात्र

की ही सतुष्टि के लिए इतना कष्ट सहन करने, स्वप्न देखने तथा रचना करने की आशा क्यो करते हो ? सच्चे सगीत की स्वर्गीय ज्योति अन्त स्फुरित शब्द (दिव्य वाणी) के समान उसी स्थान पर जाकर पडती है जहाँ प्रभु की इच्छा होती है। अधिकारी श्रोतागण का चुनाव करना नही, प्रत्युत गाते जाना ही हमारा धर्म है।"

उन्होने मुझे लिखा "जो सुन्दर गीत तुमने मुझे सुनाए है उनसे मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हो गई है कि तुम्हारे व हमारे सगीत के बीच की खाई को पाटना, जितना असम्भव तुम सोचते हो वह उससे कही अधिक सरल है। मैं अनुभव करता हूँ कि टैगोर, कुमारस्वामी व तुम जैसे कुछ सज्जनो ने तुम्हारे व हमारे सगीत को पृथक् करने वाली खाई को कुछ बढाकर बताया है। तुम्हारी सगीत-कला को हृदयगम करने मे एक पाश्चात्य व्यक्ति को जो कठिनाई होती है, उसे तुम लोग बहुत-कुछ बढा-चढाकर देखते हो। शायद तुमने अग्रेज व अमेरिकन लोगो की, जो सगीतानुराग मे सबसे पिछडी हुई जातियाँ है, सगीत-सम्बन्धी उदासीनता को देखकर ही अपनी यह धारणा बना ली है। इन दोनो जातियो का सगीत तो मृतप्राय है। परन्तु जब तुम फ्रासीसी, रूसी व जर्मन लोगो के सम्पर्क मे आओगे, जिनमे सगीतानुराग की वृत्ति खूब विकसित है, तब तुम्हे यह ज्ञात हो सकेगा कि वे लोग तुम्हारे सगीत-सौंदर्य को कितनी सुगमता से हृदयगम कर सकते है।

'निस्सदेह यह ठीक है कि तुम्हारे व हमारे सगीत की भाषा मे भेद होने के कारण हम तुम्हारे सगीत की कुछ बहुमूल्य बातो को भी ग्रहण न कर सकेंगे जो तुम्हारे लिए अत्यन्त मूल्यवान है। ठीक वैसे ही जैसे कि कोई फ्रासीसी चाहे वह शेक्सपीयर का कितना ही उत्साही भक्त व प्रशसक क्यो न हो, उसमे कुछ ऐसी कीमती बाते नही देख पाता जो कि एक अग्रेज की दृष्टि मे अत्यन्त मूल्यवान है। लेकिन तुम्हारे सगीत का गभीर सार्वभौम आवेदन किसी भी सगीतानुरागी आत्मा को झकृत किए बिना नही रह सकता। आओ, हम मिलकर भारत व यूरोप को, जो दोनो एक ही महान् आर्य-परिवार के सदस्य हैं, पर जिन्हे स्थान की दूरी ने क्रूरतापूर्वक एक-दूसरे से पृथक् कर दिया है, फिर आपस मे मिलाने का प्रयत्न करें। क्या हमारे लिए यह एक गौरवपूर्ण सफलता न होगी ?"

मैंने उन्हे भरसक यह समझाने की चेष्टा की कि किस तरह भारतीय सगीत अब तक राग पर ही जीवित रहा है और राग-सगीत के रूप मे ही प्रस्फुटित हुआ है। हमारे लिए गाते अथवा बजाते समय रचना करने का कितना स्वर्णिम अवसर है। एक भारतीय गायक गाते हुए पद-पद पर नई रचना करता है। एक तान मे, आलाप मे व प्रत्येक ताल मे राग को अक्षुण्ण रखकर वह रस की सृष्टि करता है और इस रचना मे ही उसकी प्रतिभा की महत्ता है। इसके विपरीत

यूरोपीय मगीत मे स्वर-सगति का विकास राग-सगीत की अंगहानि करके ही मभव हो सका है। इसके अतिरिक्त कुछ और सभव भी नही था, क्योकि यूरोपीय सगीत अपनी वहुध्वनीय पृष्ठभूमि मे एक मिश्रित सम्पूर्ण है।

रोलां ने वाद मे मुझे लिखा

"जिस सगीत-कला की वुनियाद मुख्यत स्वर-सगति पर अवलबित है उसमे राग-सगीत की कुछ हानि स्वभावत अनिवार्य है, लेकिन जो सगीत-कला केवल राग पर अवलवित है, उसमे भी कुछ अन्य सौदर्यो की कमी क्या नही रह जाती ? अंतिम विश्लेपण करने पर हर कला को अपने विकास के लिए वास्तविकता के विभिन्न तत्त्वो मे से एक तत्त्व को चुनना पडता है, परिणामत इस प्रक्रिया मे कुछ समझौता और कुछ त्याग होता ही है। किसी खेल से उस वस्तु की अपेक्षा करना, जो उसके नियमो के अन्तर्गत नही है, अनुचित है।"

उसी पत्र मे उन्होने मुझे भारतीय सगीत को यूरोप मे लिपिवद्ध करने के वारे मे लिखा था

"मैं अनुभव करता हूँ कि यह उपयुक्त होगा कि तुम अपने सगीत के बारे मे हमे जानकारी दोगे और उसकी आत्मा से अवगत करोगे। अपने को केवल पारिभापिक क्षेत्र तक सीमित न रखकर अपने अतर्निविष्ट मनोभावो को उनकी गहराई तक हमारे सम्मुख रखोगे व किस प्रकार तुम उन मनोभावो को क्रियात्मक रुप मे लाते हो, यह भी समझाने का यत्न करोगे। अन्यथा हम एक प्रकार के अस्पष्ट गीतिवाद मे फँस जाएंगे। मैं प्राय यह अनुभव करता हूँ कि वहुत से भारतीय लेखक, जव कला व शिल्प के वारे मे अस्पष्ट स्थापनाओ व नियमो का प्रतिपादन करने लगते है, प्राय यही गलती करते हैं।"

सन् १६२१ के अन्त मे मैं वर्लिन गया, और वहाँ स्वर-साधन व वायलिन वजाने की शिक्षा लगभग एक साल तक ली। अप्रैल के मध्य मे मुझे लोज़ान की 'अन्तर्राष्ट्रीय नारी सघ की शांति व स्वतन्त्रता समिति' की ओर से भारतीय मगीत के सम्वन्ध मे व्याख्यान देने का निमत्रण मिला। वहाँ ही पहली बार मेरा वर्ट्रेंड रसल से साक्षात्कार हुआ। रोलॉ भी सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए आए थे। उम समय मुझे उनके साथ अपने सगीत के वारे मे विस्तृत रुप से वार्तालाप करने का अवमर प्राप्त हुआ। उनकी वहिन मेरे भाषण का फ्रेंच मे अनुवाद कर चुकी थी। वहाँ से मैं वीयना और वेनिस होता हुआ प्राग की सगीतशाला मे व्याख्यान देने के लिए गया। इसके वाद मैं ऐसे ही एक निमत्रण के सिलसिले मे वुडापेन्ट पहुंचा। अन्त मे साढे तीन साल यूरोप मे रहने के वाद, स्वदेश लौटने से कुछ ही पहले मैं रोम्यां रोलां से उनके स्विस प्रदेश के 'विलेनेव' शहर मे उनके निवामस्थान पर अगस्त मास मे मिला। १६ या १७ अगस्त को मुझे उनसे लम्वी वातचीत करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसे मैंने वही पर उसी समय

लिपिबद्ध कर लिया। उसको बाद मे रोम्याँ रोलाँ ने सशोधित कर दिया था। सदा की भाँति हमारी बातचीत का प्रारम्भ सगीत से ही हुआ। मैंने बगाल मे प्रचलित 'भारत माता' एक प्रसिद्ध गान से आरम्भ किया। नीचे उसका हिन्दी अनुवाद देता हूँ[1]

जिस दिन नील जलधि से तू मा भरतभूमि उत्पन्न हुई,
उस दिन जग मे वर कलरव के सहित भक्ति और खुशी हुई।
तेरी धुन से हुआ सवेरा जग की टली अँधेरी रात्रि,
सबने स्तवन किया तव जननी, जय जग तारिणि जय जग धात्रि ॥
होकर धन्य धरा ने गाया चरण कमल तव चूमि
"जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे जय मा भारत भूमि।"
सद्य स्नात वस्त्र गीला है, जलधि वारिकण भीगे बाल
वदन दीप्त है विमल हँसी से, मा तेरा है भाल विशाल।
नाच रहे है नभ मे घिर कर तारे और दिवाकर चद्र।
तेरे पग पर मत्रमुग्ध सा अब्धि गरजता घन-सा मद्र ॥
होकर धन्य धरा ने गाया चरण कमल तव चूमि,
"जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे जय मा भारत भूमि ॥"
जानुलग्न है सागर लहरी, मेरे सिर हिम मुकुट बहार,
नदियो का मानो तेरे उर भूल रहा है मुक्ताहार।
कभी तप्त मरु ऊसर की तू भीषण छवि दिखलाती है,
कभी विश्व के श्याम-शस्य मे हँसती देखी जाती है ॥
होकर धन्य धरा ने गाया चरण कमल तव चूमि,
"जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे, जय मा भारत भूमि ॥"
शून्य गगन मे प्रबल वायु भी, निशिदिन चलती रहती है,
तेरे पगरस चूस कोकिला, हरदम कलरव करती है।
नभ मे बज्र चलाकर बादल, प्रलय वृष्टि को करता है,
कुसुम कुज तेरे चरणो पर गध सृष्टि को करता है ॥
होकर धन्य धरा ने गाया चरण कमल तव चूमि,
"जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे, जय मा भारत भूमि ॥
तेरा हृदय शाति सागर है कठ अभय का दाता है,
तेरे करो अन्न पाता जग, मुक्ति पगो से पाता है।
तेरे तनय सहे कितने दुख या कितने आनद करे,
जग पालिनि जग तारिणि, जग की जननी, भारत भूमि अरे ॥

---

१ मूल भजन मेरे स्वर्गीय पिता द्विजेन्द्रलाल राय की रचना है।

होकर धन्य धरा ने गाया, चरण कमल तव चूमि,
"जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे, जय मा भारत भूमि ।।"[1]

मैंने उन्हे बताया कि इस गीत का राग हमारे सगीत मे राग 'यमन' नाम से विख्यात है, जो प्राचीन ग्रीक लोगो के 'लीटियन' राग से मिलता-जुलता है। मैने उन्हें यह दर्शाया कि किस भाँति राग की सीमा मे रहते हुए भी गायक स्वच्छद रूप से नवीन रचना कर सकता है। रोलाँ को यह गीत बहुत पसन्द आया और उन्होंने मुझे सगीत की इस उच्च विरासत के लिए बधाई दी।

इसके बाद उन्होने मुझे अपनी 'लेमान' झील के तट पर अवस्थित कुटीर का भ्रमण कराया। उनकी अलमारी मे मुझे बहुत-सी बौद्ध धर्म की पुस्तके व हिंदू दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ तथा गीता व उपनिषद् आदि के फ्रेंच अनुवाद दिखाई पडे।

मैंने कहा, "मुझे यह देखकर बडी प्रसन्नता होती है कि आप हमारे दार्शनिक विचारो, विशेषत हिंदू शास्त्रो के अध्ययन के लिए इतना परिश्रम कर रहे है। मैंने प्राय देखा है कि यद्यपि यूरोप मे ऐसे बहुत से लोग है जो पूर्वीय बातो मे कुछ रुचि रखते है, परन्तु उनकी जानकारी बौद्ध धर्म की कुछ जनश्रुति तक ही सीमित है। किंतु विरले ही ऐसे व्यक्ति है, जो हिंदू धर्म जैसी किसी जीवित वस्तु को जानते हैं। इसका कारण शायद यह है कि चूंकि बौद्ध धर्म प्रधानत एक प्रचारक धर्म रहा है जबकि, जैसा कि हमारे विवेकानन्द ने भी एक बार दु ख प्रकट करते हुए कहा था, हिंदू धर्म की प्रवृत्ति चिरकाल से ही अन्य धर्मो की अपेक्षा कही अधिक अतर्मुखी रही है।

रोलाँ ने मुझे बताया कि हिन्दू-दर्शनशास्त्र से उन्हे अपने जीवन मे बराबर प्रेरणा मिलती रही है। तत्पश्चात् कुछ देर तक हम हिंदू कला व शिल्प के बारे मे बातें करते रहे, और फिर साधारणतया कलामात्र पर ही चर्चा होने लगी। मैंने उनसे प्रश्न किया कि कलाकारो की स्वार्थपरता तथा कला की तथाकथित सपूर्णता के बारे मे उनकी क्या धारणा है ? उत्तर मे उन्होने कहा, "जो वस्तु कला के क्षेत्र से बाहर है, उसकी उससे आशा करना सरासर भूल है। और जहाँ तक कलाकारो का सवाल है, मेरे विचार से वह अहकार का दुश्मन है, उसपर यह बात लागू नही होती, क्योकि क्या उसे अपने कलानुराग के कारण, कितनी ही बार वैयक्तिक कष्टो का सामना नही करना पडता ?"

"लेकिन क्या दु ख-जर्जरित मानव समाज के महत्त्वपूर्ण कष्टो के प्रति कलाकार की कठोर उदासीनता निर्दयतापूर्ण नही है ? कभी-कभी मैं ऐसा सोचता

---

१ द्विजेन्द्रलाल राय के 'सिहल विजय' से उद्धृत एव बाबू रामचन्द्र वर्मा द्वारा अनूदित।

हू कि जीवन की प्रमुख समस्याओ के प्रति कलाकार की उपेक्षा उसकी हृदय-हीनता को सूचित करती है।"

"लेकिन क्यो ? क्या कलाकार हमारे कष्टो को दूर करने मे सहायक नही होते ? तुम जानते ही हो कि एक समय था जबकि मेरी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी, और जवानी मे थियेटर तथा सगीत-गोष्ठियो मे सबसे निम्न श्रेणी मे ही जा सकता था। वहाँ मैं अपनी आँखो से बार-बार यह देखता था कि किस तरह समस्त दिन के परिश्रम से थके हुए, दीन-दुखी लोगो के पीले चेहरो पर सजीव सगीत व कलापूर्ण अभिनय जीवन का सचार कर देता है। बीथोवन की एक ही तान का मूल्य अनेक सामाजिक सुधारो से क्या कम है ? और फिर जितना अधिक कोई समाज पददलित व पीडित होता है, उसके लिए कला की आध्यात्मिक आवश्यकता भी उतनी ही अधिक बढ जाती है, क्योकि बाह्य जगत् मे मनुष्य के दु खो के बढने के साथ-साथ उसके लिए अतर्जगत् से उपलब्ध होने वाली सात्वना भी उसी अनुपात से बढ जाती है। सिर्फ विरोध प्रदर्शन के लिए यह कोरी कल्पना नही है, अपितु मनुष्य समाज का अनुभव इस तथ्य की पुष्टि करता है। उदाहरण के लिए जार के समय के रूस की ओर देखो। उस समय राजतन्त्र के अमानुषिक अत्याचार से जनता जितनी ही अधिक त्रस्त व पीडित थी, उतने ही अधिक वेग से वहाँ कला और शिल्प का दमकता स्रोत प्रस्फुटित हुआ। यह इस बात का एक और ज्वलत उदाहरण है कि आपत्तियाँ आत्मा को वश मे नही कर सकती। और जितना ही अधिक किसी जनता की आत्मा को कुचलने की चेष्टा की जाती है, उतना ही अधिक वह जनता अपने आन्तरिक साधनो का प्रयोग करने लगती है जिसका शिल्प-कला एक बाह्य प्रकाश मात्र है।"

इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति जगत् का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर ले भी कैसे सकता है ? तुम्हारी समाज-सेवा की भावना चाहे कितनी ही प्रबल क्यो न हो, तुम नाविक, व्यापारी, बढई, राज, डॉक्टर आदि सबका कार्य-भार अपने ऊपर लेकर समाज की सेवा कैसे कर सकते हो ? एक शिल्पी अपने शिल्प द्वारा ही समाज की उत्कृष्टतम सेवा कर सकता है। यह केवल एक आकस्मिक सयोग नही है कि मनुष्य जाति ने अपने चरम विकास के लिए श्रम-विभाजन की सृष्टि की है। आज यदि वीथोवन मेरे सामने मनुष्य जाति के दुखो की समस्या से अभिभूत होकर उनके दुखो मे सक्रिय हाथ बँटाने के बारे मे मेरी सलाह पूछे, तो मैं उन्हे यही परामर्श दूँगा कि, "श्रीमन्, मनुष्य जीवन अत्यन्त क्षणभगुर है। इसलिए तुम शीघ्रता करो और जो कुछ इस अल्प समय मे दे सकते हो, दे जाओ, क्योकि तुम्हारा आकस्मिक बुलावा आने पर ससार की जो महान् क्षति होगी, उसे पूरा करने की सामर्थ्य और किसी मे नही है। जो दायित्व तुम्हे सौपा गया है, वह

दूसरा कोई नही उठा सकता।" हम सबके जीवन के कार्य-क्षेत्रो के बारे मे भी यही सिद्धात लागू होता है।

मैंने पूछा, "क्या आपके विचार मे समाज का पददलित वर्ग इस बारे मे कुछ कहने का अधिकार नही रखता ? वे लोग समाज की उस विषम व्यवस्था के लिए अपना हार्दिक सहयोग कैसे दे सकते हैं, जिसके द्वारा उन्हे सारे दिन कठिन परिश्रम की चक्की मे पिसकर कुछ थोडे से कलाकारो के लिए सुख-व्यवस्था की सामग्री जुटानी पडती है ? निश्चय ही दलित-वर्ग को सुख-सुविधाओ से वचित करके ही एक श्रेष्ठ कलाकार अपनी भोग-सामग्री व सुख-सुविधाओ का अर्जन करता है। यदि वे हमारे लिए कठोर श्रम करना छोड दे तो क्या हमारा आध्यात्मिक जीवन व उसके समस्त आनद विलुप्त न हो जायेगे ? इन निरीह, पीडित व शोषित श्रमिको के अतिरिक्त और कौन है जिसने कलाकारो व विचारको की सुख-सुविधाओ का मार्ग प्रशस्त बनाया है ?"

रोलाँ ने उत्तर दिया, "यहाँ तुम एक सामान्य भूल करते हो ? एक सच्चे शिल्पी का जीवन मिथ्या अभिमान व विलास-साधनो के आडम्बर से सर्वथा मुक्त होता है। उसका मार्ग पुष्पो से आच्छादित नही होता। उदाहरणार्थ, यूरोप के महान् कलाकारो की ही तरफ दृष्टि डालो। क्या तुम सोचते हो कि उन्होने अपने जीवन मे जो ख्याति प्राप्त की है, उसके लिए उन्हे बहुत महँगा मूल्य नही चुकाना पडा ? कितने कम व्यक्तियो को अपने जीवनकाल मे ख्याति प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ! और यह ख्याति भी उन्हे उनके जीवन के अन्त समय मे अनेक यातनाएँ भोगने, अपमानित होने, उपेक्षा व एकाकीपन का शिकार होने और ससार व अपने साथ कठिन सघर्ष करने के बाद ही प्राप्त हुई है। जैसाकि मैंने बीथोवन, माइकेल, एजिलो, फ्रासुआ मिलर और टॉलस्टाय आदि की जीवनियो मे दिखाया है। टॉलस्टाय ने मुझे अपने एक पत्र मे इस बात पर विशेष बल दिया है, कि सच्ची कला की पूर्णता दु ख व कष्टो को प्रसन्नतापूर्वक व धैर्य के साथ सहन करने तथा स्वीकार करने मे ही है। इससे कलाकार के बारे मे अहकार व स्वार्थपरता के दोषारोपण का स्वय ही निराकरण हो जाता है ? [1]

मैंने कहा, "लेकिन, जब हम बहुत-से कलाकारो को अपेक्षाकृत आरामतलबी व भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते हुए देखते है।"

"केवल घटिया श्रेणी के कलाकार ही ऐसा सुखद जीवन व्यतीत करते है। कोई भी सच्चा, उच्चश्रेणी का कलाकार वर्तमान यूरोपीय समाज मे विद्यमान

---

१ यह तथा निचला वाक्य-सदर्भ रोलाँ ने किनारे पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा था। उन्होने यह फ्रेंच मे लिखा था, और उसका अनुवाद करके अपनी रिपोर्ट मे जोड देने का निर्देश किया था।

कष्टो और अपने तथा अपने पिछडे हुए समकालीनो के बीच के अतर को नही भुला सकता।"

मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "लेकिन क्या फिर भी समानता के सिद्धात पर अवलम्बित एक नई न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था के लिए जनसाधारण का आन्दोलन न्यायसगत नही है? कम-से-कम यह आपको भी मानना पडेगा कि उनका जीवन बडा कष्टमय है, और इसीलिए वे केवल कुछ थोडे-से बुद्धिवादियो की सुख-सुविधाओ के लिए अपना शोषण कब तक सहन कर सकते है? सक्षेप मे क्या पददलित एव अभावग्रस्त जनता, अपने लिए कम-से-कम आराम व अल्पतम सुख-सुविधा की भी माँग नही कर सकती? क्या वह कलाकारो की कृतियो के खिलौनो से अपने-आपको सतुष्ट करने के भुलावे मे डालने से किसी क्षण भी इनकार नही कर सकती?"

'अवश्य," रोलाँ ने उत्तर दिया, "इसका एक इससे भी प्रबल कारण है। समाज का वर्तमान सगठन निस्सदेह अपव्ययपूर्ण है, जिसमे हजारो प्रतिभाएँ प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण बिना खिले ही मुरझा जाती हैं। इसलिए प्रत्येक बुद्धिजीवी को अपने खाली समय का एक बडा भाग इन सामाजिक विषमताओ व अन्यायो को दूर करने मे लगाना चाहिए। यहाँ तक मैं तुमसे सर्वथा सहमत हूँ। लेकिन इसके लिए उसे अपना स्वाभाविक सृजन-कार्य छोड देने की क्या आवश्यकता है? श्रेष्ठ चित्रकार 'कैरियर' कहा करता था कि 'समाज का हर अन्याय उसकी सौदर्यानुभूति को ठेस पहुँचाता है। प्रत्येक सच्चा कलाकार इसी भाँति सोचेगा, क्योकि कलाकार की गभीरतम सृष्टि की प्रेरणा ही उसे प्रकट दिखाई देने वाली विभिन्नताओ मे एकता की अनुभूति मे निहित है। इसके विपरीत अत्याचार और दुर्विचार का आधार ही विषमता है, जो कलात्मक स्फूर्ति के पवित्र स्रोत की जडो को ही दूषित कर देती है।"

मैंने कहा, "इससे मुझे यीट्स की एक प्रसिद्ध कविता 'हृदय मे पुष्प' का स्मरण हो आया है जिसका भावानुवाद इस प्रकार है:

"प्रत्येक बदसूरत व टूटी-फूटी वस्तु, प्रत्येक जीर्ण-शीर्ण व जराक्रात पदार्थ, सडक के किनारे पडे हुए बालक का करुणक्रदन, चरमर करती हुई बैलगाडी का बेसुरा राग, ठडी पथरीली जमीन पर कृषक के थके-भारी कदम, यह सब दृश्य मेरे हृदय मे, गुलाब की भाँति खिली हुई तुम्हारी सुन्दर मूर्ति को म्लान कर देते है।"

"कुरूपता का दोष एक अवर्णनीय अपराध है। मैं विकृत पदार्थो को एक नया रूप देना चाहता हूँ। मुझे इस ससार को एक ऐसे सुन्दर रूप मे परिवर्तित करने की आकाक्षा है कि जिससे यह पृथ्वी, आकाश व जल एक सुन्दर स्वर्णमयी मजूषा के रूप मे प्रकट हो और मैं एक हरित उपत्यका मे बैठकर तुम्हारी उस उज्ज्वल मूर्ति का दर्शन कर सकूँ, जो मेरे अन्तस्तल मे सौदर्ययुक्त सुरभित गुलाब के

ममान विकसित हूँ।"

"ठीक है।" उन्होने अपनी सहमति प्रदर्शित करते हुए कहा, "इस प्रकार तुम्हारे सामने मुख्य प्रश्न यही उपस्थित होता है कि तुम किसी कलाकार से क्या करने की आशा रखते हो? समाज की वर्तमान व्यवस्था से उत्कृष्टतर एक व्य-व्यवस्था का जल्दी-से-जल्दी निर्माण ही सबका ध्येय होना चाहिए। इससे शायद किसीको भी मतभेद न होगा। साथ ही सबको इस बात के लिए दु ख होना चाहिए कि आज जनसाधारण की बहुसख्या, सस्कृति व शिक्षा के उन उपहारो से सर्वथा वचित है, जिनके बिना उसकी आत्मा का विकास असम्भव है। इस प्रकार रोग के बारे मे हमारा मतभेद नही है। अलबत्ता उसकी चिकित्सा के बारे मे ही कठिनाइया है। इस बारे मे मेरे अपने जीवन का सम्पूर्ण अनुभव तो मुझे यही शिक्षा देता है कि किसी कलाकार या विचारक का सबसे मुख्य व आवश्यक कर्तव्य यही है कि वह अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा व वाणी के आदेश का हर समय जागरूक रहकर पालन करे। उसे अपने अतर्दर्शन के मदिर मे हर समय दीपक प्रज्वलित रखना चाहिए, और अपनी अतरात्मा की प्रेरणा के अनुसार सृष्टि व निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। ऐसा करते हुए, कला-निर्माण से बचा हुआ अपना फालतू समय व शक्ति वह समाज-सुधार के कार्यों मे भी लगा सकता है, जैसा कि गेटे किया करता था। वह समाज की सेवा करता था, परन्तु उसी समय, जब उसकी सृजनात्मक अत स्फूर्ति प्रसुप्त रहती थी। तथापि जिस समय उसकी अतरात्मा उसे रचना-कार्य करने के लिए बाध्य करती थी, उस समय उसके लिए और कोई भी कार्य करना असम्भव हो जाता था।"

"किन्तु यह प्रश्न तो अब भी वैसा ही बना रहता है कि कलाकार किसके लिए यह नव सृजन करता है? तह तक पहुँचने पर क्या इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर यह नही है कि केवल कुछ थोडे-से विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियो के लिए ही उनकी यह सब रचना होती है?"

"आवश्यक नही। औद्योगिक प्रणाली व सगठन की उन्नति के साथ-साथ अधिकाधिक मनुष्यों को कला व चिंतन के विकास के लिए समय मिलता रहेगा। आजकल हवा का रुख किस तरफ है, यह हम सब जानते है। क्या कला की कृतियो के राष्ट्रीयकरण द्वारा, थोडे-से कलाकारो की रचनाओ को अधिकाधिक मनुष्यों के लिए सुलभ बनाना ही उसका ध्येय नही है? उदाहरण के लिए, निरन्तर बढते हुए नि शुल्क सग्रहालय, चित्र प्रदर्शनियाँ, सार्वजनिक पुस्तकालय और उद्यान तथा सस्ती सगीत-गोष्ठियो का आयोजन ये, सब इसी बात के साक्षी है। कौन इस बात को स्वीकार नही करेगा कि यह उन्नति की तरफ एक ऐसा कदम है, जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को कला की उन उन्नत रचनाओं पर विचार करने व उनका आस्वाद लेने के लिए निमन्त्रण मिलता है जिन

पर किसी समय कुछ चुने हुए राजपरिवारो व धनिको का ही एकमात्र अधिकार समझा जाता था। कुछ थोडे-से अर्ध-सस्कृत व्यक्तियो को छोड़कर कोई भी इस तथ्य से इनकार नही कर सकता कि जनसाधारण को अँधेरे मे रखकर सभ्यता की मुक्ति नही हो सकती और न ही एक अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था कभी स्थायी हो सकती है। लेकिन इसके लिए विवादग्रस्त विषय को उलझाकर निर्दोषी पर कठोर होना उचित नही है। यदि हममे से बहुत कम व्यक्ति अभी तक कला के रस का आस्वाद लेने मे समर्थ हो पाये है, तो इसमे कलाकार का कोई दोष नही है, और न यह कला की कोई अनिवार्य शर्त है। कलाकार की रचना हर युग के लिए है। कला-प्रचार के साथ-साथ कला के इस विस्तृत गुण को अधिक-से-अधिक समझना चाहिए।"

'लेकिन फिर भी क्या यह सत्य नही है," मैने कहा कि 'आज भी मनुष्यो की बहुसख्या के लिए सर्वोत्कृष्ट कला का कोई अर्थ नही है ? वह उनके लिए एक निरर्थक वस्तु है। क्योकि वास्तव मे उच्च शिक्षित व्यक्ति ही कला का पूरा-पूरा मूल्याकन कर सकते है और ऐसे व्यक्तियो की सख्या बहुत कम है।"

रोलाँ ने उत्तर दिया, "जो तुम कहते हो, वह ऊपर से देखने मे अवश्य ही सत्य है। मैं कुछ विस्तार से इसकी व्याख्या करूँगा। लेकिन मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अन्य कलाकारो के विचारो से मेरा इस बारे मे मतभेद है।"

"मेरा यह निश्चित मत है कि वास्तविक कला अर्द्ध-शिक्षित व्यक्तियो को छोडकर शेष सबके हृदय को प्रभावित करती है, अर्थात् सच्ची कला को अशिक्षित व उच्चशिक्षित दोनो तरह के व्यक्तियो को आनन्दित करना चाहिए। केवल वे अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति, जो अपने-आपको ही कला का एकमात्र अधिकारी समझते है, कला का वास्तविक मर्म नही समझ सकते। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की चक्की उनकी आत्मा की उस ताजगी को नष्ट कर देती है जो कला का रस ग्रहण करने मे समर्थ है। इस प्रकार वे अज्ञात रूप से कला द्वारा उचित प्रेरणा पाने के अयोग्य हो जाते है।

"किन्तु चाहे जैसे भी हो उत्कृष्ट कला शिक्षित व अशिक्षित दोनो के ही हृदय मे लगभग एकसमान आदर पाती है, यद्यपि वे दोनो उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। तुम मेरे इस सिद्धात से शायद सहमत न हो कि शिक्षा का अभाव मनुष्य को कला के रसास्वादन के अयोग्य नही बना देता।[1] इसके लिए

---

१ 'आज के सगीतज्ञ' मे रोम्याँ रोलाँ की निम्न टिप्पणी से तुलना करे। यह एक भ्रान्त धारणा है कि किसी कार्य व कला का ज्ञान उसके विचार व अनुशीलन के आनन्द को बढा देता है। उसका ज्ञान आनन्द को सूचित करता है परन्तु साथ ही यह उसकी उष्णता को नष्ट कर देता है क्योकि यह उसके

मैं तुम्हे अपना व्यक्तिगत उदाहरण देता हूँ, जिससे सिद्ध होता है कि हमारी शिक्षा, हमारी कलात्मक अनुभूति से बहुत कम सम्बन्ध रखती है। मैं अपनी कुमारावस्था मे जबकि मैं सगीत के ज्ञान से प्राय सर्वथा अनभिज्ञ था, जनसाधारण मे प्रचलित निम्न कोटि के सगीत को बहुत पसन्द करता था। लेकिन उससे भी मुझे लगभग उतने ही तीव्र आनन्द का अनुभव होता था, जितना कि अब उत्कृष्टतम व शास्त्रीय सगीत से होता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथाकथित शिक्षा की दीक्षा लिए बिना भी हमारा मन कला के लिए आतुर व लालायित रहता है। लेकिन अर्द्धशिक्षित व्यक्तियो के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि दुर्भाग्य से उनका कला-प्रेम कृत्रिम व उथला होता है। तुम्हारी आपत्ति है कि एक अशिक्षित व्यक्ति उत्कृष्ट व निकृष्ट कला का ठीक-ठीक निर्णय नही कर सकता। लेकिन मेरे कथन का केवल इतना ही अभिप्राय है कि इसका कारण किसी उत्कृष्ट कला को ग्रहण करने मे उसकी स्वाभाविक असमर्थता नही है, बल्कि इसके लिए वे परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी है, जिनके कारण उसे उस आत्मशिक्षण व आत्म-विकास का सुअवसर नही मिल सका है जिससे वह अपनी रुचि को परिष्कृत कर सकता।"

कुछ सोच-विचार के बाद मैंने कहा, "आपने अभी कहा है कि एक उत्कृष्ट कला की प्रतिक्रिया एक शिक्षित व अशिक्षित व्यक्ति के हृदय पर भिन्न-भिन्न होती है। क्या आप इसका कुछ और अधिक स्पष्टीकरण करेंगे ?"

"क्या तुमने नीत्शे की 'ओरिजिन ऑव ट्रेजेडी' नामक पुस्तक पढी है ?"

"नही, क्यो ?"

"क्योकि यदि तुमने वह पढी होती तो तुम मेरे कथन को सरलतापूर्वक समझ जाते। फिर भी मै विस्तार से समझाने का यत्न करूँगा। उस पुस्तक मे नीत्शे ने दो प्रकार के मनुष्यो का वर्णन किया है अपोलोनियन और डायोनीशियन। अपोलो के अनुयायी, जो विशुद्ध बुद्धिवाद पर विश्वास करते है, 'अपोलोनियन'

रहस्य को हल्का कर देता है। गानो के प्रहेलिकामय टप्पे (जो कि मैंने अपने उस यौवनकाल मे सुने थे, जबकि मेरा सगीतशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्रसुप्ता-वस्था मे था) हृदय व कल्पना के माध्यम द्वारा ही मुझे कितना अतिशय आनन्द प्राप्त करते थे। परन्तु अब हम उन मार्गो पर अनेक बार चल चुके है, और हमने उस सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था और बुद्धि को समझना सीख लिया है जो कि पहले जाहिरा मतिभ्रम के पीछे छिपे हुए थे। मूर्तियाँ पूर्ण स्पष्टता के साथ चमक रही है। उनके चेहरे की प्रत्येक रेखा से हम परिचित हो चुके है, जिसका यह परिणाम है कि अब हम उनकी उपस्थिति मे यौवनकाल का-सा वह भ्रान्तिकारी भावावेग का कम्पन अनुभव नही करते।

कहलाते है, और डायोनिशस के अनुयायी, जिनकी अनियन्त्रित भाववाद मे आस्था है, डायोनीशियन कहलाते हैं। जीवन के सम्बन्ध मे किसी हद तक दोनो की ही विचारधारा ठीक है। लेकिन जीवन की पूर्णता के लिए इन दोनो दृष्टिकोणो के समन्वय की आवश्यकता है। कला के बारे मे, बहुत से उच्च शिक्षित व्यक्तियो का 'अपोलोनियन' अर्थात् बुद्धिवादी दृष्टिकोण है। वे चीर-फाडकर, सूक्ष्म निरीक्षण व विश्लेपण करके कला का आनद लेना चाहते है। दूसरी तरफ अशिक्षित व्यक्ति भावावेश के साथ कला का उपभोग करना चाहते है, उन्हे इसके रहस्योद्घाटन मे कोई सरोकार नही होता। लेकिन कला का स्वाभाविक रसोपभोग तभी सभव है, जब उक्त दोनो मार्गो के मध्यवर्ती मार्ग का अवलबन किया जाए।"

"पर, क्या यह सभव है ?"

"ससार के सब सच्चे कलाकारो व गुणज्ञो के लिए यह समन्वय सम्भव है क्योकि जन्मजात कलाकारो के अन्दर यह समन्वय-शक्ति प्राय नैसर्गिक होती है। उदाहरण के तौर पर 'वीथोवन' की रचनाओ मे मानव-हृदय के आदिम भावो के सवेदनो के साथ मानव-मस्तिष्क के बौद्धिक आवेदनो का कैसा सुखद समन्वय हुआ है। साधारण मनुष्य की भावुकता आयु की प्रौढता के अनुसार क्षीण होती जाती है। परन्तु श्रेष्ठ कलाकारो का भावावेग आयुपर्यन्त नवीन ही रहता है। इस भावावेग की चिरनवीनता व तेजस्विता के द्वारा ही उनकी कला सर्वदा अनुप्राणित होती है। 'वैग्नर' ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पार्सीफल' की रचना ६३ वर्ष की अवस्था मे की थी, जिससे यह स्पष्ट है कि उसकी सृजन-शक्ति का स्रोत तब तक भी शुष्क न हो पाया था।"

वैग्नर के प्रसग से हटकर हमने टॉलस्टाय की चर्चा शुरू कर दी, जो वैग्नर के कटु आलोचक थे। तब मैंने रोला से कला के सम्बन्ध मे टालस्टाय की स्वार्थ-मूलक धारणा के बारे मे उनकी सम्मति पूछी।

उन्होने विचारपूर्वक उत्तर दिया, "टॉलस्टाय एक विचित्र व्यक्ति थे। वे कभी-कभी अत्यन्त भावावेश से अनुप्राणित हो, बहुत ही खेदजनक एव एक-पक्षीय निष्कर्ष निकाल लेते थे। उदाहरण के तौर पर एक बार उन्होने यहाँ तक लिखा था कि 'हमारी चेतना केवल उपयोगी पदार्थो तक ही केन्द्रित रहनी चाहिए। ग्रह व तारागण की गतिविधि के अध्ययन से हमे क्या लाभ है, जो मनुष्य जाति के दु खमोचन मे कोई उपयोगिता नही रखता ? क्या हमारे सम्मुख अपने साथियो को अनेक दु खो से मुक्त करने की अनेक समस्याएँ हल करने के लिए नहीं है ?'[1] टालस्टाय जैसा एक जन्मजात आदर्शवादी व्यक्ति भी इस प्रकार के

---

१ उसका धर्म स्थूल, पार्थिव व मानवीय है। यह पृथ्वी का कर्पण करता है। इसके पैर पृथ्वी पर जमे हुए हैं। यह मेघो से ऊपर उडने से कोई सम्बन्ध

असम्कृत व व्यवहारोपयोगी भौतिकवाद का प्रतिपादन कर सकता है, यह साफ जाहिर करता है कि यह उसकी अपने समसामयिक एकात बुद्धिवादियो के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया है। वास्तव मे बुद्धिवाद की खोखली हृदयशून्यता व निर्दयता से उनका हृदय जलता था। इसलिए टॉलस्टाय की कला व विज्ञान की कटु आलोचनाओ को काफी सयम के साथ ग्रहण करना ही उचित है, क्योकि अतत यह उनके मानव-हित से प्रेरित आदर्शवाद का जीवन के प्रति प्रतिगामी दृष्टिकोण है।"

मैंने पूछा, 'क्या तब भी यह सभव नही है कि हम अपने गुप्त स्वार्थ से प्रेरित होकर ही कला की प्रशसा करते हैं? क्योकि, यह तो मानना ही होगा कि एक कलाकार और वैज्ञानिक का जीवन बहुत से अन्य व्यावसायिको की अपेक्षा कही अधिक आरामतलबी व आनन्द का जीवन है। और अगर यह सत्य है तो बहुत सभव है कि हम अपनी गुप्त स्वार्थभावना से प्रेरित होकर ही कला की प्रशसा करते हैं।"

रोलाँ ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया, 'मैं मानता हूँ कि तुम्हारे इस प्रकार के सदेह के लिए काफी आधार हैं। लेकिन अगर इस पर सावधानी से विचार किया जाए, तो हम अपने आदर्श को इसके लिए जिम्मेदार नही ठहरा सकते। प्रथमत कोई भी सच्चा आनन्द तत्त्वत निरर्थक नही होता। दूसरे, कोई भी गभीर और सच्चा वैयक्तिक आनन्द अपनी क्रिया मे स्वकेन्द्रित नही रहता, अपने प्रभाव मे तो और भी नही। यह चारो तरफ अपने प्रकाश को विकीर्ण कर देता है। कारण, सृष्टि की रहस्यपूर्ण विचित्र रचना मे जिस वस्तु के द्वारा एक व्यक्ति को गभीर आनन्द की उपलब्धि होती है, वह वही नही रुक जाती, आनन्द का स्वभाव ही चारो तरफ फैलना है। ज़रा गहराई तक देखो तो तुम जीवन के भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले कम्पनो के अदर व्याप्त रहने वाली इस एकता के सकेत से प्रभावित हुए बिना न रह सकोगे।"

जलपान के बाद रोलाँ मुझे अपने पुस्तकालय मे ले गए। वहाँ उन्होंने अपनी बहुत सी सगृहीत वस्तुओं व स्मृति-चिह्नो मे से टालस्टाय का वह पत्र, जो उन्होंने सन् १८८७ मे उन्हें लिखा था, मुझे दिखाया। पत्र मे टॉलस्टाय ने रोलाँ को 'प्रिय बन्धु' शब्द से सम्बोधित किया था, यद्यपि रोलाँ उस समय एक अकिंचन युवक ही थे। पत्र की प्रथम कुछ थोडी-सी पक्तियो को पढकर ही मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। उन्होंने लिखा था

"प्रिय बन्धु, मुझे तुम्हारा पहला पत्र मिला। इसमे मेरे हृदय का अन्तस्तल

नही रखता। इसे वही वस्तु प्रभावित करती है, जो कि अत्यत आवश्यक है और सबसे अधिक आवश्यक वस्तु यही है कि हम यह जानें कि हमे यहाँ पर तत्काल क्या करना है।

आन्दोलित हो उठा है। अश्रुपूर्ण नेत्रो से मै इसे पढ पाया हूँ।"

हजारो मील के अतर पर रहने वाले एक अज्ञात युवक का पत्र पढकर एक विश्व-ख्याति-प्राप्त व्यक्ति के आँसू बह निकले, यह जानकर मुझे रोलाँ का वह सिद्धात स्मरण हो आया, कि 'एक कलाकार की भाव-ग्रहण-शक्ति तथा आत्मा की नवीनता कभी कुण्ठित न होनी चाहिए। समय की गति से उसका शरीर वृद्ध हो सकता है, उसकी आत्मा कभी नही।"

मैंने कहा, 'टॉलस्टाय मे सबसे आकर्षक वस्तु मैं उनकी पददलित व भूखे लोगो के प्रति सर्वदा जागृत सहज सहानुभूति ही पाता हूँ। मेरा खयाल है कि उन जैसी परिस्थितियो मे पैदा हुआ, लाखो मे कोई विरला ही व्यक्ति दु ख-पीडितो की पीडा को इस प्रकार अपनी पीडा अनुभव कर सकता है।"

"तुम ठीक कहते हो।" रोलाँ बोल उठे "क्योकि इसी मे उनकी महानता का रहस्य छिपा है, और यही उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओ की कुजी है। वे ससार की नब्ज को अपने हृदय की धड़कन के साथ अनुभव करते थे।"

'मैं सोचता हूँ," मैंने कहा कि "कुछ लोगो का जो यह विचार है कि महात्मा गाधी के रूप मे टॉलस्टाय का अवतरण हुआ है, वह बहुत-कुछ ठीक है। हमारे पुराणो और शास्त्रो मे 'मानस-पुत्र' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है, वह पुत्र जो किसी के वीर्य से उत्पन्न न होकर उसकी आत्मा या मानसिक सकल्प से पैदा हुआ हो। मैं प्राय यह अनुभव करता हूँ कि गाँधी इस रूसी पुरखा के मानस-पुत्र है।"

"इसके साथ-साथ वह एक महात्मा भी है क्यो ?" रोलाँ ने कहा, "मैं तुमसे यह प्रश्न इसलिए पूछ रहा हूँ क्योकि मेरा विचार शीघ्र ही उनकी जीवनी लिखने का है।"

मैंने उत्तर दिया, "यदि महात्मा व सन्त शब्द से आपका अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है, जिसे रक्त-मास के प्रलोभन जनसाधारण की तरह अपने वश मे न कर सके, तो मैं भी कभी-कभी ऐसा ही सोचता हूँ, क्योकि मुझे ऐसा मालूम होता है कि जहाँ हम लोग साधारणतया अन्धकार देखते है, वहाँ भी प्रकाश की किरणे उन्हे स्पष्ट दिखाई देती है।"

रोलाँ ने अस्पष्ट स्वर मे गुनगुनाया, "महात्मा गाधी वास्तव मे ही आश्चर्यमय है। वे टिमटिमाती दीपशिखाओ के बीच प्रचड अग्नि-शिखा की ज्योति है, तूफानी समुद्र के बीच प्रकाश-स्तम्भ है। उनका शातिवाद, अहिंसावाद, उनका निष्कलक चरित्र, सच्चाई—एक व्यक्ति मे इतने अधिक गुणो का सन्निवेश—एक दुर्बल-से शरीर मे इतनी महान् आत्मा का निवास कैसे सम्भव हुआ है यह देखकर ही विस्मय होता है। आज के स्वार्थमूलक, विभीषिका और तुच्छता से पूर्ण इस अन्धकारमय युग मे किसी ऐसे महान् श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति के उदय पर कैसे

विश्वास हो सकता है ? उनके चरित्र मे केवल एक वस्तु ही मैं ऐसी पाता हूँ, जिस पर मुझे कुछ आपत्ति है और वह यह है कि उनका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय न होकर अपने राष्ट्र तक ही सीमित है।"

मैंने आपत्ति की, ' मुझे आश्चर्य है कि आप उनके दृष्टिकोण को राष्ट्रीय कहकर पुकारते हैं।"

"मैं राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग सकुचित अर्थो मे नही कर रहा हूँ। न ही मुझे उनके हृदय की उदारता व विशालता पर ही किसी प्रकार का सन्देह है। बल्कि मुझे दृढ विश्वास है कि उनकी राष्ट्रीय भावना, दूसरे राष्ट्रो के प्रति घृणा की भावना से सर्वथा मुक्त है। मेरा यह यकीन है कि वे केवल इसीलिए राष्ट्रवादी है, क्योकि उन्हे हिन्दू जाति के उज्ज्वल भविष्य मे दृढ विश्वास है। और बहुत सभव है कि उनकी यह धारणा सत्य हो, क्योकि हम लोगो का हिन्दू धर्म का ज्ञान अभी बहुत ही अपूर्ण है। लेकिन जो बात मैं कहना चाहता हूँ, वह सिर्फ यही है कि यह अन्तर्राष्ट्रीयता नही है।" यह कहकर वह हँसे और बोले, "अगले वर्ष यदि मैं तुम्हारे देश मे जा सका तो कौन जानता है कि तब मैं स्वय ही इस प्रकार की राष्ट्रीयता की दीक्षा न ले लूं ?"

हमारी बातचीत का सिलसिला पुन कला की तरफ मुड गया। मैंने पूछा

"क्या कला के अन्दर स्वभावत मनुष्य को ऊपर उठाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए ? अर्थात् क्या कला का कोई-न-कोई नैतिक मूल्य होना आवश्यक है ? मेरा अपना विचार है कि यद्यपि कला कला के लिए, यह प्रचलित युक्ति कला के साथ नैतिकता के सम्बन्ध को अस्वीकार करती है, परन्तु यदि यह सिद्धान्त सत्य हो तो क्या कला का आदर्श मनुष्य की आत्मा के लिए उस क्षणिक सुख को जुटाने के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो सुख उपभोग्य वस्तु होने पर भी कोई गम्भीर या स्थायी महत्त्व नही रखता ?"

"सबसे पहले हमे इस अटल सत्य को मान लेना चाहिए कि कोई भी सच्चा आनन्द क्षणिक नही होता, क्योकि प्रत्येक आनन्द की ज्योति के साथ हमारी आत्मा का भी परिष्कार व विकास होता है, जो हमारी आत्मा के अन्दर स्थिर अत प्रेरणा की विरासत छोड जाता है। लेकिन इसी सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि विकृत कला से सम्बद्ध उच्च नैतिक आदर्श भी मनुष्य का उत्थान करने व उसे आनन्द प्रदान करने मे समर्थ नही होते। उदाहरण के लिए किसी भी उपदेशात्मक कविता अथवा साधारण किस्म के कलाहीन उपन्यास को लो। उसमे वर्णित उदात्त नैतिक जोश को पढने के बाद भी मनुष्य अपने-आपको पहले से अधिक बुद्धिमान नही अनुभव कर पाता। इसके विपरीत कला की किसी भी उत्कृष्ट रचना को देखो। वह चाहे कैसे भी नैतिक आदर्श से अछूती क्यो न हो, लेकिन वह तुम्हारे श्वास के साथ एक आनन्दप्रद वायु को अन्दर ले जाती प्रतीत

होती है और नैतिकता का उपदेश न देकर भी जीवन को उन्नत बनाने मे सहायता करती है। मेरी, एक सुशिक्षिता महिला मित्र, श्रीमती मालविडा वॉन मैसनबर्ग ने अपने सस्मरणो मे लिखा है कि अपने जीवन मे एक समय जब वह एक बडी आपत्ति मे होकर गुजर रही थी, उन्हे ओथेलो नाटक देखने का सुयोग प्राप्त हुआ जिससे उन्हे जीवन के अर्थ की कुजी मिल गई और उनका वह दु ख-सतप्त हृदय जो जीवन को भार महसूस कर रहा था, प्रफुल्लित हो उठा। लेकिन फिर भी ओथेलो को किसी नैतिकता का प्रतिपादक नाटक नही कहा जा सकता। एक सुन्दर कला हमारे अत.करण को हमारे बिना जाने ही परिष्कृत व सुन्दर बनाती रहती है।"

मैंने मुस्कराते हुए कहा, "क्षमा कीजिए, पर क्या इसमे हमारे पूर्वीय रहस्य-वाद की गध नही आती ?"

रोलाँ ने प्रसन्न होकर कहा, "अगर आती है तो क्या हर्ज है ?"

"आप पश्चिमी लोग साधारणतया रहस्यवाद के बारे मे कोई विशेष अच्छी धारणा नही रखते। क्या बहुत-सी ऐसी अवाछित चीजो को, जिन्हे आप समाप्त कर देना चाहते है आप इस नाम से नही पुकारते ?"

रोलाँ ने हँसते हुए कहा, "सामान्यत तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन कम-से-कम मैं रहस्यवाद को देवताओ का एक महान् वरदान समझता हूँ, और रहस्य-वाद की सुगध से शून्य ससार मे मैं रहना भी पसन्द न करूँगा, क्योकि मै रहस्यवाद को मनुष्य जाति के अनुभव मे आने वाली बहुत-सी चमत्कारपूर्ण अनुभूतियो का स्थायी स्रोत मानता हूँ।[1]

अगले दिन हमारी बातचीत अपनी प्रिय रूसी त्रिमूर्ति टालस्टॉय, दोस्तोवस्की और तुर्गनेव से प्रारम्भ हुई। मैंने रोलॉ से पूछा कि तुर्गनेव के बारे मे आपकी क्या सम्मति है ? उन्होने उत्तर दिया कि वे उसे एक महान् कलाकार और साथ ही एक उच्च शैलीकार मानते है।

मैने पूछा, "क्या आपकी सम्मति में वह टॉलस्टाय की अपेक्षा उच्चतर कला-कार है ?"

---

१ रोलॉ ने यहाँ हाशिये पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा, "जिसको तुम रहस्य वाद कहते हो, वह एक ऐसी भावना है, जिसे यूरोप के सब महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियो ने, विशेषत सगीतज्ञो ने अनुभव किया है। जे० एस० बाख, हैडल बीथोवन और वैग्नर तथा अन्य सब सच्ची गहराई और निष्कलक प्रकृति के व्यक्तियो के बारे मे यह बात एक समान लागू होती है। मेरे 'जाँ क्रिस्तोफ' उप-न्यास के पढने से तुम्हारे सम्मुख इस सिद्धात की पुष्टि हो जायेगी, क्योकि वह कोरी कल्पना ही नही है, अपितु यूरोप के समकालीन अनुभवो का सग्रह है।"

मे उनका नेतृत्व नही लिखा है। इसके अतिरिक्त अलीपुर जेल मे एक वर्ष की नजरबन्दी का समय जो उन्होने पूर्णतया योगाभ्यास मे व्यतीत किया था—उससे उनका आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन उन पर एक ऐकान्तिक तन्मयता के लिए जोर डाल रहा था। इसलिए उन्होने कम-से-कम कुछ समय के लिए राजनीतिक जीवन से पृथक होने का सकल्प कर लिया।

"१९१० के फरवरी मास मे उन्होने चन्द्रनगर मे गुप्त एकान्त निवास का आश्रय लिया, और अप्रैल के प्रारम्भ मे फासीसी उपनिवेश पाडिचेरी के लिए प्रस्थान किया। इस समय 'कर्मयोगी' मे अपने हस्तक्षरो से एक लेख प्रकाशित करने के कारण उन पर तीसरा मुकदमा और चलाया गया, उनकी अनुपस्थिति मे पत्र के प्रकाशक को दोषी ठहराकर दण्डित किया गया, परन्तु कलकत्ता हाई-कोर्ट मे अपील करने पर वह मुक्त कर दिया गया। श्री अरविन्द ने बगाल को इस विचार से छोडा था कि बाद मे और अनुकूल परिस्थितियाँ आ जाने पर वे फिर राजनीतिक क्षेत्र मे पदार्पण करेगे, परन्तु बहुत जल्दी ही उस आध्यात्मिक कार्य की विशालता उनके सन्मुख प्रकट हो गयी जिसे कि उन्होने अभी प्रारम्भ किया था, और उन्होने देखा कि इसके लिए उनकी पूर्ण शक्तियो का ऐकान्तिक केन्द्रीकरण आवश्यक है। इसलिए अन्तत उन्होने राजनीति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, और राष्ट्रीय कॉंग्रेस के सभापतित्व को स्वीकार करने से बार-बार इनकार कर दिया, और पूर्ण एकान्त जीवन व्यतीत करने लगे। १९१० से आज तक पाडिचेरी मे उनके सम्पूर्ण निवासकाल मे वे आध्यात्मिक कार्य व साधना मे ही अधिकाधिक तत्परता से सलग्न है।

"चार वर्ष तक मौन योग की साधना के बाद उन्होने सन् १९१४ मे 'आर्य' नामक दार्शनिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उनकी बहुत सी महत्त्वपूर्ण रचनाये, जोकि उसके बाद पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुकी है, जैसा कि 'ईशोपनिषद्' या 'गीता प्रबन्ध' आदि, तथा अन्य अनेक जो अभी तक अप्रकाशित ही है, जैसे 'दिव्य जीवन', 'योग समन्वय' आदि वे सब क्रमश 'आर्य' मे प्रकाशित हो चुकी है। ये रचनायें उनके उस गभीरतर आन्तरिक ज्ञान का दर्शन कराती हैं जोकि उन्हे योग की साधना द्वारा प्राप्त हुआ है। अन्य रचनाये भारतीय सभ्यता व सस्कृति के सार व महत्त्व, वेदो के सत्य अर्थ, मानव जाति की प्रगति, कविता के विकास व उसका स्वरूप, और मानव जाति की एकता सभावना मे सम्बन्ध रखती हैं। इस समय उन्होने अपनी वे कवितायें भी प्रकाशित करनी प्रारम्भ कर दी जोकि उन्होने इग्लैण्ड और बडोदा मे लिखी थी, और कुछ थोडी-सी वे कवितायें भी थी जो उन्होने अपने राजनीतिक जीवनकाल मे व पाडिचेरी-वास के प्रथम वर्षो मे बनायी थी। साढ़े छ वर्ष तक लगातार

प्रकाशित होने के बाद सन् १९२१ मे 'आर्य' का प्रकाशन बन्द हो गया।

"प्रारम्भ मे श्री अरविन्द ने चार या पाँच शिष्यो के साथ ही पांडिचेरी मे एकान्तवास प्रारम्भ किया था। बाद मे दिन-प्रतिदिन उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले अधिकाधिक शिष्य आने लगे, और उनकी सख्या यहाँ तक बढ गयी कि उन व्यक्तियो के पथप्रदर्शन व निर्वाह के लिए, जिन्होने कि उच्च जीवन व्यतीत करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर दिया है, साधको की एक समिति बनानी पडी। श्री अरविन्द आश्रम की स्थापना का यही मूल आधार है, जोकि उसके चारो ओर एक प्रकार से स्वय ही विकसित हो गया है, किसी ने उसका निर्माण नही किया है।

"श्री अरविन्द ने १९०५ मे योग साधना का प्रारम्भ किया था। पहले-पहल उन्होने उन आध्यत्मिक अनुभवो के सारभूत तत्वो का उससे सग्रह किया जोकि ईश्वरीय मिलन व आध्यात्मिक साक्षात्कार के अब तक भारतवर्ष मे प्रचलित मार्गो द्वारा प्राप्त किये जाते है, और फिर वे एक ऐसी पूर्णतर अनुभूति की खोज मे लगे जिसमे कि सत्ता के दो अन्तिम सिरो का, प्रकृति व आत्मा का मिलन व समन्वय होता है। योग के बहुत से मार्ग परात्पर की तरफ, आत्मा की तरफ, ले जाने वाले है, और अन्त मे वे जीवन से दूर ले जाते है, परन्तु श्री अरविन्द का मार्ग आत्मा की तरफ इसलिए आरोहण करता है, कि वह वहाँ से प्राप्त होने वाले लाभो को प्राप्त करके, आत्मा के प्रकाश, शक्ति व आनन्द को लेकर नीचे जीवन मे पुन अवतरित होकर उसे परिवर्तित कर दे। वस्तुओ के इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य की भौतिक जीवन मे वर्तमान सत्ता, अज्ञान मे एक जीवन है, जिसका आधार जड व अचेतन (Inconscient) है, परन्तु इसके अन्धकार व अज्ञान से भी ईश्वर की सत्ता व सभावनाये विद्यमान है। यह उत्पन्न हुआ ससार एक भूल, निरर्थकता व भ्रम नही है, जिसे कि स्वर्ग व निर्वाण की तरफ लौटने वाली आत्मा को फेक देने की आवश्यकता है, परन्तु यह आध्यात्मिक विकास की रगभूमि है, जिसके द्वारा इस भौतिक जडता मे से वस्तुओ के अदर ईश्वरीय चेतना की क्रमशः अभिव्यक्ति होती है। विकास के क्रम मे अब तक सबसे ऊँची वस्तु जिस तक पहुँच गया है, मन है? परन्तु यह वह सर्वोच्च वस्तु नही जिसके लिए विकास समर्थ है। इससे ऊँचे एक अतिमानस अथवा शाश्वत सत्य चेतना है, जोकि अपने स्वभाव से ही ईश्वरीय ज्ञान का एक स्वय-ज्ञानमय तथा स्वय निर्णायिक प्रकाश व शक्ति है। मन एक अविद्या है, जोकि ज्ञान की खोज कर रही है, परन्तु यह एक स्वयभू ज्ञान है जोकि अपने रूपो व शक्तियो की क्रीड़ा को समन्वित रूप से अभिव्यक्त कर रहा है जिसका कि ससार भर के महान् महापुरुष स्वप्न देखते है। एक महत्तर ईश्वरीय चेतना के प्रति

उद्घाटन द्वारा, इस प्रकाश व आनन्द की शक्ति तक आरोहण द्वारा, अपने सत्य स्वरूप की खोज द्वारा, ईश्वर के साथ निरन्तर मिलन द्वारा, और अतिमानस शक्ति को मन, प्राण व शरीर के परिवर्तन के लिए नीचे लाने के द्वारा यह सभव है। इस सभावना को क्रियान्वित करना ही श्री अरविन्द के योग का गतिशील लक्ष्य है।"

• •

रोलाँ ने विषादपूर्ण मुस्कान के साथ कहा, "कौन जानता है ! हम ईसा के आत्मिक अन्तर्द्वन्द्वो के बारे मे कुछ भी नही जानते। और क्या उसके यह अन्तिम शब्द 'मेरे पिता तुमने मुझे क्यो छोड दिया है,' उसके जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षण मे उसके विचलित होते हुए विश्वास को प्रदर्शित नही करते ?"

"क्षमा कीजिए—क्या इससे निराशावादिता की गंध नही आती ?"

'नहीं, कदापि नही। यह एक वीरतापूर्ण दुखात नाटक का उदाहरण है। इससे ईसा के प्रति हमारा प्रेम और भी प्रगाढ हो जाता है, क्योकि अपना बलिदान देते समय उन्हे महान् मानसिक कष्ट सहना पडा। इससे बलिदान मे हमारा विश्वास और भी दृढ हो जाता है, और हमे असत्य, घृणा, लोभ व अत्याचार की अंधकारपूर्ण सेनाओ के सामने घुटने न टेकने की प्रेरणा मिलती है।"

"लेकिन यदि प्रगति केवल एक काल्पनिक वस्तु है तो मनुष्य कैसे धर्म-युद्ध के लिए प्रेरित हो सकता है ?"

रोलाँ ने कुछ उदासीनतापूर्वक मुस्कराते हुए कहा, "तुम बार-बार प्रगति शब्द पर जोर देते हो। लेकिन उससे तुम्हारा वास्तविक अभिप्राय क्या है ? क्या कोई व्यक्ति वास्तव मे हमे यह बतला सकता है कि हम किधर ले जाए जा रहे हैं ? कल्पना करो कि आज जितनी भी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हमे घेरे हुए है, उन सबका हमने सतोषप्रद हल निकाल लिया है। तब उससे आगे क्या होगा ? क्या तुम्हारी सम्मति मे हमारा कार्य सर्वदा के लिए समाप्त हो जाएगा ? क्या जीवन उस काल्पनिक राजा और रानी की दतकथा के समान है, जो अपने प्रारम्भिक जीवन की थोडी-सी उथल-पुथल के बाद आमोद-प्रमोद के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत करते है ? क्या तुम ऐसी कल्पना कर सकते हो ? नही, मेरे मित्र ! जिस प्रकार सृष्टि का ठीक-ठीक प्रारम्भ बतला सकना नितान्त असम्भव है, उसी प्रकार उसका कोई स्पष्ट लक्ष्य भी नही बताया जा सकता। अतएव हमारे सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नही है कि हम अधिक-से-अधिक ज्ञानोपार्जन की चेष्टा करें और हर समय जागरूक रहते हुए अन्याय और अत्याचार का दृढता से सामना करें। प्रगति ? यदि 'प्रगति' शब्द से तुम्हारा तात्पर्य मनुष्य की सब सासारिक पापो की मुक्ति से है, तो मुझे स्वीकार करना होगा कि मैं उसे केवल एक काल्पनिक आदर्शवाद मानता हूँ, विशेषत जबकि हम देखते है कि मनुष्य-जीवन की नीव छोटे-बडे लाखो प्राणियो की समाधि के ऊपर रखी गई है। इसलिए मेरी यह धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना भाग अदा करना चाहिए अर्थात् अधिक-से-अधिक अच्छाई का जो भाग वह प्राप्त कर सकता है, प्राप्त करना चाहिए और परिणामो को उनके ही भरोसे छोड देना चाहिए। मुझे कम-से-कम यह ज्ञान है कि यह अच्छा है और बुरा है, और मेरा अच्छे व बुरे का यह सहज ज्ञान मुझे स्पष्ट शब्दो मे इस बात का निर्देश करता है। तुम यह

आपत्ति कर सकते हो कि यह अच्छे और बुरे का सहज ज्ञान सबके लिए समान रूप से विश्वस्त पथ-प्रदर्शक नही हो सकता, क्योकि मानवीय अन्त करण अत्यन्त परिवर्तनशील है। मैं यह मानता हूँ कि साधारण जनसमुदाय के लिए जीवन के क्षणिक भौतिक मूल्यो व अनादि शाश्वत मूल्यो के बीच भेद करना बहुत कठिन है और इसलिए वाह्य नैतिक व्यवहार मे अन्त करण को अपना पथ-प्रदर्शक मानना हमारे विकास मे वुद्धि और कलात्मक प्रतिभा की भाँति ही महत्त्वपूर्ण है। और फिर हमारे अन्दर केवल यही तो एक ऐसा प्रकाश है जिसके द्वारा हम अपना मार्ग ढूंढ सकते है और अपने लिए अच्छे-से-अच्छा चुनाव कर सकते है। इसलिए मै यही कहूँगा कि हमे सुप्राप्त अधिकतम आलोक के अनुसार कार्य करना चाहिए और जितनी अधिकतम ऊँचाई पर हमारी दृष्टि जा सकती है उतना ही ऊँचा हमारा लक्ष्य होना चाहिए। वह प्रकाश चाहे क्षणिक आलोक हो या चमकते हुए तारो की तरह चिरस्थायी हो, इसकी चिन्ता मत करो। मुख्य बात यही है कि हमारे विश्वास सच्चे हो और उनमे किसी प्रकार की प्रवचना या अपने स्वार्थों से समझौता न हो। इन सबके अन्तिम लक्ष्य के बारे मे चिन्तित होने की क्या आवश्यकता है ? फ्रेंच मे एक कहावत है, 'अपने कर्तव्य का पालन करो—चाहे परिणाम कुछ भी क्यो न हो'। इस अवसर पर मुझे अनातोले फ्रास के ऐसे ही भाव याद आ गए, "हमे शीघ्र प्राप्त होने वाली आश्चर्यजनक सफलता की आशा छोडकर जिस चीज को हम उपयोगी और अच्छा समझते है उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमे किसी सामाजिक क्राति की सुखद कल्पनाओ से प्रभावित होकर अपना मार्ग न छोड देना चाहिए। हमे किसी आश्चर्यमय चमत्कार की आशा न करनी चाहिए। हममे से प्रत्येक को अपना अज्ञात भाग अदा करते हुए उस उत्कृष्टतम भविष्य के लिए, जिसे हम अपनी आँखो से न देख सकेंगे, आत्म समर्पण कर देना चाहिए।"

अव मैं जव उपर्युक्त वार्तालापो व उनसे झलकती आशाओ व खतरो पर विचार करता हूँ तो यह सोचकर आश्चर्यचकित हो जाता हूँ कि हमारे इस १९४४ के ससार की उथल पुथल को देखकर, जिसमे अघकार की घटाएँ मानवता व उदारता की अन्तिम चिनगारियो तक को बुझाने के लिए सिरतोड प्रयत्न कर रही हैं और उनका भयानक सहारक ववण्डर सभ्यता के सुकुमार पुष्पो को आदिकालीन वर्वरता के गहरे गर्त मे फेंक देने को तत्पर है, रोला क्या अनुभव करते होंगे ? क्या वे अव यह अनुभव करते होगे कि मनुष्य की चेतना मौलिक परिवर्तन किए विना इस पृथ्वी पर, जो लगातार उन नारकीय शक्तियो का शिकार वनी रहती है, जो खुम्भ (घास-फूस) के समान हमारे क्षुद्र स्वार्थपूर्ण हृदयो मे उग जाती है कुछ भी स्थायी वस्तु उपलब्ध नही की जा सकती ?

मैं नही जानता। लेकिन मैं उनसे इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहता था।

मैं १९२२ मे स्वदेश लौट आया और कुछ वर्षों तक अपने सगीत-केन्द्रो मे प्राचीन सगीत की प्रचलित प्रणालियो का अध्ययन करने के लिए घूमता रहा। और मैंने प्राचीन सगीतशास्त्र पर एक पुस्तक लिखी, जिसमे सगीत-प्रेमियो के लिए भारतीय सगीतज्ञो, पण्डितो और कलाकारो के बारे मे सब उपलभ्य सामग्री एकत्रित करने की चेष्टा की गई थी और जो शायद इस प्रकार की पहली पुस्तक थी। बीच-बीच मे मैं रोलाँ को पत्र भी लिखता रहा, क्योकि वे हमारे आधुनिक सगीत के आन्दोलन मे बहुत रुचि रखते थे।

१९२७ मे मुझे अमेरिका से निमन्त्रण मिला जिसे मैंने स्वीकार कर लिया। मुझे वहाँ कुछ व्याख्यान देने थे और सगीत का प्रदर्शन करना था तथा अपने कुछ अच्छे गीतो के रिकार्ड भरवाने थे। मैंने इसी समय यूरोप की भी पुन यात्रा का सकल्प किया। वहाँ मेरे बहुत से मित्र थे, जिनमे रोलाँ सबसे मुख्य थे। पहले मैं कोर्त दजूर गया और वहाँ से पेरिस, इगलैण्ड, ऑक्सफोर्ड और लेक डिस्ट्रिक्ट्स होता हुआ अन्त मे एडिनबरा पहुँचा, जहाँ मैंने ओल्ड फेलोज हॉल मे शास्त्रीय सगीत पर व्याख्यान दिया। वहाँ से मैं वीयना वापस लौट गया और लेखक रेने फुलप मिलर का अतिथि बना। वहाँ मैंने यूरानिया मे प्राच्य सगीत पर एक व्याख्यान दिया जिसका प्रभाव श्रोताओ पर मेरी आशा से कही अधिक पडा। मैंने रोलाँ को लिखा कि उनकी भविष्यवाणी ठीक निकली, और यूरोप प्राच्य सगीत को अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है, इससे मुझे भी सहमत होना पडा है। रोला ने मेरे पत्र के उत्तर मे आस्ट्रिया और स्काटलैंड मे मेरी इस सफलता पर बडे उत्साह के साथ बधाई दी और साथ ही मुझे 'विलेनू' आने का निमत्रण दिया। जैसे ही मैं उनके मनोहर कुटीर पर पहुँचा तो उनकी बहिन, मैंदेले रोलाँ ने, जो उनकी सहकार्यकर्त्री भी थी, स्नेहभरी मुस्कान के साथ मेरा स्वागत किया।

दोपहर के भोजन के समय, रोला के वृद्ध पिता भी हमारे साथ शामिल थे। पिता और पुत्र के बीच जिस निस्सकोच भाव से मित्रता का आदान-प्रदान हो रहा था, उसे देखकर मेरा चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ। मुझे उनके एक उपन्यास के पात्र, वृद्ध पिता 'कोलस ब्रगनोन' का, जो जीवनी-शक्ति, स्फूर्ति और हास्य से परिपूर्ण था, स्मरण हो आया। उनके व्यवहार मे किसी प्रकार का सकोचभाव नही दिखाई देता था जैसा कि दुर्भाग्यवश प्राय हिन्दू पिता का अपने पुत्र के प्रति व्यवहार मे दिखाई देता है। सारे भारतीय पिता मोतीलाल नही है और जवाहरलाल जैसे पुत्र भी विरले ही है। मैंने रोलाँ से इसकी चर्चा की और मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके अस्सी वर्ष के वृद्ध पिता को यह जानकर कितना कौतूहल हुआ कि एक भारतीय पिता अपने पैतृक सम्मान के लिए इतना व्यग्र होता है। लेकिन मैंने कहा, "हमारी माताएँ हमारी इस कमी को पूरा कर देती है,

वे वृद्धावस्था तक अपनी सतान के साथ बच्चो का-सा ही स्नेह व वात्सल्य भाव रखती है। यह भी एक कारण है कि हम अपनी जन्मभूमि को जर्मनो को तरह स्वप्न मे भी पितृ-भूमि नही कहते। माता की ज्योतिर्मयी मूर्ति के रूप मे चाहे कोई अदृश्य आत्मा हो अथवा भौतिक पृथ्वी हो, हम दोनो को समान रूप से प्यार करते है।" यह सुनकर वे सब कैसे हँसे थे!

उसी समय श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द के बारे मे चर्चा चल पडी। रोलाँ महोदय उन दिनो इन दोनो ज्वलत महापुरुषो के बारे मे विस्तृत अध्ययन कर रहे थे, जो आधुनिक भारत के तमाच्छादित आकाश मे दो उज्ज्वल नक्षत्रो के समान चमक रहे हैं। स्वभावत जब रोलाँ ने अपने ढग से और भक्ति के साथ उनका वर्णन किया तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और अनातोले फ्रास की यह उक्ति मुझे स्मरण हो आई "कलाकार को जीवन के साथ प्रेम करना चाहिए और उसे दिखाना चाहिए कि जीवन सुन्दर है। अन्यथा हमे इसके बारे मे सदेह हो सकता है।" यह कितना महान् सत्य है, विशेषत आज के युग मे जब हमारा जीवन-सम्बन्धी दर्शन किसी प्रकार भी सौदर्यपूर्ण नही कहा जा सकता। तो भी ऐसी आत्माएं वासनाओ के अदम्य तूफानो के बीच प्रकाश-स्तम्भो की तरह चमकती है, जिनसे कि मनुष्य-जीवन को स्वाभाविक प्रेरणा मिलती है।

भोजन के पश्चात् रोलाँ ने मुझे गाना सुनाने के लिए कहा। मैंने पहले उन्हे अपना बनाया हुआ एक गाना सुनाया, जिसका अनुवाद इस प्रकार है

कली को अपनी मधु सुवास का पता नही
कि उसके कलेजे मे छिपा है राज,
गहराइयाँ जो करती है अनन्त को प्रतिबिम्बित
पूछती है इसके राज अपनी आहो से।
गुनगुनाते मधुकर बढते किसके लिए वसत मे
बेचैन सुवासित द्रुमो के बीच ?
जिनकी स्मृति भरती वासनामय पवन
और रगती जादूभरे आकाश को ?
किसका चिराग धुँधली कम्पित निशा मे
टिमटिमाता चन्द्र-ताराच्छादित प्रकाश मे ?
किसका यश होता उषा मे आलोकित ?
किसके लिए सब हसरते और क्रन्दन ?
किसकी महत्ता के लिए युग-युग से
विस्मृत आकाश बना है नीलम गीत ?
किसके लिए बडबडाता बहता जलाशय
किन सुर-सगतियो को दुहराता हुआ ?

किसकी साँस भरती सुगन्ध द्रुमो, फूलो, तृणो मे,
करती अणु-अणु को प्रेरित नाचने शून्य मे ?
किसके घिसटते वसन गोधूलि मे गुजरते
हसरतभरी निगाहो मे एक छाया ?
ओह, यदि तुम पुनर्वतरित न होगी
तुम्हारे रूप के मुखौटे है फिर यहाँ क्यो ?
स्व-पायलो को क्यो झकृत करती सर्वत्र,
वह सम्मोहन जो कभी नष्ट होता नही ?
मेरा दिल भूल जाता है कि मेरे दिल मे ही
स्थापित है सदा के लिए तेरा सिंहासन।

उसके वाद मैंने अपने पिता के ऐतिहासिक नाटक 'मेवाड पतन' से एक प्रसिद्ध भजन गाकर सुनाया

क्यो व्यर्थ शोक तुम करते हो, फिर से सब मानव बन जाओ।
यदि देश गया तो जाने दो, फिर से सब मानव बन जाओ॥
औरो पर है सव रोष व्यर्थ, अपने मत शत्रु बनो भाई।
लखते[1] अपने भी देष रहो, फिर से सब मानव बन जाओ॥
मिट सकता है यदि चाहो तुम, यह हत आशामय वर्तमान।
तो विश्व प्रेममय हो जाओ, भाई-भाई से प्रेम ठान॥
'मेरा तेरा' यह भ्रम भूलो, औरो को बस अपनाओ तुम।
जग को गृह अपना मान रहो, फिर से सब मानव बन जाओ॥
यदि शत्रु तुम्हारा भी होवे, उन्नत उदारचेता महान।
तो उसके साथ भलाई कर, कर दो सप्रेम निज हृदय दान॥
यदि मित्र तुम्हारा कपटी हो, जल्दी से उसको दूर करो।
सबसे वह भारी शत्रु अहो, फिर से सब मानव बन जाओ॥
लडने-भिडने को जग मे है, सदा दो सेनाएँ तैयार।
तुम पुण्य सैन्य को अपनाकर, दो पाप सैन्य को दूर भगा॥
जिस ओर धर्म हो, रहो उधर, रखकर ईश्वर मे विश्वास।
चाहे सर्वस्व चला जाये, फिर से सब मानव बन जाओ॥[1]

उन्हे गाना सुनाने मे मैंने अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। प्रत्येक भजन की आत्मा को एकदम ग्रहण करने की उनकी शक्ति तथा सहृदयता के प्रति मुझे एक प्रकार की कृतज्ञता का अनुभव हुआ। जब मैंने अपना यह भाव उन पर प्रकट किया तो उन्होने अपनी प्रशसा को हँसी मे ही उडा दिया और गीत मे निहित

---

१. मेवाड पतन' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत,
अनुवादक साहित्याचार्य प० श्रीनिधि द्विवेदी।

सौन्दर्य को ही अपनी इस भाव-तन्मयता का कारण बताया। उनकी भगिनी ने भी भजन को खूब पसन्द किया और मुझे धन्यवाद देने का बाद कहा

"दिलीप, जिस कार्य को करने के लिए मैं और मेरे भाई तुम्हे बार-बार कहते आ रहे है उसे तुम प्रारम्भ क्यो नही करते ? तुम अपने सगीत को यूरोप मे कब प्रकाशित करोगे ?"

मैंने सकोचपूर्वक उत्तर दिया, "कुमारी रोलाँ, अगर सच पूछो तो बात यह है कि मेरे विचार के अनुसार मेरा यह प्रयत्न निरर्थक ही होगा। क्या यूरोप वास्तव मे हमारे सगीत को ठीक रूप मे समझने मे समर्थ हो सकेगा ?"

रोलाँ ने बीच मे ही बात काटकर कहा, "प्रिय दिलीप, इसकी चिन्ता क्या ? यदि हमारी किसी रचना का समुचित आदर नही होता, तो इसमे हमारे लिए रुष्ट होने व अनुत्साहित होने की क्या बात है ? तुम अपने श्रोतावर्ग की योग्यता व अयोग्यता का ही हर समय विचार क्यो करते हो ? तुम्हारे पास जो दातव्य सामग्री है उसका दोनो हाथ से खुला दान क्यो नही करते ? यदि तुम्हारी दान-सामग्री मे कोई स्थायी महत्त्व की वस्तु है तो निश्चय रखो कि वह कदापि सर्वथा निष्फल नही जा सकती। हमारा कर्तव्य, हमारे अन्दर जो भी उत्कृष्टतम है, उसका दान देने, बीज बोने तक ही सीमित है, इसके आगे हमारे हाथ मे कुछ नही है। एक कृषक बीज बोने से पूर्व कभी यह नही जान सकता कि उसकी फसल कैसी होगी। तुम्हारे सगीत को किस प्रकार ग्रहण करना श्रोतावर्ग के लिए उचित है, इसका तुम्हारा इतना आग्रह क्यो ? तुम कैसे किसी को बाध्य कर सकते हो कि तुम्हारी इच्छानुसार ही उसके मन मे तुम्हारे सगीत की प्रतिक्रिया होनी चाहिए ? यह वस्तु तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र से बाहर है और इसलिए उसके लिए तुम्हारा आग्रह किसी प्रकार भी युक्तिसगत नही है।"

मैंने अप्रतिभ व लज्जित-सा होकर कहा, "मान लो यदि बोने वाले कृषक को आने वाली फसल के बारे मे ही सन्देह उत्पन्न हो जाय तो क्या वह बोने का साहस कर सकता है ? आपको इस तथ्य से तो सहमत होना ही होगा कि अधिकाश पाश्चात्य जनता द्वारा हमारे सगीत को ठीक तरह न समझे जाने की बहुत अधिक आशका है। इसके सदेश की सर्वथा विपरीत अर्थो मे व्याख्या किये जाने की सभावना है और इस प्रकार उसे क्षुद्र व अनाहृत किया जा सकता है।"

"यहाँ तुम फिर गलती कर रहे हो।" रोलाँ ने कहा, "तुम किस भाँति किसी कला या रचना का कोई एक ही निश्चित सन्देश या अर्थ बतला सकते हो ? मेरी 'जाँ क्रिस्तोफ' रचना ने हजारो व्यक्तियो को हजारो रूप से प्रेरणा दी है। मै यहाँ तक कह सकता हूँ कि उनमे से शायद ही किसी ने मेरे अपने भावो को पूर्ण रूप से ग्रहण किया हो, लेकिन इससे क्या हानि है ? हममे से प्रत्येक व्यक्ति किसी कला की रचना को अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण करता है और उसमे से जिस वस्तु की

उसे अपने लिए आवश्यकता होती है उसे ग्रहण करके शेष को छोड देता है[1], और जब वह उसमे ऐसी कोई वस्तु नही पाता, जिसकी उसे आवश्यकता है तो वह स्वरुचि के अनुसार उसकी व्याख्या करने लगता है। क्या ऐसा नही होता ? मैं इस बारे मे तुमसे सर्वथा सहमत हूँ कि तुम्हारा सगीत यूरोप-निवासियो को उसी रूप मे प्रभावित नही कर सकता जैसा कि तुम्हे करता है। परन्तु यदि बीज को ठीक प्रकार से भूमि मे वपन कर दिया गया है, तो चिन्तित होने की क्या बात है ? हो सकता है हमे उसका फल तत्काल उपलब्ध न हो, तो भी यह यकीन रखो कि उचित समय आने पर वह फल अवश्य देगा, यद्यपि यह ठीक है कि हम उसके अन्तिम स्वरूप व आकृति के बारे मे अभी से कुछ नही कह सकते।"[2]

"रोलाँ महोदय! आपको विदित है कि इस बारे मे मैं हमेशा आपसे असहमति प्रकट करता रहा हूँ। लेकिन मुझे यूरोप की अपनी वर्तमान यात्रा मे अपने विचारो मे परिवर्तन करना पडा है और आपके विचारो से सहमत होने के लिए बाध्य होना पडा है। मैने इस बार सुखद आश्चर्य से यह बात देखी है कि यूरोप की सगीतानुरागी जनता असाधारण रूप से हमारे सगीत से प्राय प्रभावित होती है, यद्यपि उनकी प्रतिक्रिया आपके कहने के मुताबिक हमारी प्रतिक्रिया से सर्वथा मिलती-जुलती नही है। और इसलिए अब मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने सगीत के सम्बन्ध मे, यूरोपीय जनता के लिए लिखूंगा। लेकिन कभी कभी मेरी बद्धमूल शकाएँ बीच-बीच मे फिर सिर उठाकर मेरे सकल्प को शिथिल कर देती है और मैं निराशापूर्वक सोचने लगता हूँ कि क्या अपने सगीत के बारे मे लिखकर मैं उसका प्रचार करने के स्थान पर कही उसे और अधिक हानि

---

१ अपने ३१ जुलाई, १९३२ के पत्र मे भी उन्होने यही बात लिखी है "कोई कलाकार अपने विचारो को दूसरो पर लादने के लिए कला की सृष्टि नही करता, वह केवल बीज वपन करता है। प्रत्येक रचना एक प्रजनन है और प्रजननकर्ता को उत्पन्न होने वाले बालक का पूर्वज्ञान नही हो सकता। उसे केवल इतना ही ध्यान रखने की आवश्यकता है कि बीज सजीव व स्वस्थ हो। उसके आगे उसका कोई वश नही।"

२ उन्होने एक पत्र मे मुझे लिखा, "प्रकृति मे कोई वस्तु नष्ट नही होती। यदि तुम्हारे द्वारा बोये गये बीज स्वस्थ है, तो यह निश्चय रखो कि कुछ बीज अवश्य फल देंगे और कुछ चिनगारियाँ अवश्य प्रज्वलित होगी—कदाचित् वे तत्काल न हो और शायद उनमे भी न हो जिन्हे तुम सर्वथा उसके उपयुक्त पात्र समझते रहे हो—परन्तु जीवन तत्त्व से युक्त बीज जल्दी या देर से यही या कही अन्यत्र प्रकाश की फसल अवश्य पैदा करेंगे। मनुष्य को केवल जीवन की अप्रति रोध्य शक्ति मे विश्वास की आवश्यकता है।

पहुँचाने का कारण तो न बनूँगा ? क्या पाश्चात्य जनता के सम्मुख अपने सगीत को प्रस्तुत करने का कोई और बेहतर उपाय हो सकता है ? परन्तु शायद मैं अपने अभिप्राय को स्पष्ट नही कर पाया हूँ।"

"तुम जो कुछ कहना चाहते हो मै उसे समझ रहा हूँ, और जिस आशका की ओर तुम निर्देश कर रहे हो, उससे भी मैं अपरिचित नही हूँ। लेकिन तुम्हे इस प्रश्न पर विचार करना उचित है कि जब तक तुम्हारे पास अपने सगीत को पाश्चात्य जनता मे प्रदर्शित करने का कोई और श्रेष्ठतर उपाय नही है, तब तक तुम्हे उन्ही साधनो का आश्रय लेना होगा, जो तुम्हारे पास विद्यमान है, क्योकि कुछ न प्राप्त करने की अपेक्षा थोडा-थोडा भी प्राप्त करना अधिक हितकर है।"

मैने सदेह व्यक्त करते हुए कहा, "कल्पना कीजिए कि स्वरलिपि द्वारा प्राच्य सगीत को पश्चिमी जनता के सामने उपस्थित करने पर यदि वे उक्त सगीत को गलत दृष्टिकोण से देखने लगे, तब भी क्या आपका उपर्युक्त कथन सत्य होगा ?"

"तुम्हारा असल मे क्या अभिप्राय है ?"

"कल्पना कीजिए कि आप हमारे सगीत के बारे मे बिलकुल गलत धारणा बना लेते है और उसके मौलिक तत्त्वो और खास-खास विशेषताओ से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते है। उदाहरणत हमारे सगीत को यूरोपीय दृष्टिकोण से आँकने मे यदि आप राग-गायक की स्वतन्त्रता के महत्त्व को न समझ सके, हमारे कोमल आरोह-अवरोह आलाप, बोल, तान और शैली आदि को बिलकुल न पा सके। और यह आप भी स्वीकार करेगे कि यदि हम अपने लचीले सगीत को लिपिबद्ध करने का प्रयास करे तो ऐसा होना असभव नही है। ऐसी अवस्था मे क्या आपके विचार मे हमारे इस प्रयत्न से हमारा असली उद्देश्य ही विनष्ट नही हो जाता ?"

रोलाँ ने उत्तर दिया, "अब मैं तुम्हारे तात्पर्य को भलीभाँति समझ गया हूँ और देखता हूँ कि तुम्हारी आशका सर्वथा निर्मूल नही है। मैने भी कभी-कभी स्वय ऐसा ही अनुभव किया है, और हाल ही मे हुए बीथोवन के शताब्दी समारोह के अवसर पर इस सत्य का मुझे भी स्पष्ट अनुभव हुआ है।"

"वह कैसे ?"

"मैंने इस वर्ष यह अनुभव किया है कि बीथोवन का सगीत भी लगातार स्वरलिपि द्वारा गाए जाते रहने के कारण अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति व नवीनता बहुत-कुछ खो चुका है।"

मैंने कहा, "रोलाँ महोदय ! आप मुझे आश्चर्य मे डाल रहे है, क्योकि इसके विपरीत, मैं तो यह सोचता था कि आपकी सगीत-सस्कृति के विस्तार के साथ-साथ बीथोवन के सगीत का प्रभाव-क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होगा।"

"किसी हद तक तुम्हारा कहना ठीक है क्योकि बीथोवन के सगीत की साधारणजन को प्रभावित करने की क्षमता मे कोई कमी नही आई है। अपितु इस वर्ष

जिस वस्तु ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह यह कि उसका सगीत पहले से कही अधिक साधारण जनता को प्रभावित करता है। लेकिन साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया है और यही मेरा उपर्युक्त आलोचना से तात्पर्य है कि केवल सगीत-प्रेमियो और विशेषज्ञो के हृदय पर उसके सगीत का प्रभाव पहले की अपेक्षा शिथिल हो गया है। उदाहरण के लिए वह मुझमे वह उल्लास और कम्पन उत्पन्न नही करता, जोकि वह युवावस्था मे करता था। इसकी वह ताजगी अव नष्ट हो गई है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नही है कि हम चित्र के दूसरे पहलू को न देखें। हमे यह भी देखना होगा कि गणनात्मक दृष्टि से आज बीथोवन का सगीत ससार मे सबसे अधिक श्रोताओ को सगीत आनन्द की उपलब्धि कराता है और स्वरलिपि के विकास द्वारा ही यह सब सम्भव हुआ है। और इसके लिए हम अपनी स्वरलिपि-प्रणाली के ऋणी हैं। इसलिए संगीत को लिपिबद्ध करने की हानियो पर विचार करते हुए हमे उक्त प्रणाली के लाभो को भी न भूलना चाहिए।"

"लेकिन रोलाँ महोदय! यहाँ आपके कथनानुसार एक और सौदर्यशास्त्र सम्वन्धी सुन्दर प्रश्न उठ खडा होता है। यद्यपि मुझे भय है कि हम विषयान्तर पर चले जा रहे है।"

"कोई वात नही," रोलाँ मुस्कराए, "हम किसी एक सम्बद्ध विषय पर ही विचार नही कर रहे है। क्यो ?"

मै मुस्कराया और कहने लगा, "आप यह कहते है कि वीथोवन के सगीत की नवीनता व प्रेरणा-प्रधान शक्ति यद्यपि नष्ट नही हुई है, तथापि पहले से धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इस कथन से क्या उसकी प्रतिभा का मूल्य कम नही होता ?"

"कैसे ?" रोलाँ ने प्रश्न किया, 'वीथोवन ने मनुष्य के सगीतरसज्ञता के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है, हमारी ग्रहण-शक्ति को गभीर बना दिया है, और सौंदर्यानुभूति के नए मार्गो को हमारे लिए खोल दिया है। उसने अपने उत्तराधिकारियो का मार्ग अनुसरण करने व नई-नई खोजो के लिए प्रशस्त बना दिया है। वह एक ऐसी उच्च विरासत छोड गया है जिसने अधिक-से-अधिक मनुष्यो को निम्नस्तर के प्रेम-पाशो से मुक्त किया है।'

"लेकिन क्या सौंदर्य के मूल्याकन के लिए हमारे पास यही अन्तिम कसौटी है ? यदि कोई ग्रहीता अपनी ग्रहण-शक्ति के अनुपात से ही किसी प्रतिभा का मूल्याकन करता है, तो यह स्पष्ट है कि किसी कला का सही मूल्य उस कला के विशेषज्ञो द्वारा ही लगाया जा सकता है, जनसाधारण द्वारा नही। और यदि आप यह स्वीकार करते है, तो आपको यह मानना होगा कि यदि आज के दिन वीथोवन जीवित होता तो उसे इस वात से विशेष सन्तोष न होता कि उसका

मगीत आज पहले से अधिक जनता को प्रभावित करता है।"

"मैं अपने अभिप्राय को एक दृष्टात द्वारा स्पष्ट करता हूँ।" मैंने कहा, "हजारो मूर्खो की प्रशसा की अपेक्षा शेक्सपीयर के लिए एक गेटे की प्रशसा क्या अधिक मूल्यवान नही है ? इसी प्रकार सौन्दर्य की कसौटी के बारे मे भी क्या यह कहना उचित न होगा कि एक सच्चे समालोचक की कलात्मक महत्ता का सार क्या है, इस बात का अन्तर्दृष्टि द्वारा ही बोध होता है ? और मेरा विचार है कि इसी मे उसके जीवन की सार्थकता है। यदि ऐसा न होता तो क्या उसकी प्रशसा जन-साधारण के लिए पथप्रदर्शक, तथा कलाकार के लिए प्रेरणा का स्रोत सिद्ध हो सकती ? बीथोवन का दृष्टात इसका स्पष्ट उदाहरण है। आपके कहने के अनुसार, वह दिन-प्रतिदिन अधिक सख्या मे सगीत से अनभिज्ञ जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। लेकिन इससे जैसा कि आपका कहना है कलाविदो के हृदय मे उसके प्रभाव का जो लोप हो रहा है, उसकी क्षतिपूर्ति क्या सभव है ?"

रोलाँ न गभीर हो उत्तर दिया, "लेकिन इस मामले मे साहित्य और सगीत मे कुछ अन्तर है। मेरे विचार से कला के क्षेत्र मे, सगीत हमारे मनोभावो के प्रकाशन का सबसे पवित्र साधन समझा जा सकता है। इसका आवेदन, विशुद्ध-स्वर-चित्रण द्वारा सीधा हृदय पर प्रभाव डालता है। परन्तु किसी साहित्य को ग्रहीता के मन मे प्रवेश करने से पूर्व सजीव और मर्मस्पर्शी शब्दो, विचारो व कल्पना के माध्यम से छनकर गुजरना पडता है। इस प्रकार एक अर्थ मे सगीत हमे साहित्य से एक भिन्न प्रकार की भाषा मे अपना सदेश देता है। यही कारण है कि सगीत का आवेदन जहाँ अधिक सार्वभौम व सीधा मर्मस्पर्शी होता है, वहाँ साहित्य का प्रभाव अधिक व्यापक न होने पर भी सगीत की अपेक्षा चिरस्थायी होता है और वह काल के परिवर्तनो से अधिक प्रभावित नही होता। इसलिए शेक्सपीयर की तुलना मे बीथोवन का दृष्टात देना बहुत उचित नही है।"

'आपने मुझे चिन्ता मे डाल दिया है," कुछ देर ठहरकर मैंने कहा, "मैं सोचता हूँ कि क्या आपका यह कथन हमारे भारतीय सगीत के बारे मे भी सर्वथा ठीक है ?"

"तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?"

"आपने अभी कहा है कि सगीत समय के अनुसार पुराना पड जाता है। शायद यह आपके सगीत के बारे मे ठीक हो, और कौन जानता है कि कदाचित् यही कारण है कि आपके सगीत ने गत तीन शताब्दियो मे इतनी लम्बी छलागे भरी है ? बहुत सम्भव है कि आप लोगो की विभिन्नता व अनेकरसता के लिए अतृप्त तृष्णा ही आपके सगीत के जल्दी ही पुराना पड जाने की इस विचित्र वृत्ति मे कारण हो, और इसी का यह परिणाम हो कि नित्य नवीन रसास्वादन की अभिरुचि आपके अन्दर एक आवश्यकता के रूप मे उदित हो गई है। लेकिन यह

शायद विषय से बाहर की चीज है।" मैने उनको इस टिप्पणी का अवसर दिए बिना कहा, 'क्योकि मैं आपके सगीत के बारे मे, तथा पाश्चात्य श्रोताओ की मनोदशा के बारे मे कोई प्रामाणिक बात कहने मे असमर्थ हूँ। मैने यह आलोचना केवल आपके विचार जानने के लिए पेश की है, और मेरा सिर्फ उद्देश्य यह दर्शाना है कि सम्भवत इस बारे मे आपका सगीत हमारे सगीत से मूलत ही भिन्न है। अपने सगीत के इसी पहलू को लेकर मैं आपसे कुछ विचार-विनिमय करना चाहता हूँ।"

रोलाँ ने अपनी सहज मुस्कराहट के साथ कहा, "अवश्य मैं तैयार हूँ।"

"पहले मैं अपनी स्थिति स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हमारे सगीत-प्रेमियो का यह सामान्य अनुभव है कि कोई भी प्राचीन राग चाहे वह कितनी ही बार सुन लिया जाए, उन्हे प्रभावित किये बिना नही रह सकता, अर्थात् वह आपके सगीत की तरह श्रोता के लिए इतनी जल्दी पुराना या अनाकर्षक नही हो जाता। हमारे कलाविद् वर्ग के लिए बार-बार दुहराए जाने पर भी वह पुराना नही होता, बल्कि जितनी बार वे उसे सुनते है उतनी ही बार उसमे अनेक प्राचीन नये सौन्दर्य ही पाते है। यदि ऐसा न होता तो हमारे राग-सगीत की अनेक प्राचीन शैलियाँ, अब तक सारे भारतवर्ष मे हजारो प्रकार से गाए जाने के कारण सर्वथा पुरानी और नीरस पड जाती। लेकिन हमारी सगीतज्ञ-मडली मे वे आज तक भी नीरस नही हुई है, यह हमारे सगीतज्ञो द्वारा एक स्वर से प्रमाणित किया जा सकता है। हमारा सगीत भी यदि आपके सगीत की तरह समय के चचल परिवर्तनो के साथ-साथ इतनी जल्दी प्रभावित होता तो उसका इतना सूक्ष्म विकास सर्वथा असम्भव हो जाता। हमारे देश मे इस दिशा मे सगीत का इतना अधिक सूक्ष्म विकास हो चुका है कि बहुत से उच्च सगीतप्रेमी व गायक सामान्य रूप से सब रागो का अध्ययन न करके केवल थोडे-से रागो का ही विशेष अभ्यास करते है। कोई गायक सिर्फ भैरवी राग का ही अभ्यास करता है, अर्थात् वह भैरवी को छोडकर अन्य किसी राग मे गाना नही गाता। कुछ मालकोश का ही अध्ययन करते है, अर्थात् वे मालकोश व उससे मिलते-जुलते रागो मे ही नाना प्रकार के गान-सौंदर्य की उपलब्धि करते है। इसी प्रकार कुछ गायक केदारा व उससे सम्बद्ध राग को ही अपने सगीत अभ्यास का आधार बनाते है। और इसी के द्वारा सगीत के आनन्द की पूर्ण उपलब्धि करते है। यही बात अन्य रागो के विषय मे है। अब आप देख सकते है मैने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "यदि हमारा सगीत भी आपके सगीत की तरह समय के चचल परिवर्तनो से प्रभावित होता तो एक कला मे इस प्रकार की उच्च श्रेणी की विशेषज्ञता असम्भव हो जाती। किन्तु हमारे सगीत-प्रेमीजन आज भी ऐसे विशेषज्ञो का आदर करने मे गौरव अनुभव करते है। हमारा राग-सगीत हमारे लिए आज भी वैसा ही आनन्द

और प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। लेकिन आपके पाश्चात्य सगीत के बारे मे ऐसा नही है। यह तर्क ध्यान देने योग्य है। आप यह तर्क कर सकते है कि आपके सगीत का प्रभाव-क्षेत्र दिन-प्रतिदिन जनसाधारण मे विस्तृत होता जा रहा है, जबकि हमारे प्राच्य सगीत का प्रभाव-क्षेत्र मुट्ठी-भर सगीत-विशेषज्ञो, कलाविदो की गोष्ठी तक ही सीमित है। लेकिन यहाँ पर फिर वही प्रश्न करता हूँ कि सगीत के सही मूल्याकन मे यह विचार कहाँ तक उचित है ? आपका सगीत अधिक लोक-प्रिय है लेकिन हमारा सँगीत आज भी सगीत-प्रेमियो को वही अक्षय आतरिक उल्लास व प्रेरणा देता है। वे राग की प्राचीनता के साथ उसमे पहले से भी कही अधिक आनन्द का अनुभव करते है। क्योकि वे दिन-प्रतिदिन उसमे नवीन सौदर्य और चमत्कार का अनुभव करते है तथा नवीन सभावनाओ की अपेक्षा। मेरा यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नही है, वरन् मेरा वैयक्तिक अनुभव इस बात की पुष्टि करता है। हमारे बगाल के एक प्रसिद्ध ख्याति-प्राप्त गायक रायबहादुर सुरेन्द्रनाथ मजूमदार से एक यमन राग का गान मैंने कम-से-कम दो सौ बार सुना है, लेकिन आज तक कभी भी मुझे वह बासी मालूम नही दिया और आज भी उसे सुनने के लिए मैं वैसा ही लालायित हूँ। और क्यो ? कारण, एक बार भी उसकी मर्म-स्पर्शिता, नवीनता व प्रेरणा मे मुझे कोई कमी अनुभव नही हुई, क्योकि वह कभी भी एक ही तरह से दुबारा नही गाया गया। इसीलिए इस बार यूरोप मे अपने प्राच्य सगीत के सम्बन्ध मे व्याख्यान देते हुए मैंने अपने सगीत के इस पहलू पर विशेष जोर दिया है और मै आशा करता हूँ कि आप भी इसे मेरी कोरी कल्पना ही न समझेगे।"

रोलाँ ने विचारपूर्वक कहा, "नही, मैं इसे तुम्हारी विषय-कल्पना नही समझता। तुम्हारे सगीत की नवीनता अक्षुण्ण क्यो बनी रहती है, इसका कारण ढूँढना कठिन नही है। तुम्हारे यहाँ के सँगीतज्ञ बराबर रचना मे लगे रहते है, वे उसमे नित्य नवीन स्वर की खोज करते रहते है जबकि हमारे यहाँ गायक केवल व्याख्याता का कार्य करता है।"

मैं यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ, क्योकि ठीक यही चीज मैं अपने यूरोपियन श्रोताओ को अपने राग-सगीत की दीर्घायुष्यता के बारे मे बार-बार कहता था।

कुछ देर मौन रहने के पश्चात् पुन उन्होने कहा, "और हमारे सगीत के जल्दी ही पुराना पड जाने का एक कारण उसका लिपिबद्ध कर देना है, क्योकि स्वरलिपि के नियमो मे बँधकर जहाँ एक गीत अधिक मूर्त व स्थायी रूप धारण कर लेता है, वहाँ दूसरी ओर वह अपनी स्वच्छन्द विहार की क्षमता को खो देता है। इसके विपरीत जो राग लिपि के नियमो से आबद्ध नही होता, उसकी स्वच्छन्दता सौंदर्य व लचीलापन नष्ट नही होता। जब हम इस बात पर विचार करते है, कि

हमारे लोक-सगीत उनके सग्रहीताग्रो द्वारा लेखबद्ध कर देने पर अपना कितना सौंदर्य खो चुके है, तो हमे यह स्पष्ट हो जाता है, कि सगीत को स्वरलिपि के कठोर नियमो मे जकड कर हमे कितना कम लाभ हुआ है। क्योकि प्राय देखने मे आया है कि कोई भी लोक-गाथाग्रो व लोक-सगीतो से समृद्ध देश, किसी कलाकार द्वारा उनका उपयोग किये जाने पर दोनो को ही खो देता है।"

"तो क्या इससे आपका यह अभिप्राय है कि सगीत को लिपिबद्ध करना अन्तत वाछनीय नही है ?"

"नही, ऐसा तो नही कहा जा सकता। कारण, स्वरलिपि की प्रणाली के विना सगीत-क्षेत्र मे हारमनी—स्वर-सगीत की नीव पर खडी हुई हमारी विशाल इमारत की कल्पना भी सम्भव नही है। जब कोई ऊपर से आने वाले सगीतो को लिखने बैठता है तो उसकी अपनी सृजनात्मक प्रकृति उत्तेजित हुए बिना नही रह सकती। इसलिए हमारे सगीत को लिपिबद्ध करने का स्वभाव पाश्चात्य सगीत-लेखक के सृजनात्मक मस्तिष्क को बराबर प्रेरणा देता रहा है।"

"क्या आप इसका कुछ और अधिक स्पष्टीकरण करेंगे ?"

"जिस समय किसी गान को लिपिबद्ध कर लिया जाता है, उस समय स्रष्टा-मन एक ऐसे सतोष की साँस लेता है—जैसे कि उसने किसी उद्दिष्ट लक्ष्य को पा लिया हो। सगीत को लिपिबद्ध कर देने से कलाकार की अपने को अभिव्यक्त करने की उत्कट इच्छा रूपो भूख व प्यास की तृप्ति हो जाती है। और इससे उसके मन को एक प्रकार का विश्राम मिलता है व शक्ति प्राप्त होती है और वह पुन नई रचना करने के लिए उत्सुक हो जाता है। कारण, कलाकार ज्योही एक रचना को पूर्ण कर देता है, वह उसमे रस लेना छोड देता है और दूसरी नवीन रचना का सृजन करने के लिए बाध्य हो जाता है। इसीलिए मैंने यह कहा था कि हमारे सगीत ने हाल ही मे जो इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है, उसमे हमारी अत्यन्त विकसित स्वरलिपि प्रणाली का ही सबसे बडा हाथ रहा है।"

इसके अतिरिक्त, उन्होने कहा, "जनसाधारण की रुचिको परिष्कृत करने का इसके सिवा और कोई साधन भी तो नही है कि उन्हे परिष्कृत व उत्कृष्ट वस्तु के ससर्ग मे लाया जाय। इस सास्कृतिक विकास के लिए और कोई छोटा या सरल मार्ग नही है। लिखित सगीत एक प्रकार से एक प्रदर्शनी के रूप मे ध्वनि-समूह की सर्वोत्कृष्ट कृतियो को प्रस्तुत करता है और उनके द्वारा जन-साधारण की रुचि अनजाने ही धीरे-धीरे परिष्कृत करता रहता है। यह निस्सन्देह एक बडा लाभ है। लेकिन दुख की बात केवल यही है कि प्रत्येक लाभ के साथ कुछ-न-कुछ हानि भी उठानी पडती है। हर एक चाहता है कि ऐसा न हो परन्तु जब कोई जीवन मे आगे बढने का प्रयत्न करता है तो उसे आगे बढते हुए बहुत सी चीजो को त्यागना पडता है।"

"लेकिन तो भी यह बडे दु ख का विषय होगा यदि स्वरलिपि प्रणाली का आश्रय लेने से तुम्हारे सगीत की भी सृजनात्मक स्वर-विहार की स्वाभाविक क्षमता व सौंदर्य विनष्ट होने की आशका हो ।"

"तो क्या आपका विचार है कि हमारे प्राच्य सगीत मे स्वरलिपि प्रणाली का आश्रय अन्तत हमारे लिए हानिकारक होगा ? क्या हम अपने सगीत मे स्वर-विहार की स्वतत्रता के रूप मे, जो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व मौजूद है, उसे अक्षुण्ण बनाए रखते हुए, किसी विशेष सीमा तक स्वरलिपि का आश्रय नही ले सकते ?"

"मुझे आश्चर्य है ?" रोलाँ ने विचारपूर्वक कहा, "अभी कुछ दिन की बात है कि मैं एक स्पेन देशवासी सगीतज्ञ के साथ वर्तमान स्पेन की सगीत-सम्बन्धी ऐसी ही समस्या के बारे मे चर्चा कर रहा था। मैंने शायद इससे पहले भी तुमसे कहा था कि स्पेनवासियो ने आज तक गाते हुए स्वर-विहार की स्वतन्त्रता की अपनी प्राचीन परिपाटी को अक्षुण्ण बनाए रखने की चेष्टा की है।" मैंने सिर हिलाते हुए अपनी सहमति प्रकट की। उन्होने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "हाँ, तो वह सगीतज्ञ अपनी यह कठिनाई प्रस्तुत कर रहा था कि राग की स्वरलिपि तथा स्पेन मे सगीत-स्कूल व कालिजो की स्थापना के साथ-साथ उसके देशवासियो की स्वर-विहार की स्वाभाविक क्षमता स्पष्ट रूप से कुठित होती जा रही है। लेकिन फिर भी सगीत स्कूल व कालिज तथा स्वरलिपि वर्तमान युग की एक आवश्यक वस्तु है। इस प्रकार मेरे वह स्पेनिश मित्र इस उलझन से निकलने की चेष्टा कर रहे थे कि किस प्रकार प्राचीन युग की प्रेरणा का त्याग किए बिना, वर्तमान युग की भावना को ग्रहण किया जा सके । उसकी यह समस्या कुछ ठीक तुम्हारी समस्या से मिलती-जुलती है या नही ?"

रोलाँ महोदय से मेरा यह अन्तिम वार्तालाप था। इसकी सुगध आज भी मुझे सुवासित कर रही है। मुझे याद नही पडता कि मैं उनके अतिरिक्त किसी अन्य ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क मे आया हूँ जिसकी सगीत-सम्बन्धी नैसर्गिक अतर्दृष्टि ने मुझे इतना प्रभावित किया हो व जिसने मेरे सगीत-ज्ञान मे इतनी वृद्धि की हो। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि उनके सगीत-ज्ञान ने ही मेरे ऊपर सबसे गहरा प्रभाव डाला है। मेरे लिए उनका सबसे मूल्यवान उपहार उनका वह विषाद-मिश्रित व्यक्तित्त्व है जो सूर्यास्तकालीन मेघो मे बुझती हुई ज्योति के समान है। निस्सदेह उनके विश्वास की उच्चता मे ऐसी ही विषादपूर्ण ज्योति विद्यमान थी। मुझे उनका वह रूप प्राय याद आता रहता है जब मैं किसी विश्राम-गृह मे प्रमोदलिप्त मित्र-मडली के साथ बैठा हुआ होता था—और वे उसके पास से धीरे-धीरे गुजर जाते थे। वे एकाकी होते थे। उस समय उनके चारो ओर पार-

लौकिकता व उदासी की झलक व्याप्त रहती थी। उनका नुकीला पाडुर वह सरत-भरा चेहरा ऊपर की ओर उठा होता था और कधे चिन्तामग्न मुद्रा मे ज़रा नीचे की ओर झुके होते थे। वे कुछ समय तक दो पर्वतमालाओ के बीच जडे हुए अरुण प्राकाश मे एक प्रस्तर-मूर्ति के समान निश्चल भाव से नील सरोवर के तट पर खडे रहते थे। वहाँ खडे हुए वे न मालूम कितनी देर तक, सूर्यास्त के सुन्दर व मनोमुग्धकारी दृश्य को समाधिस्थ की भाँति देखते रहते थे। आकाश मे तरल रग वनजारो के समान नई अभ्रभूमियो की खोज मे इधर-उधर घूमते-फिरते थे और पर्वतमाला से आवेष्टित गहरे जल को उनका चचल स्वर्णिम प्रतिबिम्ब सुशो भित करता था। वह मत्रमुग्ध की भाँति, निश्चल भाव से इस दृश्य को देखते रहते थे—और उसके बाद अचानक बडे प्रयत्न के साथ वे अपने आपको उस स्वप्नमय अवस्था के मोहमय प्रभाव से मुक्त कर अपना भ्रमण प्रारम्भ करते थे। और जब तक वे सूर्यास्त के मद प्रकाश मे आँखो से ओझल न हो जाते थे, मैं उनकी तरफ एकटक दृष्टि से देखता रहता था। उस समय एक रहस्यवादी उदासीनता मुझे चारो तरफ से आकर घेर लेती थी, और मेरे चारो तरफ फैले हुए खोखले प्रमोद-साधनो की निरर्थकता को मुझ पर प्रकट करती थी। उस समय बृन्दवादन की आत्मविश्वासपूर्ण तुमुल ध्वनि मेरे कानो को कर्कश प्रतीत होती थी, और गायको का मोहक हास्य एक तीव्र व्यग्य के समान मालूम देता था। और तब रोलाँ का निम्न वाक्य मेरे हृदय मे गूँजने लगता था, "एक सच्चे मनुष्य को अपने जीवन की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि वह सबके लिए एकाकी रहे और अकेला ही सबके लिए चिन्तन करना सीखे।" इस एक वाक्य मे ही रोलाँ के जीवन का सार निहित है।

२२ अगस्त १९२८
विलेनू, स्विट्ज़रलैण्ड।

प्रिय दिलीपकुमार राय,

तुम्हारे साथ जो मेरे तीन सभाषण हुए है, उन तीनो तथा टैगोर के साथ हुए वार्तालाप का भी विवरण जो तुमने मुझे पढने के लिए भेजा था, वह मैं तुम्हे वापिस भेज रहा हूँ। टैगोर वाला वर्णन अत्यन्त सुन्दर है।

'प्रगति और वीरता' शीर्षकाकित तुम्हारे विवरण मे अनजाने मे हुई तुम्हारी कुछ भूलो को मैंने सशोधित कर दिया है। आशा है, तुम मेरी हस्तलिपि पढ़ सकोगे। अपने अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं यह और जोडना चाहता हूँ

(१) तुर्गनेव की अपेक्षा टॉलस्टाय का व्यक्तित्त्व मेरी सम्मति मे अत्यन्त महान है। ऐसे बहुत ही कम फ्रासीसी होगे, जो 'युद्ध और शाति' के लेखक

टॉलस्टाय के अन्दर अवतरित प्रकृति की महान शक्ति को केवल एक उत्तम कोटि के कलाकार तुर्गनेव की श्रेणी मे रखना पसन्द करेगे। वे दोनो एक ही धरातल के मूल्यो के प्रतिनिधि नही हैं।

(२) 'प्रगति' के बारे मे मेरे विचारो का जो अनुवाद तुमने किया है वह कुछ निराशावादी के रूप मे प्रस्तुत करता है। प्रसगत क्या यह विचित्र प्रतीत नहीं होता कि मैं एक पाश्चात्य होते हुए भी 'प्रगति के देवता मे आस्था नही रखता, जिसमे तुम्हारे जैसे एक भारतीय को भी निराशा की झलक मालूम देती है ?

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे ऐसे किसी देवता को आवश्यकता नही है, क्योकि मेरे लिए वर्तमान मे ही शाश्वत निहित है। मुक्ति किसी निश्चित भविष्य मे छिपी हुई नही है, वह यही पर सन्निहित वर्तमान मे ही विद्यमान है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को यही पर, और अभी ही मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। मानवता अपनी पूर्णता के साथ प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान है, जैसे शाश्वत आत्मा प्रत्येक क्षण मे अन्तर्व्याप्त है। यही कारण है कि मै इस 'प्रगति' के प्रश्न को अधिक से अधिक गौण महत्त्व का प्रश्न समझता हूँ। और जहाँ तक सदेहवादिता का सम्बन्ध है, मैं ईसा द्वारा मरते समय कहे गए शब्दो की अपनी व्याख्या मे ऐसा कोई आभास नही पाता। सूली पर चढते हुए, ईसा के यही अन्तिम शब्द थे, "मेरे पिता, मेरे पिता, तुमने मुझे क्यो त्याग दिया है।" यह मर्म भेदी क्रदन अब भी जब कभी मैं सुन पाता हूँ, मेरे अन्तस्तल को आलोड़ित कर देता है। इस भावना के अन्दर तुम्हे सदेहवाद की गध कैसे आती है ? विश्व के विस्तृत आकाश के नीचे शायद यही सबसे अधिक मर्मस्पर्शी दुखपूर्ण घटना घटित हुई है। अपने हृदय मे इस बात की कल्पना करो कि एक वीर देवता, जो मनुष्यो मे ईश्वर का प्रतिनिधि है, और जो मनुष्य जाति के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है, अपनी अन्तिम श्वास लेते हुए अपने मिशन मे अपने विश्वास को खो देता है ! और वह क्यो ? क्योकि मरणधर्मा मानवीय शरीर धारण करके उसे मानवीय कष्टो की गहराई मापने और नैतिक पराजय का अपमान सहन करने के लिये बाध्य होना पडा है। क्या इससे और अधिक हृदयस्पर्शी तथा शानदार कोई वस्तु हो सकती है ?

लेकिन मेरे लिए यह कारण नही है जो मुझे आत्मसमर्पण करने के लिए प्रेरित करता है। मैं किसी भी अवस्था मे युद्ध बन्द नही कर सकता। बल्कि इसके विपरीत मेरी 'विश्वास की तूफान कथाएँ' और 'वीर जीवनियाँ' पुस्तको मे मेरे सब प्रिय नायक ससार की दृष्टि मे पराजित हे लेकिन वे ऐसे पराजित नायक है जो यह कहते हैं .

"मेरी मृत्यु के पश्चात् विजय अवश्यम्भावी है, इसकी परवाह नही कि वह

कब आएगी क्योकि मैं जानता हूँ कि मेरा विश्वास सत्य है।"

जो भी हो, मैं ऐसे ही व्यक्तियो के लिए लिखता व जीता हूँ, जो अपने प्रिय आदर्श व विश्वास के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने को तत्पर हो और जिन्हे अपने प्रिय विश्वास की अन्तिम सफलता मे तथा अपने समकालीनो पर पूर्ण विजय पाने मे किसी प्रकार की भ्राति या सशय न हो।

स्वामी विवेकानन्द ने माया और भ्राति के बारे मे १८९६ मे जो पहला व्याख्यान दिया था, उसे पढो। ससार के बारे मे उनकी जो दु खपूर्ण कल्पना है, उसके साथ मेरी कल्पना कितनी मिलती-जुलती है, वीरतापूर्ण कार्यो मे उनके विश्वास के बारे मे तो कुछ कहना ही नही। यूरोप मे इस भावना मे विश्वास रखने वाली अनेक आत्माएँ जन्म लेती रही है।

'कला और राष्ट्रीय जीवन के बारे मे जो वार्तालाप है उसमे मैं इतना और बढाना चाहता हूँ

मै कभी भी एक सच्चे कलाकार के जीवन को एक पेशेवर या स्वार्थरत विलासभोगी कामुक का जीवन मानने को तैयार नही हूँ। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि यूरोप के सब उच्चकोटि के कलाकारो माइकेल एजिलो, रैम्ब्रॅंट और बीथोवन आदि को ईसा के समान कष्ट सहन करना पडा है। प्राय सभी उत्कृष्ट प्रतिभाओ के लिएयह एक आवश्यक शर्त है। प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति को कष्ट एकात, सन्देह व साधारण गलतफहमियो की परीक्षा से गुजरना पडता है। टॉलस्टाय ने तो अपने पत्र मे मुझे यहाँ तक लिखा है कि एक सच्चे कलाकार और एक छद्मवेशी पेशेवर कलाकार मे भेद करने वाली यही सच्ची कसौटी है। "वे अपने सासारिक सुखो को अपनी कला और विश्वास के लिए बलि चढा देते है।" एक सच्चे कलाकार का जीवन निरतर त्याग का जीवन होने का कारण, सर्वसाधारण के लिए वह बहुत कुछ असह्य-सा हो उठता है। यदि कोई कलाकार अपने आन्तरिक आनन्द और अपनी निर्माणात्मक प्रतिभा मे विश्वास व श्रद्धा खो बैठता है, तो शुद्ध वायु के अभाव मे वह ठीक तरह से श्वास भी नही ले सकता। उसका दम घुटने लगता है। अपने श्वास-प्रश्वास को जारी रखने के लिए, उसे आवश्यक वायु को पैदा करना पडता है। वहाँ फिर वीरत्व की ही पुकार है, एक शेर-दिल की आवश्यकता है।

ओथेलो के अभिनय का श्रीमती मालविदा वौन मैसनबर्ग के जीवन पर जो अविश्वसनीय प्रभाव हुआ था, उससे तुम बडे आश्चर्यान्वित हुए प्रतीत होते हो। लेकिन क्या तुम्हे मालूम है कि फ्राके थियेटर की सारी उपस्थित जनता पर (इसी पेरिस मे, जो इतना खोखला कहा जाता है) कलाकार स्फीकलीज के 'किंग ओडियस' नामक हृदय-विदारक दु खात नाटक ने जो प्रभाव पैदा किया था, वह भी बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। एक खास तीव्रता पर पहुँचकर दु ख भी असीम

आनन्द मे परिवर्तित हो जाता है, और सब दु खात नाटक के महान् पाश्चात्य लेखक इसमे अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार यह कोई ऐसा रहस्यवाद नही है जो प्राच्य कलाकारो तक ही सीमित है। इसके साथ केवल उत्कृष्ट सामजस्य को जोड दो, जो एक उत्कृष्ट कला का सहचर है। वीथोवन के अपने जीवन की सध्याकाल के चतुष्टय गीत, और वैग्नर के पार्सीफल मे अम्फोर्टा की आहे, आत्मा की उसी मानवीय वेदना से ओत-प्रोत है, लेकिन सूली पर चढने वाली आत्मा की उच्चता इन लोगो के लिए, जो उसे प्राप्त करना चाहते है, एक दैवीय उपहार है। मनुष्य इन कष्टो की अग्नि से तपाए हुए सोने की भाँति शुद्ध होकर निकलता है। नैतिक शक्ति का तत्त्व सब महान आत्माओ और सब महान कार्यो के मूल मे विद्यमान है, इसमे सदेह मत रखो। हमारे लिए ससार मे सबसे आवश्यक वस्तु शक्ति है (न केवल वीथोवन ने ही, अपितु विवेकानन्द ने भी यही कहा है।) शक्ति-विहीन कोई भी वस्तु महान नही हो सकती, और शक्ति-सम्पन्न कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होती।

रोम्याँ रोलाँ

सोमवार, २० मार्च १९२२,
विलेनू स्विट्जरलैंड

प्रिय दिलीपकुमार राय!

तुम्हारे पत्र की उदारता ने मेरे हृदय को स्पर्श किया है। मैं फौरन ही उत्तर दे रहा हूँ यद्यपि मैं उतने विस्तार से न लिख सकूँगा, जितनी की मेरी इच्छा है, क्योकि मैं आजकल बहुत कार्यव्यस्त हूँ।

मैं तुम्हारे अन्तर्द्वन्द को अच्छी तरह समझता हूँ। क्योकि बहुत दिन नही हुए, जबकि मुझे स्वय भी इस द्वन्द मे से गुजरना है। यह वही प्रश्न है जिसने मुझे किशोरावस्था मे ही टॉलस्टाय को लिखने के लिए प्रेरित किया था। लेकिन अब मेरी उन शकाओ का बहुत-कुछ समाधान हो चुका है। विशेष रूप से गत कुछ वर्षो मे जिन परीक्षाओ, एकान्तवास और कठिन सघर्षो मे से मुझे गुजरना पडा है, उन्होने उन पहेलियो को सुलझाने मे मेरी बहुत सहायता की है जिनका इससे पहले मुझे हल नहीं सूझता था।

टॉलस्टॉय की "स्वीकारोक्तियाँ" वस्तुत. बहुत ही शानदार है। ससार के दु ख व कष्टो के प्रति उनकी वेदनापूर्ण प्रतिक्रिया वास्तव मे बहुत ही मर्मस्पर्शी है। लेकिन फिर भी मेरी यह स्थिर सम्मति है कि टॉलस्टॉय एक अच्छे पथप्रदर्शक नहीं है। उनकी विक्षुब्ध व अशान्त प्रतिभा किसी दिन भी कोई व्यवहारिक मार्ग

ढूंढने मे समर्थ नही हो सकी। उनकी विश्वन्धुबत्वसूचक अनुकम्पा ने उन्हे शिल्प व विज्ञान तक को दोषी ठहराने के लिए बाध्य किया है। और वह सिर्फ किसलिए? क्योकि विज्ञान व कला पर कुछ थोडे से चुने व्यक्तियो का ही अधिकार है, परन्तु सत्य यही है कि वे एक कलाकार के अधिकारो से अपने-आपको कभी मुक्त न कर सके। वे जीवन-पर्यन्त प्रतिदिन प्रात काल कला के कार्यों के सृजन मे व्यस्त रहते थे, मानो कि चोरी से ऐसा कर रहे हो। परन्तु यदि वे अपनी कला की उत्कृष्टता द्वारा ससार पर विजय न प्राप्त कर लेते, तो उनके नैतिक और आध्यात्मिक विचारो का भी ससार मे कभी इतना प्रचार व गहरा प्रभाव न होता।[1] इस प्रकार वे अपनी कला व उससे प्राप्त होने वाले अधिकारो को त्यागने मे कभी समर्थ नही हुए और इस विरोध के कारण उनकी मानसिक यत्रणा भी शान्त नही हुई। हमे यह जानना आवश्यक है कि हम क्या चाहते है, और जो हम चाहते हैं, वही हमे करना चाहिए।

टॉलस्टॉय की परिस्थितियाँ—उनकी पत्नी और परिवार—यह सब उनके चित्त की अस्थिरता के लिए उत्तरदायी नही थे; यद्यपि वे सारा दोष उन्ही पर डालते थे। आदि से अन्त तक सारा उत्तरदायित्व उन्ही पर था, और वही वास्तव मे अपराधी थे उनकी मूलप्रवृत्ति व जन्मगत सस्कार जिन वस्तुओ के विरुद्ध निरतर सघर्ष करते थे। उन्हे ही वे हठपूर्वक सत्य करके मानना चाहते थे। इसमे उनकी मूलप्रवृत्ति का दोप नही था वरन् सत्य के जिस चित्र की वह अपने मन मे कल्पना करते थे, वह अपूर्व व अपर्याप्त सत्य था।

टॉलस्टॉय व अन्य भी बहुत से विचारको की यह एक गभीर भूल है कि वे मनुष्य-प्रकृति को अत्यन्त सरल रूप मे देखना चाहते है। पर वास्तव मे प्रत्येक मनुष्य जीवन कई मनुष्य जीनो की एक समष्टि है, अथवा इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है—वह एक ही साथ भिन्न-भिन्न धरातलो पर रहने वाला एक प्राणी है—एक बहुध्वनि-समन्वय है, बौद्धिक तर्क, जो शिक्षित मनुष्य के दिमाग मे पागलपन की बीमारी की तरह घर कर गया है, वह हमारे चरित्र की इस समृद्ध पेचीदगी को न्याय-शास्त्र की निगमन विधि की तरह सुस्पष्ट और सरल, विशुद्ध तथा सूक्ष्म, सूत्र के रूप मे प्रकट करना चाहता है। साधारण श्रेणी के मनुष्यो के लिए यह सम्भव हो सकता है, क्योकि उनकी जीवनी शक्ति दुर्बल होने के कारण उनकी आत्मा सकुचित व अवरुद्ध होने मे विशेष कष्ट अनुभव नही करती। किन्तु जिन महाप्राण पुरुषो की जीवनी शक्ति बहुत प्रबल है, वे इस अग-हानि को कभी सहन नही कर सकते, क्योकि, इससे उनका सम्पूर्ण जीव-सस्थान

---

१ यह दो वाक्य (उनकी विश्व-बन्धुत्व न होता) रोलाँ ने मेरे अनुवाद का सशोधन करते हुए अपने ३०-६-१६३० के पत्र मे लिखे। यह पत्र अन्त मे देखिए।

ही विश्छृखल हो जाता है (जिसको मनोविश्लेषण की परिभाषा मे विकृति कहते हैं।) प्रकृति व स्वभाव का निग्रह करने पर वह भी वदला लेता है, और उस निग्रह का शिकार व्यक्ति सदा अशान्त, दु खी व अतृप्त रहता है, और मतिभ्रम व निराशा का शिकार हो जाता है।"

इसलिए मनुष्य को जीवन मे किसी भी प्राणदायिनी शक्ति का निग्रह या अवरोध नही करना चाहिए। वल्कि इसके विपरीत, सब स्वास्थ्यप्रद प्रवृत्तियो के सतुलित विकास के लिए प्रोत्साहन देते रहना चाहिए। और इसे सम्भव बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के मूलतत्त्वो को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। सवमे पहले --

१—सामाजिक मनुष्य—मनुष्य जो समाज के अन्य व्यक्तियो के ससर्ग मे रहता है—उसके प्रति उसके क्या कर्तव्य व नैतिक उत्तरदायित्व है।

२—वैयक्तिक मनुष्य—उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं और अतरात्मा के प्रति उसके क्या कर्तव्य है।

इन दोनो मे से कोई भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। एक के लिए दूसरे की उपेक्षा व वलिदान करने की इच्छा एक प्रकार का मनोविकार है। प्रत्येक को उसका उचित भाग मिलना चाहिए। यही उचित मार्ग है।

तुम्हारे वारे मे मेरा यह निश्चित अभिमत है कि तुम्हारे अन्दर जो कलात्मक प्रतिभा विद्यमान है, उसके प्रति भी तुम्हारा निश्चित कर्तव्य है जो दान व सेवा आदि परोपकार के कर्तव्यो से कम महत्व नही रखता। मनुष्य का कर्तव्य अपने समकालीन व पडोसियो तक ही सीमित नही रहता। उसे उस शाश्वत पुरुष के प्रति भी अपने कर्तव्य का पालन करना है, जो पशुता की निम्नतम गहराई से निकलकर युग-युगान्तर से दृढतापूर्वक प्रकाश की ओर वढता जा रहा है। और इस शाश्वत पुरुष की वधन-मुक्ति के लिए उसे आत्म-विजय रूपी महामूल्य चुकाना पडता है। सव महात्माओ, विचारको व कलाकारो के प्रयत्न इसी अभियान (अभियान से तात्पर्य अपनी शक्ति से कही अधिक विरोधी शक्तियो के साथ युद्ध) को लक्ष्य करके प्रेरित होते है, और उनमे से जो कोई इस दायित्व का पालन नही करता, चाहे वह कैसी ही परोपकार की शुभकामना से प्रेरित होकर ही क्यो न ऐसा करे, वह अपने अतिम लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

इसका यह अभिप्राय नही है कि इसके साथ-साथ मनुष्य के और कोई कर्तव्य नही हैं। अपितु इसके विपरीत प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि उसका विशेष कर्तव्य पूरा हो जाने के वाद उसे अपना शेष समय और शक्ति सार्वभौम मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य के पालन मे लगानी चाहिए मनुष्य को अपनी आत्मा (अर्थात् कला, विज्ञान और विचार) और मानवता, दोनो की सेवा समानान्तर रूप से करनी चाहिए। मैंने समानान्तर शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि यह दोनो

प्रकार के कर्तव्य भिन्न-भिन्न धरातल के कर्तव्य है। जब आत्मा सौदर्य व सुषमा की खोज मे हो, अथवा किसी सत्य के अन्वेषण मे लगी हो, उस समय कोई भी व्यवहारिक विचार उसकी स्वतन्त्र क्रिया मे बाधक न हो। ठीक इसी प्रकार जब कोई मानवता की सेवा करना चाहता है, उस समय उसे प्रेम और सक्रिय भलाई की आवाज के अतिरिक्त और किसी आवाज को नही सुनना चाहिए। व्यर्थ मे एक को दूसरे के विरुद्ध अनावश्यक रूप से क्यो खडा किया जाय ? क्यो न प्रत्येक को अपना उचित भाग देकर दोनो मे समन्वय पैदा करने का यत्न किया जाए ?

मूलत समस्या यही है कि जव कभी दो विरोधी स्वर उत्पन्न हो तो किस प्रकार उनमे उचित सतुलन व पूर्ण समन्वय पैदा किया जाय ? एक सगीतज्ञ के लिए इस समस्या का हल करना अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा कही अधिक सुगम है, जैसा कि वृद्ध हिरैक्लिटस ने कहा था कि उसके स्वाभाविक जन्म-सस्कार, उसको सर्वथा भिन्न स्वरो मे से सुन्दर स्वर-सगति को पैदा करना सिखाते है। एक भारतीय सतान के लिए, जिसकी सनातन भावधारा समन्वित-ज्ञान के रहस्य को यूरोप की भावधारा की अपेक्षा कही अधिक अच्छी तरह जानती है, यह समाधान और भी अधिक सुगम है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने-आपको समझने की चेष्टा करनी चाहिए, अर्थात् भिन्न-भिन्न तत्वो के बीच अपना अद्वितीय सतुलन स्थापित करना चाहिए। क्योकि अन्तत प्रत्येक व्यक्ति को अपने मूल आधार के अनुसार ही होना चाहिए, एक अद्वितीय व भिन्न स्वर होना चाहिए। जीवन का आनन्द इसी अनुभूति के लिए प्रयत्न करने मे है। जो इसको प्राप्त कर लेता है, उसका जीवन सार्थक है, क्योकि वह अपने निश्चित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। और पृथ्वी पर आनन्द का यही लक्षण है।

स्नेहासक्त
रोम्याँ रोलाँ

बुधवार, नवम्बर १९२२
स्विट्जरलैंड

प्रिय वन्धु,

नेपल्स से भेजा हुआ तुम्हारा सुन्दर पत्र पढकर बहुत प्रसन्नता हुई और यह जानकर दुख हुआ कि तुम स्वदेश के लिए रवाना हो चुके हो। मुझे आशा थी कि इस शीतकाल मे एक वार और तुम्हारे दर्शन होगे। तुम्हारे साथ वार्तालाप करने की वहुत इच्छा थी, विशेषत हमारे प्रिय विषय सगीत से प्रारम्भ करके

यूरोप और एशिया की सगीत कला के बीच मे कोई व्यवधान नही है। यह

वही मनुष्य है, जिसकी एक व नाना रूपधारी अन्तरात्मा ने बहुशाखान्वित वट-वृक्ष की तरह अपनी शतभुजाओ द्वारा असीम व अग्राह्य जीवन को धारण किया हुआ है। मैं उस वट-वृक्ष को उसके पूर्णरूप मे प्यार करता हूँ और उसकी विशाल शाखाओ की गम्भीर मर्मर ध्वनि को सुनना पसन्द करता हूँ। मैं अपनी श्रवणेन्द्रिय और हृदय को उनकी सुमधुर ध्वनि द्वारा आह्लादित करना चाहता हूँ।

तुम्हारा यह विचार ठीक है कि किसी जाति का निर्णय उसके श्रेष्ठतम व्यक्तियो द्वारा ही करना उचित है। कोर्नाईल के एक नायक ने कहा है

'रोम नगर मे रोम का निवास नही, जहाँ मैं उपस्थित हूँ, वही उसका प्रकाश विद्यमान है।"

प्रत्येक जाति अपने महापुरुषो मे मूर्तिमान होती है—अपनी परिवर्तनशील वास्तविकता के रूप मे नही—वरन् अपनी भविष्यकालीन स्वर्गीय पूर्णता के रूप मे वे श्रेष्ठतम व्यक्ति अपनी जाति के वर्तमान जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नही करते और न (शायद तुम इसे भी निराशावादिता के रूप मे ले लो) उस जाति के उन जन-साधारण का ही प्रतिनिधित्व करते है जो किसी भविष्यकाल मे उसमे पैदा होगे। प्रत्येक जाति की सत्ता के मूल मे जो वास्तविक शक्तियाँ और महान सम्भावनाएँ विद्यमान होती है वही उन व्यक्तियो मे प्रस्फुटित होती है—यद्यपि उस सम्भावना की अन्तिम परिणति के लिए जिस शक्ति व समय की आवश्यकता है उसे वह जाति सामूहिक रूप से शायद किसी दिन भी न पा सके। इसी प्रकार यह चक्र सदा चलता रहता है। कुछ चुनी हुई महान आत्माएँ हमेशा अपने चारो ओर रहने वाले उस जन-साधारण से शताब्दियाँ आगे बढी हुई होती है, जिनको वे अच्छी तरह समझ सकते है और प्यार कर सकते है—जैसा कि उन्हे करना चाहिए परन्तु उक्त जनसाधारण किसी दिन भी उनको उनके वास्तविक स्वरूप मे नही जान सकते। वे या तो उनका परिहास करेंगे या जो कुछ वे है उसके कारण उन्हे सूली पर चढा देंगे, अथवा उनकी जय-ध्वनि करेंगे और उन्हे ईश्वर समझ कर उनकी पूजा करेंगे, जोकि वे वास्तव मे नही है। लेकिन इसमे तुम्हारे लिये दुखी होने का कोई कारण नही है। क्योकि भारत के प्राचीन तत्त्ववेत्ताओ ने क्या शताब्दियो पूर्व इस सत्य का दर्शन नही कर लिया था कि किसी भी युग के समकालीन व्यक्तियो का आन्तरिक विकास एकसमान नही होता? हर युग मे कुछ ऐसे व्यक्ति होते है, जो अपने जन्म से अबोध होते है और मृत्यु-पर्यन्त शिशु समान अबोध ही बने रहते है और साथ ही कुछ ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति भी होते है, जो अपने जन्म से ही किसी दूरवर्ती भविष्य से सम्बन्ध रखते है। हिरैक्लिटस ने यह यथार्थ ही कहा है कि यह सब पार्थक्य और स्वर-भेद ही स्वर-सगीत के पूर्ण सौंदर्य को पैदा करते है।

आओ, हम इस पूर्ण स्वर-सगति का श्रवण करे। वर्तमान एक क्षणिक झकार

है जो कटु व समृद्ध अथवा कठोर हो सकती है, लेकिन यह आने वाली झकार मे अपने को विलीन कर देगी। हम मे से प्रत्येक को जो कर्तव्य सौपा गया है उसे ईमानदारी और शुद्ध मन से स्वार्थरहित होकर अदा करना चाहिए। और यदि साधारण जन इन व्यक्तियो को जिनके ऊपर श्रेष्ठतम और गम्भीरतम कर्तव्यो का भार सौपा गया है, यथार्थ रूप मे नही समझ सकते तो उन्हे किसी प्रकार की सहानुभूति व दया-प्रदर्शन की आवश्यकता नही। उनके भाग्य मे जो सुन्दर सगीत लिखा है उसका परम आनन्द उनकी पर्याप्त क्षति-पूर्ति कर देता है। यदि अन्य व्यक्ति उनके बारे मे भ्रातिपूर्ण निर्णय करते है तो इससे उनकी क्या हानि है ? वे अन्य व्यक्ति उनके निर्णायक नही है। वास्तविक निर्णायक तो जीवन सगीत का एक मात्र अदृश्य नियामक वही प्रभु है।

मेरा विचार यह शीतकाल विलेनू मे ही व्यतीत करने का है। आज मेरा कुटीर चारो ओर से हिमाच्छादित है।

लेकिन यह दृश्य कितना सुन्दर व उत्साहवर्धक है! शरद्‌ऋतु अपने श्वेत परिधान मे आतरिक जीवन के विकास को प्रेरित कर रही है। मुझे पेरिस के लिए कोई उत्सुकता नही है, तो भी कुछ मित्रो का विछोह जिनमे से तुम भी एक हो, दुखदायी है।

स्नेहासक्त,
रोम्या रोलॉ

स्विट्‌जरलैड
१ अक्तूबर, १९२४।

प्रिय मित्र,

श्री अरविन्द के सम्बन्ध मे तुमने जो लिखा है और उनकी 'आर्य' नामक पत्रिका मुझे भेजी है, उसके लिए धन्यवाद। मैं तुम्हारे दृष्टिकोण से सहमत हूँ। श्री अरविन्द के सम्बन्ध मैं मैं बहुत कम जानता हूँ, लेकिन जो कुछ भी मै जान पाया हूँ, उससे मे यह कह सकता हूँ कि उनमे ससार की उच्चतम आध्यात्मिक शक्तियो मे से अन्यतम शक्ति विद्यमान है।

यूरोपीय जन-समाज मे भारत के प्रति अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे मैं अपने-आपको पाय अकेला पाता हूँ। अधिकाश जनता हठपूर्वक अधभाव मे इसी नारे को दोहराती है, "एशिया, एशिया ही है और यूरोप, यूरोप ही है।"—फ्रास के एक ख्यातनामा राष्ट्रवादी लेखक ने हाल ही मे एक नए षड्यन्त्र का पता लगाया है कि यूरोप एशिया के सम्मुख आत्म-समर्पण करने जा रहा है, और वह मुझे इस

षड्यंत्र का नेता कह कर लांछित करते है। लेकिन ऐसे कल्पनाशील व्यक्तियो को छोड कर भी, जो प्रत्येक वस्तु मे किसी खतरे की आशका करते रहते है, मैंने यह पाया कि अधिकतर पाश्चात्य लेखक अब भी उसी पुराने नारे पर विश्वास करते है कि "एशिया यूरोप के लिए सर्वथा अस्पृश्य व घृणा का पात्र है, और वह हमेशा ऐसा ही रहेगा।"

लेकिन, एशिया के विचारो के बारे मे वे क्या जानते है? बहुत ही कम और वह भी दूसरो के नकल किए हुए व अस्पष्ट उद्धरणो द्वारा!

वास्तव मे वे जो कुछ भी भारतवर्ष के बारे मे जानते है, वह सिर्फ बौद्धधर्म तक ही सीमित है। और इसके बारे मे ही वे क्या जानते है?

अब तुम मेरे वैयक्तिक अनुभवो को सुनो। मुझे अरविन्द के ईशोपनिषद् के विश्लेषण मे तीन श्लोक मिले है, जो इस प्रकार है —

> अन्धन्तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रता ॥९॥

जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते है, वे अधतमस के बीच प्रवेश करते है। और जो मनुष्य केवल विद्या की चर्चा मे ही निरत है वे और भी अधिक तमस के बीच मे प्रविष्ट होते है।

> अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुर विद्यया।
> इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

जिन विद्वान तत्वदर्शियो ने इसकी व्याख्या की है, उनमे हमने सुना है कि विद्या मे प्राप्त होने वाली वस्तु अविद्या से प्राप्त होने वाली वस्तु मे पृथक् है।

> विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
> अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृत मश्नुते ॥११॥

वह मनुष्य, जो विद्या और अविद्या दोनो को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार कर लेता है और विद्या द्वारा अमृत्व का भोग करता है।

इसमे मैं क्या पाता हूँ? वही, जो मैंने बिना किसी सहायता के २० वर्ष की अवस्था मे पाया था, जबकि मैंने अपनी 'क्रीदो क्वी वीरम्' मे वही बात लिखी थी। केवल हिन्दुओ के नाम स्वभावत उस समय मेरे विचार मे नही थे, क्योकि तब मैं यह भी नही जानता था कि ऐसे विचार भारत मे विद्यमान है, मैंने केवल वही प्रकाशित कर दिया था, जो मेरी आत्मा की गहराई से अकुरित हुआ था। निस्सदेह बीस वर्ष के एक फ्रासीसी युवक की अपेक्षा श्री अरविन्द की व्याख्या अधिक उत्कृष्ट है, और उपनिषदो का सत्यदर्शन भी कही अधिक पूर्ण है। लेकिन यह बिल्कुल वही विचारधारा है, वही खोज है। अब देखो, मैं फ्रांस का रहने वाला एक वह फ्रासीसी हूँ, जिसका जन्म फ्रास के मध्य मे एक ऐसे परिवार मे हुआ है,

जो सदियों तक उसकी भूमि पर पला है। और जब मै केवल बीस वर्ष का था, मुझे भारत के धर्मो और दर्शन का बिलकुल भी कोई ज्ञान न था। और न तब तक मैं 'शोपनहार' जैसे उन विरल दार्शनिको की विचारधारा के सम्पर्क मे ही आया था, जिन्होने भारतीय भावधारा का अध्ययन किया था। इसलिए मे विश्वास करता हूँ कि पश्चिम और पूर्व के आर्यो के बीच अवश्य कोई सीधा पारिवारिक आकर्पण है। और मित्र राय ! मेरा यह दृढ विश्वास है कि मैं भी उन वीर आर्यो के साथ, जो हिमालय की चोटियो से दिग्विजय करने के लिए अवतीर्ण हुए थे, आया था। उन्ही का नील रक्त मेरी धमनियो मे वह रहा है।

मुझे आशा है कि मैं इस बार टैगोर से, जबकि वे पेरू जाते हुए स्पेन आवेंगे, मिलूँगा। ऐन्ड्रूज भी अवश्य उनके साथ होगे।

स्नेहासक्त,
रोम्याँ रोलाँ

विलेनू,
३ जून, १९३०

प्रिय दिलीपकुमार राय,

तुम्हारे पत्र के लिए धन्यवाद। मैं सशोधन के लिए भेजी हुई तुम्हारी पाण्डु-लिपि लौटा रहा हूँ। मुझे इसमे, टॉलस्टॉय के बारे मे मेरे पुत्र के तुम्हारे अनुवाद मे कुछ थोडे से सशोधन के अतिरिक्त और कोई परिवर्तन नही करना है। उसमे शायद कही कुछ गलती रह गई है। मुझे ठीक ध्यान नही है कि मैंने क्या लिखा था।

"टॉलस्टाय की विश्व-बधुत्व सूचक अनुकम्पा मे उन्हे कला व विज्ञान तक को दोषी ठहराने के लिए बाध्य किया है। और वह केवल किसलिए ? क्योकि व कला पर कुछ थोडे से चुने हुए व्यक्तियो का ही अधिकार है। परन्तु सत्य यही है कि टॉलस्टॉय ने स्वय जीवन-पर्यन्त एक कलाकार की सुख-सुविधाओ व अधि-कारो का उपयोग किया था। वे जीवन पर्यन्त प्रतिदिन प्रात काल अपनी कला की रचना मे व्यस्त रहते थे, यद्यपि वे एकान्त मे ही लज्जित से होकर ऐसा करते थे। और यदि वे अपनी कला की उत्कृष्टता द्वारा ससार पर विजय न प्राप्त कर लेते तो उनके नैतिक व आध्यात्मिक विचारो का भी ससार मे कभी इतना प्रचार व गहरा प्रभाव न होता।"

कला के बारे मे महात्मा गांधी के जो विचार तुमने लिखे है, वे मुझे बहुत ही मनोरजक प्रतीत हुए। लेकिन तुमने उन्हे ठीक उत्तर नही दिया। तुम्हे उन्हे

कहना चाहिए था —

'मानवता सदा आगे बढ रही है। प्रतिभाशाली विचारकगण उसके पथ प्रदर्शक और नेता हैं, जो उस पथ का निर्माण कर रहे है, जिस पर अन्ततोगत्वा सारी मानवता को चलना है। इसलिए इन चुने हुए व्यक्तियो को साधारण जनता मे इसलिए अलग कहना, क्योकि जनता उनसे पीछे रह जाती है, गलत है। और वह एक अयोग्य जननायक होगा, जो उन पथप्रदर्शको को साधारण-जनसमूह के साथ चलने के लिए बाध्य करेगा।"

तुम इस प्रत्युत्तर को, यदि तुम्हे उचित प्रतीत हो तो महात्मा गाधी के साथ अपने वार्तालाप के वर्णन मे जोड सकते हो।

स्नेहासक्त
रोम्याँ रोलाँ

"मैं अपने और अपने मित्रो के द्वारा कुछ दिनो से राजनीति मे धर्म का प्रवेश करके एक नया परीक्षण कर रहा हूं। मैं यह स्पष्ट कर दूं कि धर्म से मेरा क्या अभिप्राय है? यह हिन्दू धर्म नही, जिसे मैं निश्चित रूप से सब धर्मों मे श्रेष्ठ समझता हूं, लेकिन यह वह धर्म है, जो हिन्दू धर्म को भी अतिक्रान्त कर जाता है, जो मनुष्य की प्रकृति को ही परिवर्तित कर देता है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कोई भी मूल्य अत्यधिक नही कहा जा सकता, और जो आत्मा को तब तक अशात बनाए रखता है, जब तक वह अपने स्वरूप को नही पहचान लेता, तथा स्रष्टा और अपने बीच के सादृश्य को भली-भाँति नही समझ लेता।"

—महात्मा गांधी

"मैं विश्वास करता हूं कि मेरा जीवन, मेरी बुद्धि, मेरा प्रकाश एकमात्र अपने सहबधुओ को प्रकाशित करने के लिए ही मझे मिला है। मै विश्वास करता हूं कि मेरा सत्य का ज्ञान एक योग्यता है जो मुझे इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए दी गई है, यह योग्यता एक अग्नि है, और यह अग्नि तभी तक प्रज्वलित है, जब तक उसे प्रयोग मे लाया जाता है। मेरा विश्वास है कि मेरे जीवन का एकमात्र यही अर्थ है कि मैं उसे अपने अत प्रकाश के अनुसार व्यतीत करूँ, और उस प्रकाश को इतने ऊँचे उठाए रखूं कि सब लोग उसे देख सके।"

टॉलस्टाय

२

महात्मा गांधी

महात्माजी के साथ मेरे प्रथम दो वार्तालाप, जो मैं यहाँ दे रहा हूँ, १९२४ के हैं। प्रत्येक अवसर पर सदा की भाँति मैंने उनका ठीक-ठीक लेखा रखा है। बाद में मैंने उनके कुछ विचारों का तनिक विस्तार करके उसकी लिखित प्रति अंतिम संशोधन के लिए उनके पास भेज दी। उन्होंने उसमें कुछ स्थानों पर मामूली संशोधन करके अपने विचारों को उसी रूप में, जैसेकि यहाँ वर्णित हैं, प्रकाशित करने की कृपापूर्वक आज्ञा दे दी और इसी प्रति के साथ भेजे गए पत्र में उन्होंने लिखा, "मैं कम-से-कम परिवर्तनों के साथ, तुम्हारा वार्तालाप विवरण वापस भेज रहा हूँ।" उनकी इस विनम्रता ने ही, जो उनका एक विशिष्ट गुण है, उन्हें हमारे युग का सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति बना दिया है। इसी विनम्रता ने ही उन्हें एक बार मुझे यह लिखने को प्रेरित किया

"प्रिय मित्र, 'पश्चिम में मुझे जो ख्याति प्राप्त है, मैं वस्तुतः उसके अयोग्य हूँ और प्रायः यह सोचता हूँ कि यदि मैं एक बार योरोप और या अमरीका जा सकूँ तो वहाँ की जनता मेरे विषय में बनाई गई बढ़ी-चढ़ी धारणाओं की भ्रांति से शीघ्र ही मुक्त हो जाएगी। तुम मेरा विश्वास करो कि यह मैं किसी झूठी आत्मलघुत्व की भावना से नहीं लिख रहा हूँ, बल्कि इसलिए कि मैं वास्तव में ऐसा ही अनुभव करता हूँ।'

---

१ २० सितम्बर १९३३ का उनका यह पत्र मुझे वियना में जहाँ मैं भारतीय दर्शन पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित था, प्राप्त हुआ था। यह पत्र उन्होंने मेरे उस पत्र के उत्तर में लिखा था, जिसमें मैंने उन्हें यह लिखा था कि

फरवरी १९२४ के एक स्फूर्तिदायक स्वर्णिम प्रभात मे मैने अपने जीवन मे प्रथम वार महात्मा गाधी के दर्शन किए। वे उन दिनो पूना के एक चिकित्सालय मे अपेंडिसाइटिस के ऑपरेशन के वाद स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे। वस्तुत यदि ठीक कहा जाय, तो १९२२ मे छ वर्ष के दीर्घ कारावास की सजा होने के वाद वे वहाँ अपनी सजा की अवधि पूरी कर रहे थे। लेकिन चूँकि सरकार ने पहले ही उन्हे रिहा करने का निश्चय कर लिया था इसलिए उनके पास पहुँचना अव पहले की अपेक्षा सुगम था, और अव उनकी मुलाकाते केवल स्वास्थ्य को ध्यान मे रखने हुए ही नियत्रित होती थी, किसी राजनैतिक आधार पर नही।

महात्माजी अपने विस्तर पर कई तकियो के सहारे आराम कर रहे थे। उनके मत्री और श्रद्वालु मित्र, आकर्षक महादेव देसाई, सरोजिनी नायडू की एक सर्वप्रिय कन्या, एक राजनीतिज्ञ जिनका सिर कद्दू की तरह घुटा हुआ था और कुछ अन्य दर्शक प्रसन्नतापूर्वक आपस मे वातचीत कर रहे थे। महात्माजी का मुख सदा की भाति मुस्कराहट से दीप्त था और वह विनोद व मद व्यग्यात्मक प्रत्युत्तर मे व्यस्त थे। इस प्रकार वे इस अल्पकालीन विश्राम मे, दुर्भाग्य से जो उन्हे अपने व्यस्त जीवन मे वहुत ही कम प्राप्त होता था, अपना दिल वहला रहे थे।

जव मैं उस महान् रोगी के कमरे मे दाखिल हुआ, मेरा हृदय एक विचित्र उद्वेग से धडक रहा था। मै कुछ कह भी न पाया था कि वे अपनी रुग्ण शैया पर पडे मेरी ओर देखकर मुस्कराए। उनके मुख पर उस वाल-सुलभ मुस्कराहट की चमक को देखकर कौन कह सकता था कि वे वीमार है।

मैंने उन्हे प्रणाम किया और कहा कि मै केवल उनके दर्शनो के लिए ही वगलौर से पूना आया हू।

"ओह, निस्सदेह तुम्हारी वडी कृपा है।" महात्माजी ने स्फटिक मुस्कान मे कहा और उनका सारा चेहरा कृतज्ञता से कोमल हो उठा। उनके सुदर स्वभाव का यह एक और प्रसिद्ध गुण था।

उन्होंने मुझे अपनी चारपाई के पास वैठने के लिए कहा और मेरा नाम पूछा। मैंने उन्हे अपना परिचय दिया।

सारे योरोपीय महाद्वीप मे जहाँ भी मैं जाता हूँ, वही पर लोगो की उनके प्रति दिलचस्पी देखता हू, और वे मुझे उनके वारे मे प्रश्न पूछने के लिए चारो ओर से घेर लेते है। मैंने उन्हे सुझाया था कि वे एक वार योरोप-यात्रा अवश्य करें।

"ओह !" कुमारी नायडू ने आश्चर्य से कहा, "आप वही सगीतज्ञ है जो योरोप मे सगीत का अध्ययन करते रहे हैं ? और लोग कहते है कि आप भारतीय राग व सगीत मे पाश्चात्य स्वर-सगीत को लाना चाहते है ?"

"यह सत्य है कि मैंने इगलैंड और जर्मनी मे कुछ योरोपीय सगीत का अध्ययन किया है", मैंने कहा, "परन्तु मुझे भय है, मै कभी भी उस कुटिल अभिरुचि का अपराधी नही हूँ, जिसकी ओर आपने कटाक्ष किया है ।"

"परन्तु आखिर तुम सगीतज्ञ तो हो ही न ? क्या तुम नही हो ?" महात्माजी ने अपनी तरल मुस्कान के साथ कहा । "फिर सगीत की जगह शब्दो का उपयोग क्यो ? क्या तुम एक बेचारे रोगी को अपना गाना नही सुनाओगे ?"

"महात्माजी, मै इसमे गौरव अनुभव करूँगा," मैंने उत्तर दिया । "क्या मैं तीसरे पहर अपने साथ अपना तानपूरा लाऊँ ? आपको वह समय अनुकूल होगा ?"

"यह मुझे खूब अनुकूल पडेगा ।" उन्होने कहा, "लेकिन नही—ठहरो, मैं पहले परिचारिका से पूछ लूं ।"

परिचारिका को बुलाया गया और उन्होने उससे पूछा कि क्या तीसरे पहर थोडा सगीत अन्य रोगियो को परेशान तो न करेगा ?

"नही, मिस्टर गाधी," उसने मधुरता से कहा, "आप जितना चाहे, गाना सुने ।"

महात्माजी ने उसे धन्यवाद दिया और मेरी ओर मुडकर कहा, "तो क्या तुम लगभग पाच बजे आज तीसरे पहर अपने साज के साथ आ सकोगे ?"

"महात्माजी, मुझे बडी प्रसन्नता होगी," मैंने कृतज्ञतापूर्वक कहा । "लेकिन एक बात मुझे जरूर बताइए क्या आप वास्तव मे सगीत को पसद करते है ?"

"यह कैसा प्रश्न है ?" उन्होने कहा, "मैं बचपन से ही सगीत का विशेषत भक्ति रस के भजनो का प्रेमी रहा हूँ । लेकिन फिर भी मैं इस बात का दावा नही कर सकता कि मुझे सगीत का विश्लेषणात्मक ज्ञान है । इस बात का मुझे कोई विशेष दुःख भी नही है, क्योंकि इतने पर भी सुन्दर सगीत सदा मेरे हृदय को बरबस स्पर्श करता है । यही तो सबसे जरूरी चीज है न ?"

'निस्सदेह,' मैंने सहमति प्रकट की । "परन्तु क्षमा कीजिएगा, क्या आपके ख्याल मे विश्लेषणात्मक ज्ञान द्वारा सगीत के प्रति कला के रूप मे हमारा प्रेम और अधिक नही बढ जाता ?'

'बढ सकता तो है । लेकिन जैसा मै तुमसे अभी कह चुका हूँ, मैंने कभी इसकी प्रशसा की आकाक्षा नही की । मेरे लिए सगीत आह्लाद और

प्रेरणा करने का साधन है। और मैं तब तक पूर्णतया सतुष्ट हूँ, जब तक उससे मुझे वह प्राप्त होती है।"

"अहो! कितनी अच्छी तरह याद है," उन्होने अतीत का स्मरण करते हुए पुन कहा, "कि जब मै अफ्रीका के चिकित्सालय मे बीमार था तो मुझे सगीत द्वारा कितना आनन्द व आराम प्राप्त होता था! उन दिनो मैं उन चोटो का इलाज करा रहा था जो मुझे अपग बनाने के लिए कुछ गुण्डो ने मुझ पर की थी—मेरी उस निष्क्रिय सत्याग्रह युद्ध की सफलता को धन्यवाद है। मेरी प्रार्थना पर मेरे एक मित्र की कन्या प्राय मुझे यह प्रसिद्ध भजन 'प्रकाश दिखाओ' गाकर सुनाया करती थी, और यह गान हमेशा मरहम की तरह मुझ पर अपना अचूक प्रभाव करता था। मै अभी तक कृतज्ञतापूर्वक उस गीत का स्मरण करता हूं। अच्छा, तो क्या तुम्हे अब इस बात का विश्वास हो गया कि मैं वास्तव में सगीत को पसन्द करता हूँ। या मुझे इसके लिए कुछ और दृढ प्रमाण देने पडेगे?" यह सुन हम सब हँसने लगे।

डूबते हुए सूर्य का अन्तिम उपहार, एक लम्बी रक्तिम किरण रेखा महात्माजी की शैया के पास फर्श पर पड रही थी, जब मैं अपने तानपूरे के साथ उनके कमरे मे प्रविष्ट हुआ। साथ मे कुमारी नायडू और महादेव देसाई तथा अन्य दो नये दर्शक बैठे थे। पहले मैने मीरा का भक्ति रस का गीत गाया

दीन दयालु कृपाल हरि, वृन्दावन मोहि बुला तो सही।
रो लूँ चरण पखार पलक टुक, प्रेम प्रसाद चखा तो सही॥
तोर छोड के कौन की आस करूँ, तेरे नगर मे नित्य निवास करूँ।
दिनरात यही अरदास करूँ, मोहि बशी के बोल सुना तो सही॥
व्रज देश मे तू, मैं विदेश मे हूँ, एक जोगी जोग के भेष मे हूँ।
उपदेश मे हूँ मैं कलेश मे हूँ, मोहि झाकि विशाल करा तो सही॥
विरहावस नैन चुराय रहे, रो-रो के समुद्र बहाय रहे।
दिन आप रहे अकुलाय रहे, नाथ मोर प्राण बचा तो सही॥
मैं तो बन फल खाय के बैठ रहूँ, तो से भूख पियास कछू न कहूँ।
तोरे प्रेम के जल मे सदा मैं बहूँ, मेरे दु ख को आन मिटा तो सही॥
व्रज की बुहारी मैं दिया ही करूँ, तेरी सेवा औ पूजा किया ही करूँ।
तेरे धो धो के चरण पिया ही करूँ, मेरी नाव को पार लगा तो सही॥

दूसरा भजन जो मैंने सुनाया, वह मीरा का प्रसिद्ध 'चाकर राखो जी' था, जो इस भाँति है

स्याम ! मैंने चाकर राखो जी,
गिरधारी लाल ! चाकर राखो जी।
चाकर रहसूं बाग लगासूं, नित उठ दरसन पासूं।
वृन्दावन की कुंजगलिन में, तेरी लीला गासूं॥
चाकरी में दरसन पाऊं, सुमिरन पाऊं खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊं, तीनो बातों सरसी॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजंती माला।
वृन्दावन मे धेनु चरावे, मोहन मुरलीवाला॥
हरे हरे नित बाग लगाऊं, बिच-बिच राखूं क्यारी।
सांवरिया के दरसन पाऊं, पहर कुसुम्बी सारी॥
जोगी आया जोग करन को, तप करने सन्यासी।
हरी भजन कूं साधू आया, वृन्दावन के वासी॥
मीरा के प्रभु गहिर गभीरा, सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हे, प्रेम नदी के तीरा॥

महात्माजी, जैसे ही मेरी ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो मुस्कराए, उनकी कोमल आंखें चमक उठी। उनकी संवेदनशीलता ने मेरे अन्तस्तल को छू लिया।

"मीरा के भजन सदा ही सुन्दर होते हैं," उन्होंने कहा।

"मेरा ख्याल है कि आप प्रायः गुजरात में उन्हें सुनते होंगे?" मैंने पूछा।

"हां, मुझे उनमें से बहुत से याद हैं। मैं आश्रमवासियों द्वारा उसके भजन प्रायः सुना करता हूं। वे अपनी सच्चाई व सौन्दर्य के कारण अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं।

मुझे यह सुनकर बहुत प्रसन्नता हुई, क्योंकि रहस्यवादी कवियों में मीराबाई और कबीर ही मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं।

"क्योंकि वे सच्चे हृदय से निकले हैं," महात्मा जी ने पुनः कहा, "इसीलिए वे इतने मर्मस्पर्शी हैं। मीरा गाए बिना रह ही न सकती थी, इसीलिए उसने गाया। उसके गीत हृदय के अन्दर से फुहारे की तरह सीधे फूटकर निकलते हैं। वे यशोलिप्सा या जन-प्रशंसा की दृष्टि से नहीं रचे गए। इसी में मीरा के गीतों की स्थायी प्रेरणा और प्रभाव का रहस्य निहित है।"

"मैं अनुभव करता हूं," मैंने उत्साहित होकर कहा, "कि हमारी पाठशालाओं और विद्यालयों में हमारे सुन्दर संगीत की बुरी तरह उपेक्षा की गई है।"

"दुर्भाग्य से ऐसा हुआ है," उन्होंने सहमति प्रकट की। "और अब यह उचित समय है कि हम इस ओर सजग हों। यह एक बड़ी दुःखदायी घटना होगी यदि हमारा संगीत केवल जनता की उपेक्षा व उदासीनता के

कारण लुप्त हो जाय। मैंने सदा यही कहा है।"

महादेव देसाई ने उनके कथन की पुष्टि की।

"महात्माजी, मैं यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ हूं," मैंने कहा, "क्योकि मैं साफ ही कह दूं, मैं अब तक यही समझता था कि आपकी कठोर जीवन-साधना के कोप मे कला का कोई स्थान नही है। वास्तव मे मैंने प्राय आपको अपनी कल्पना मे एक ऐसे उग्र सन्त के रूप मे चित्रित किया था, जो सगीत के सर्वथा विरुद्ध है।"

"सगीत के विरुद्ध और मैं?" महात्माजी ऐसे चौके मानो उन्हे किसी ने डक मार दिया हो। मैं भी चौक गया। "हाँ, मै जानता हूं, अच्छी तरह जानता हूं।" उन्होने निर्लिप्त भाव से कहा, "इसमे तुम्हारा कोई अपराध नही है यदि तुमने कल्पना मे मेरा ऐसा ही चित्र खीचा हो। मेरे बारे मे बहुत से अधविश्वास प्रचलित, यहाँ तक कि है मेरे लिए यह करीब-करीब असभव हो गया हे कि मैं उन लोगो को पकड सकूं, जो उन्हे इधर-उधर फैलाते फिरते है। यही कारण है कि जब मैं इस बात का दावा करता हूं कि मै भी एक कलाविद् हूं, तो मेरे मित्रो की प्रतिक्रिया प्राय अविश्वासपूर्ण मुस्कराहट के रूप मे प्रकट होती है। वास्तव मे वह इसे एक ऊँचा मजाक ही समझते हे।" और यह कहकर वह बच्चो की तरह खिलखिलाकर हसने लगे।

"महात्माजी, मैं यह सुनकर प्रसन्न हूं," मैंने उनके हास्य मे सम्मिलित होते हुए कहा, "लेकिन क्या आपका कठोर तापसवाद ही इस प्रचलित भ्रात धारणा के लिए किसी अश तक उत्तरदायी नही है? अवश्य ही आप लोगो को दोप नही देगे, यदि वे कला और तापसवाद मे समन्वय स्थापित करना कठिन पाते है।"

"लेकिन मैं तो यह मानता हू कि त्यागवाद ही जीवन मे सबसे बड़ी कला है। कारण, सादगी मे सौदर्य-उपलब्धि के अतिरिक्त कला और क्या वस्तु है? और दैनिक जीवन मे स्वाभाविक सौदर्य के आडम्बर व कृत्रिमतारहित उच्चतम विकास के अलावा त्यागवाद ही क्या चीज है? यही कारण है कि मै सदा कहता हूं कि एक सच्चा आत्मसयमी सन्यासी न केवल कला का अभ्यास ही करता है, वरन् कलामय जीवन व्यतीत करता है।"

"और मुझे," उन्होने आवेशपूर्वक कहा, "जो सगीत के बिना भारतीय धार्मिक व आध्यात्मिक जीवन के विकास की कल्पना भी नही कर सकता उसे सिर्फ त्यागवाद का प्रचार करने के कारण सगीत जैसी कला का शत्रु करार दे दिया जाय। यह एक हद है।"

"तब फिर लोग क्यों ऐसा सोचते हे कि आप कला के प्रति अनुदार हं?"

"हां, मेरे ख्याल मे इसके कुछ कारण है, जो जाहिरा तौर पर ठीक भी प्रतीत होते है। एक तो यह कि मैं आजकल कला के नाम से प्रचलित बहुत-सी रचनाओं मे कुछ सार-वस्तु नही देखता। दूसरे शब्दो मे, मेरा कला का मापदड भिन्न है। उदाहरण के लिए मैं उसे एक उत्कृष्ट कला नही कहता जिसे समझने के लिए उसकी तकनीक का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। मेरे लिए कला की महत्ता, प्रकृति के सौंदर्य की तरह, उसके सार्वभौम आवेदन मे है। चाहे कुछ भी कहो, मैं बाल की खाल निकालने वाली बारीकियो को समझने की शक्ति को ही कला के मूल्याकन का मापदड कदापि नही कह सकता। सच्ची कला और उसकी ग्राहकता व मूल्याकन का कृत्रिम आडम्बर से कोई सम्बन्ध नही है। उसे अपने-आप को प्रकृति की प्राजल भाषा की तरह सरल व सीधे रूप मे प्रकट करना चाहिए।"

"लेकिन मैंने सुना है कि आप अपने कमरे की दीवारो पर चित्र लटकाना पसन्द नही करते?"

"हां, इस पर भी मेरे मित्र ऐतराज करते है और इसे कला के प्रति मेरी स्वाभाविक पराड्मुखता का चिह्न समझते है। लेकिन जब मै मानता हूं कि दीवारें केवल हमे आश्रय व विश्राम देने के लिए बनाई गई है तो उन्हे चित्रो से क्यो लादा जाय? दीवारो के वास्तविक प्रयोजन को छोडकर दूसरे प्रयोजन के लिए, उनका प्रयोग करके मैं अपने मार्ग से विचलित क्यो हूं?"

"लेकिन यदि दूसरे व्यक्ति चित्र लगाना चाहे?"

"यह उनका अपना काम है, मेरा नही। यदि उन्हे अच्छा लगता है तो वे अपनी दीवारो को, जितने चित्रो से चाहे, सजाये। किन्तु मुझे, प्रेरणा पाने के लिए उन्हे टागने की कोई आवश्यकता नही है। मुझे प्रेरणा देने के लिए वस्तुत प्रकृति ही पर्याप्त है।"

'क्या मैं अनेक बार ताराजटित आकाश के आश्चर्यजनक रहस्य की ओर देख-देखकर अनेक बार विमुग्ध नही हो चुका हूं?" कुछ क्षण ठहरकर वे बोले, 'पर आज तक कभी भी मेरा मन उस महान् दृश्य से विरत नही हुआ। क्या मेरे पास जगल और समुद्र, नदियाँ और पर्वत, मैदान व घाटियाँ नही है, जिनसे कि मैं अपनी सौंदर्य-पिपासा शान्त कर सकूं? क्या कोई ऐसे चित्र की कल्पना कर सकता है, जो प्रेरणा मे ताराजटित आकाश, शानदार समुद्र व महान् पर्वतमाला का मुकाबला कर सके? क्या किसी चित्रकार की कूची के रग सूर्योदय-बेला की हास्योज्ज्वल अरुणिमा व गोधूलि की स्वर्णिम छटा की तुलना मे ठहर सकते है? नही, मेरे मित्र," वह मुस्कराए, "प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रेरणा की मुझे आवश्यकता नही। उसने अभी तक मुझे कभी निराश नही किया है। वह मुझे विमुग्ध करती है, विस्मित करती है,

और अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। फिर मुझे मनुष्यो के बचकाने रग-मिश्रण की क्या आवश्यकता है? क्या ईश्वर की कृति के सम्मुख मनुष्य की कृति तुच्छ नही पड जाती? और दिलीप, तुम्ही बताओ, जब सर्वोत्कृष्ट कलाकार 'प्रकृति' अपना अक्षुण्ण सौदर्य-भडार लेकर हमारा मनोरजन करने के लिए हर समय प्रस्तुत है, तो मानवीय कला मे ऐसा कौन-सा आकर्षण है, जो मुझे प्रलुब्ध कर सकता है?"

"महात्माजी, आप जो प्रकृति को महानतम कलाकार कहकर पुकारते है, और आधुनिक कला के आडम्बरो की निन्दा करते है, उससे मै भी सहमत हूँ। इससे कौन इनकार कर सकता है कि आजकल कला के नाम से जो कुछ पुकारा जाता है, उसमे सार-वस्तु बहुत कम है? और कौन समझदार व्यक्ति इस बात का दावा कर सकता है कि किसी कलाकार की रचना उसके जीवन की अपेक्षा अधिक महान् है?"

"बिलकुल ठीक," महात्माजी ने सहमति प्रदर्शित करते हुए कहा, "सब कलाओ को एक साथ एकत्र कर देने पर भी, एक उच्च जीवन के मुकाबले मे उनका मूल्य बहुत कम है, क्योकि महान् जीवन रूपी उर्वरा भूमि के आधार के बिना उष्णगृह मे उगाए गए तुम्हारे इस कला-रूपी पौधे का क्या महत्त्व है? यह हो सकता है कि हम तथाकथित कला की निरर्थक प्रशसा मे आकाश को सिर पर उठा ले। परन्तु यदि वह कला हमारे जीवन को उन्नत करने के स्थान पर उसे निरर्थक व पगु बना देती है, तो उसका मूल्य ही क्या है? क्या यह सर्वथा बेहूदी बात नही है, जैसा कि आजकल बहुत-से कलाकार कहते है, कि कला सृष्टि की मुकुटमणि है, और यही जीवन का अतिम लक्ष्य है।"

"कला जीवन की अपेक्षा भी महत्तर है।" महात्माजी ने कुछ व्यग्यपूर्ण स्वर मे कहा, "मानो हमारा जीवन किसी नारे द्वारा शासित होता है। और मनुष्य की आत्मा को वैषयिक सुखभोग के एक तत्त्व से ही पुष्ट व तृप्त किया जा सकता है। कला के बारे मे जब मैं इस प्रकार के झूठे दावे सुनता हूँ तब मुझे उनके विरोध मे खडा होना पडता है, क्योकि मेरी दृष्टि मे वही सबसे बडा कलाकार है जो सबसे महान् जीवन व्यतीत करता है। इसलिए मै कला का विरोधी नही हूँ, परन्तु इसके मिथ्या दावो का विरोधी हूँ। दूसरे शब्दो मे मेरा मापदड भिन्न है, और कुछ नही।" महादेव देसाई ने हास्यपूर्वक कहा, "मुझे ऐसा सदेह होता है कि रोम्या रोला ने महात्माजी की जीवनी मे कला के सम्बन्ध मे उनके विचारो के बारे मे जो कुछ लिखा है उसके लिए आप ही उत्तरदायी है?"

मैंने विरोध प्रकट करते हुए कहा, "मै आपको विश्वास दिलाता हूँ कि महात्माजी के कला सम्बन्धी विचारो से अपरिचित होने के कारण मैने रोम्या

रोलॉं से इस सम्बन्ध मे कभी कोई चर्चा ही नही की। और महात्माजी, आपको यह जानकर शायद प्रसन्नता हो कि जहाँ तक कला के बारे मे आपके इस विचार का सम्बन्ध है, रोला आपसे सर्वथा सहमत है। अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'क्रिस्तोफ' मे उन्होने भी यही कहा है कि जीवन को प्रत्येक दशा मे उन सब वस्तुओ का, जिन्हे यह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है, अतिक्रमण कर जाना चाहिए।" "बिल्कुल ठीक है," महात्माजी ने कहा, "मेरे लिए जीवन एक महान् रहस्य है, यह देवताओ की एक ऐसी पवित्र देन है, जिसका किसी एक दृष्टिकोण से मूल्याकन सम्भव नही। यही कारण है कि मैने इतने आग्रहपूर्वक यह बात तुम्हे कही है कि जो सबसे उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है वही सबसे महान् कलाकार है।"

उपर्युक्त वार्तालाप के बाद जब मै टहलता हुआ अपने मित्र के बगले पर लौटा तो नाना प्रकार के विचित्र प्रश्नो व विचारो ने मेरे मन को घेर लिया। महात्माजी के कला-सम्बन्धी विचारो की रोला के तत्सम्बन्धी विचारो से भिन्नता पर विचार करने लगा, जिससे मेरे स्मृतिपट पर बार-बार टालस्टाय का चित्र खिच आया (जिनकी 'कला क्या है?' पुस्तक ने मुझे किसी समय बहुत प्रभावित किया था) और मुझे स्पष्ट दिखाई देने लगा कि महात्माजी की विचारधारा रूसी कलाकार की विचारधारा से किस प्रकार प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए टॉलस्टाय का सिर्फ एक उद्धरण देता हूँ

"भिन्न-भिन्न श्रेणी के कलाकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के धर्माचार्यो की तरह परस्पर एक-दूसरे की निन्दा व बहिष्कार करते है और इस प्रकार अपना सर्वनाश करते है। हमारे समकालीन कलाकारो के भिन्न-भिन्न वर्गो की ओर देखो, प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग की निन्दा मे व्यस्त है। शृगार रस के कवि वीर रस के लेखको की निन्दा करते हैं, वीर रस के कवि शृगार व हास्य रस के कवियो को कोसते है। इसी प्रकार एक विशेष शैली के उपन्यासकार, नाट्यकार, चित्रकार व गायक अपने से भिन्न शैला को अपनाने वाले उपन्यासकार, नाट्यकार, चित्रकार व गायक के प्रति महान् रोष व घृणा का प्रदर्शन करते है। इस प्रकार वह कला, जिसकी आराधना मे मनुष्यो को इतना महान् परिश्रम व त्याग करना पडता है, पर फिर भी जो मनुष्य जीवन को पगु बना रही है, व मानवीय प्रेम के विरुद्ध विद्रोह करती है, उसकी कोई निश्चित व स्पष्ट व्याख्या नही है, और उसके पुजारी भी उसे इतने परस्पर विरोधी रूपो मे समझते व ग्रहण करते है कि यह कह सकना भी कठिन है कि कला का लक्षण या स्वरूप क्या है, और विशेष तौर पर कौन-सी वह ऐसी श्रेष्ठ या उपयोगी कला है जिसके लिए उसकी वेदी पर किये जा रहे महान् बलिदानो को क्षम्य ठहराया जा सकता है?"

इसके नौ महीने बाद ४ नवम्बर को देशबधु चितरजनदास के घर मैंने महात्माजी के दुबारा दर्शन किए। मेरा तब तक देशबधु से कोई परिचय नही था, और राजनैतिक रगमच पर मैं दूर से ही उनका प्रशसक था। इस बीच मे मैंने महात्माजी के साथ अपनी पूना की मुलाकात का पूरा विवरण गेला को लिख भेजा था, और उनका उत्तर भी मुझे मिल गया था, जिसमे मुझे एक महात्मा के कला-सबधी विचारो पर एक कलाविद् की आलोचना जानने का अवसर मिल गया था। विशाल कक्ष विभिन्न प्रान्तो के राजनैतिक नेताओ व दर्शको से भरा हुआ था, और उनके बीच देशबन्धु का प्रभावशाली व्यक्तित्व आत्मविश्वास के दृढ स्तम्भ के समान विराजमान था। उनके कौपीनधारी अतिथि उनके सम्मुख अत्यत दुर्बल, परन्तु साथ ही अत्यत मनोहारी प्रतीत होते थे।

महात्माजी ने मन्द-स्मिति के साथ मेरा स्वागत किया, और ज्यो ही मैंने उन्हे प्रणाम किया, वे बोले, "तुम्हारा वह पीडादायक यत्र कहाँ है ?' उनका निर्देश मेरे वाद्य-यत्र तम्बूरे की ओर था।

मैंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया "जब नेतागण आपको थकाकर अर्ध-मृत अवस्था में छोडकर चले जाएगे, तब उसकी बात होगी।"

"ठीक है," उन्होने हँसते हुए कहा, और फिर देशबन्धु की ओर मुडकर बोले, "आप इसके जेलर है। सावधान रहिये, वह मुझे गाना सुनाए बिना न खिसक जाय।"

"आप इस बारे मे कोई आशका न करे," मैंने हँसते हुए उत्तर दिया, "परन्तु पहले आप अपने इस कभी समाप्त न होने वाले वाद-विवाद को तो समाप्त कर लीजिये।"

वह हँस पडे, और उनके सूक्ष्म-से भोजन के उपरात पूर्ण उत्साह के साथ वाद-विवाद प्रारभ हो गया। उनके भोजन मे केवल थोडे-से अगूर, एक सेब व एक प्याला बकरी का दूध था। वे इतने अल्प आहार के सहारे किस प्रकार निरतर इतना कार्य कर लेते है यह सोचकर मैं दग रह गया।

सायकाल हो गया था और महात्माजी दिन-भर के कठोर परिश्रम के बाद अभी-अभी लेटे थे। परन्तु नेतागण अब भी उनको चारो ओर से इस प्रकार घेरे हुए थे, कि मानो वे उन्हे इतनी जल्दी गाना सुनने के लिए छुट्टी न देगे। यह एक औपचारिक सभा नही थी, अपितु उनके शयन-कक्ष मे मित्रगोष्ठी के रूप मे थी। महात्माजी एक बडे पलग पर लेटे हुए थे। ज्योही वाद-विवाद प्रारभ हुआ, वे नीचे उतर आए और मोतीलाल नेहरू, केलकर, जयकर, आजाद, तुलसी गोस्वामी व देशबन्धु आदि नेताओ के बीच फर्श पर बैठ गए। विवाद बडा ही सुन्दर था। बीच-बीच मे महात्माजी के मनोहर व्यग्य व विनोदपूर्ण

चुटकुले और मधुर हास्य बहुत ही मनोहारी प्रतीत होते थे। मैंने उस दिन महात्माजी के अदर उनकी स्वाभाविक प्रतिभा, सौदर्य व कोमलता के साथ-साथ एक अद्भुत आकर्षक व्यक्तित्व का भी दर्शन किया, जिसके कारण वह शाम मेरे लिए चिरस्मरणीय बन गई। महात्माजी के प्रत्येक व्यग्य पर हँसी का जो फव्वारा चारो तरफ फूट निकलता था, उसे मै भूल नही सकता। कैसी सहृदयता से वे स्वय भी उस हँसी मे सहयोग देते थे! जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनी मे ठीक ही लिखा है कि जिसने महात्माजी की हँसी को नही जाना है, उसने उन्हे भी नही पहचाना है। मैं इसकी पुष्टि के लिए केवल एक या दो घटनाएँ ही प्रस्तुत करता हूँ।

महात्माजी आदत के अनुसार केवल कौपीन वस्त्र ही पहने हुए थे। विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार, गृह उद्योगो के भिन्न-भिन्न प्रकार व सारे देश मे उनके प्रचार के उपाय तथा उसमे अब तक प्राप्त हुई सफलता, और काग्रेस आन्दोलन को और अधिक बढाने के विभिन्न तरीके व साधन, इसी प्रकार के विचारो को लेकर चर्चा चल रही थी। उपस्थित नेताओ मे से अधिकतर महात्माजी से सहमत न थे। उन्हे, हाथ से कते हुए सूत के खद्दर को, जिसे महात्माजी सारे मानवीय रोगो की एकमात्र रामबाण औषधि बतलाते थे, पूर्ण रूप से अपनाना बहुत-कुछ कठिन प्रतीत होता था। जब महात्माजी ने उसी दयनीय अपने परम प्रिय खद्दर के आन्दोलन को आगे बढाने का एक नया प्रस्ताव उपस्थित किया, जिससे प्राय सभी आतरिक घृणा करते थे, तो हरएक ने अपने-अपने तरीके से उसके प्रति अपना रोष व विरोध प्रकट किया। चारो ओर से महात्माजी के विरुद्ध तर्क का झझावात चल पडा। लेकिन महात्माजी अपने पक्ष के लिए पर्वत के समान अटल बने रहे। किसी प्रकार का भी क्षोभ उन्हे न हुआ। वह उसी सरल हँसी के साथ सबके प्रश्नो का उत्तर देते रहे और अन्त मे आश्चर्यपूर्वक देखा कि उनके सब विरोधियो ने उनके प्रत्येक निर्देश को स्वीकार कर लिया। हारे हुए पक्षो की वकालत व हिमायत करने मे महात्माजी अद्वितीय योद्धा है—परन्तु उस मित्रगोष्ठी मे महात्माजी के लिए भी अपने विपक्षियो को अपने पक्ष मे लाना एक अत्यत कठिन कार्य था। भारत के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क उनके कार्य मे अपना अविश्वास व अश्रद्धा प्रकट करने के लिए एकत्रित हुए थे। लेकिन वह दुर्बल खिलाडी हार न मानता था। उनकी अविचलित शान्ति, अपने विरोधियो के विचारो को सुनने मे असीम धैर्य, विभिन्न दृष्टिकोणो को देखने व समझने की तत्परता, एक ही आपत्ति का अन्त समय तक बार-बार उत्तर देना, यह सब गुण आश्चर्यचकित करने वाले थे। इसके साथ-साथ उनकी

विनोद-व्यग्य-प्रियता, और समयानुकूल उच्च हास्य और नाना प्रकार के हास्य-रसपूर्ण चुटकुलो व दतकथाओ के उद्धरण जोकि परस्पर विरोधी होने के साथ-साथ अत्यत कीमती भी होते थे, और सबसे बढकर अपने कट्टर विरोधियो के विचारो के प्रति उनकी आश्चर्यजनक सहिष्णुता, यह सब ऐसे गुण है, जिनको दृष्टि मे रखते हुए किसी हद तक हम यह कल्पना कर सकते है कि मित्र गोष्ठियो मे भी महात्मा गाधी का व्यक्तित्व कितना महान् था। मै सारे दृश्य को अकित करना चाहता था। लेकिन वह मेरे वर्तमान क्षेत्र से बाहर हो जायगा। इसलिए केवल एक-दो उदाहरण देता हूँ।

एक प्रसिद्ध कृष्णश्मश्रु नेता ने (जिनका नाम मैं नही देना चाहता) शोरगुल के बीच मे से उठकर कहा कि मै केवल कौसिल मे ही खद्दर पहनकर जाना पसद करता हूं।

"क्यो ?" महात्माजी ने मुस्कराते हुए पूछा।

"क्योकि," उस श्मश्रुधारी बहादुर ने उत्तर दिया, "बाह्याचार परायण अग्रेज कौसिल मे इसे पसन्द नही करते। और ससार मे उन्हे चिढाने से बढकर और बडा आनन्द क्या हो सकता है ?"

"ठीक है," महात्माजी ने कहा, "लेकिन तुम्हारी इस बात से जानते हो मुझे किसकी याद आ जाती है ? उस मित्र की जो मुझे यह विश्वास दिलाया करते थे, कि वह अग्रेजी कौसिलो मे अग्रेजो को चिढाने के लिए खद्दर पहनकर जाते है, और काग्रेस की सभा मे मुझे चिढाने के लिए मिल का कपडा पहनकर आते हैं।"

यह सुनकर सब श्रोतागण कहकहा मारकर हँसने लगे। और उस श्मश्रुधारी नेता ने तो सबको ही मात कर दिया।

इस पर मुझे हमारे पाश्चात्य प्रेम के प्रति द्विजेन्द्रलाल राय का प्रसिद्ध हास्य-गान याद हो आया

हमारी कठिनाई यह भाई।
साबुन मलमल चमडी घिस दी
पर न सफेदी तिलभर आई
हारे, कर निशिदिन उपचार।
लौट विलायत से चालू की
काग्रेस बडे जोश के साथ
पर देव हमारे वही है साहब,
जिन्हे चिढाकर हो हम शाद।

तथापि कुछ ऐसे भी अधभक्त व्यक्ति है, जो महात्माओ की तनिक-सी अप्रतिष्ठा मे अत्यत विक्षुब्ध हो उठते है। ऐसे ही एक श्रद्धालु व्यक्ति ने कहा, "लेकिन,

महात्माजी, आपके उस मित्र का अभिप्राय सम्भवत आपको चिढाना न होगा।"

महात्माजी ने मन्द हास्य से कहा, "मेरे मित्र, मैं यह जानता हूँ, लेकिन मैं इस कल्पना का आनन्द क्यो न लूं?"

और लोगों की खिलखिलाहट के मध्य उस श्रद्धालु भक्त को भी मजबूरन हँसना पडा।

लेकिन देशबन्धुदास ने उत्तेजित होकर कहा, "महात्माजी दया करके, एक तुच्छ-सी वस्तु के लिए हठ करके हमे पागल मत बनाइए। दोनो पाटो के बीच हमारा सर्वनाश न कीजिए।" (जयकर की तरफ दृष्टि डालकर) "एक तरफ जयकर जैसे दुराग्रही मराठे, और "

"दूसरी तरफ असाध्य गुजराती पागल," महात्माजी झट बोल उठे। ऐसे क्षण का आनन्द अवर्णनीय होता है। लेकिन ऐसी विनोदपूर्ण व्यग्योक्तियो की सजीवता उस समय प्राय विनष्ट हो जाती है, जबकि आनन्ददायक व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि व आधार से उन्हे पृथक् कर दिया जाता है। मुझे ठीक याद है कि उन हास्य और विनोद के बीच मुझे बार-बार इस क्षीणकाय व्यक्ति के १९२१ के मुकदमे के अवसर की बात स्मरण हो आई, जबकि न्यायाधीश के छ साल का कारावास दड सुनाने से पूर्व उसने शान्त चित्त से न्यायाधीश को सम्बोधित करते हुए उन शब्दो मे कहा था जो इतिहास मे अमर हो गये है

"मै यहा पर जान-बूझकर किए हुए अपने अपराध के लिए, जिसे मैने एक देशवासी का पवित्रतम कर्तव्य समझते हुए किया है, कठोर से कठोरतम दड सहर्ष आमत्रित और स्वीकार करने के लिए उपस्थित हूं। न्यायाधीश महोदय व सहकारी पचगण! आपके लिए दो ही मार्ग खुले हुए है। यदि आप यह अनुभव करते है, कि जिस शासन-प्रणाली व कानून के सचालन मे आप मदद कर रहे है, वह पापमय है और मै वास्तव मे निर्दोष हू, तो आप अपने पद से त्यागपत्र देकर अपने को उस पाप से मुक्त कर ले। पर यदि आपका यह विश्वास है कि जिस शासनतत्र व कानून के सचालन मे आप सहयोग दे रहे है वह इस देश की प्रजा के लिए हितकारी है, और इसलिए मेरी चेष्टाएँ जनता की शान्ति को खतरे मे डालने वाली है, तो मुझे कठोरतम दड देकर अपना कर्तव्य पालन करे।"

उस दिन मुझे पहली बार महात्माजी के व्यक्तित्व के चमत्कारपूर्ण पहलू की झांकियां देखने का अवसर प्राप्त हुआ, क्योंकि जितने भी नेता वहाँ उपस्थित थे वे पहले दिन सवेरे ही उनके शुद्ध खद्दर के नुस्खे के अनुयायी हो गये थे। उनमें से हर एक हृदय से उनकी खद्दर-प्रचार-सम्बन्धी योजना मे [illegible] था। तथापि तमाम विरोधी तूफानों, झंझावातों और विद्रोहों [illegible] गया, जिस प्रकार [illegible] निस्सार नुस्खे मे

चट्टान की तरह दृढ विश्वास लिये, अटल मूर्ति के समान अविचलित रूप से विराजमान थी। हमारे इस वर्तमान युग मे कितनो को यह तुच्छ-सा चरखा प्रेरणा दे सकता है ? लेकिन फिर भी इस समय की गति के विरोधी हास्यमय व्यक्ति ने प्राचीन युग के इस प्रारम्भिक अवशेषो के लिए, जो वर्तमान के ढाँचे मे किसी प्रकार भी अपनी सगति नही बैठा सकता, कैसे इतनी जबर्दस्त विरोधी शक्तियो के मुकाबले मे ऐसा सग्राम लडा, यह एक ऐसी घटना है, जिसे देखकर हैनिबाल भी दग रह जाता। और सबसे अधिक आश्चर्य तो यह है कि उसने किन शस्त्रो द्वारा अपने विरोधियो पर विजय प्राप्त की, यह केवल परमात्मा ही जान सकता है। बेजोड बैरिस्टर दास ने इस चमत्कार को देखकर यह ठीक ही कहा था कि उन्हे अपने वकालत के बीस साल के लम्बे जीवन मे ऐसे क्षीणकाय परन्तु महत्तर शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी से कभी पाला नही पडा।

दीर्घ वाद-विवाद के बाद जब शान्ति का राज्य स्थापित हुआ, तब मुझे अनुभव हुआ कि जीवन के अभिशापो के बीच मृत्यु भी एक वरदान हो सकती है—कितने अनन्तकाल के बाद! एक-एक करके सब नेतागण विदा हो गये।

महात्माजी ने मेरी ओर दृष्टि-निक्षेप करते हुए कहा "अच्छा!"

मैंने सकोचपूर्वक कहा, "लेकिन आप कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के बाद थक नही गए है ?"

"इसलिए तो यह और भी आवश्यक है कि तुम अपनी मनोमुग्धकारी बासुरी बजाओ," उन्होने मेरी आपत्ति को काटते हुए कहा।

मैं हँस पडा और प्रसन्न हो कबीर का एक भजन गाने लगा

जिन के हिय में श्री राम बसे
उन साधन और किए न किए!
जिन सत चरण रज को परसा
उन तीरथ नीर पिये न पिये!
सब भूत दया जिनके चित मे
तिन कोटिन्ह दान दिये न दिये!
नित रामरूप जो ध्यान धरे
उन राम का नाम लिये न लिये!

यह देखकर बडा आनन्दप्रद आश्चर्य होता था कि वह व्यक्ति जो अभी थोडी देर पहले ही वाद-विवाद के रेतीले मैदान मे एक खुशदिल बनजारे के समान विचरण कर रहा था, उसे सगीत कैसे प्रभावित करता था ? कभी भी न मुरझाने वाली ताजगी का गुप्त स्रोत उसके अन्दर कहाँ

छिपा हुआ था ?

"लेकिन महात्माजी," मैने कुछ क्षण वाद कहा, "आज मै आपको गाना सुनाने के लिए नही आया हूँ।"

वह विस्मित दृष्टि से मेरी तरफ देखने लगे।

"आप शकित न हो।" मैंने कहा, "मैं आपको एक पत्र सुनाना चाहता हूँ।"

"पत्र ! किसका ?"

"मैने आपके साथ पूना अस्पताल मे हुए वार्तालाप का विवरण रोला को भेजा था। उन्होने आपके कला-सम्बन्धी विचारो पर कुछ आलोचना की है। मेरा खयाल है आपको भी उसमे दिलचस्पी होगी।"

"क्यो नही, निस्सदेह !" उन्होने प्रसन्न होकर कहा, "कृपा कर पढकर सुनाओ। नही, नही, विश्वास करो मैं बिल्कुल भी थका नही हूँ।"

मैंने उन्हे निम्नलिखित पत्र पढकर सुनाया जिसे उन्होने बिस्तर पर लेटे हुए ध्यानपूर्वक सुना और वीच-वीच मे कही-कही सहमति-सूचक व आलोचनात्मक शब्द भी कहते रहे।

"प्रिय दिलीप कुमार राय, बम्बई-से तुमने जो पत्र मुझे भेजा है उसके लिए स्नेहपूर्वक धन्यवाद। महात्मा गाधी के सम्मुख तुमने जिन नम्र शब्दो मे मुझे उपस्थित किया है, उसके लिए भी मैं तुम्हे धन्यवाद देता हूं। उनके साथ तुम्हारा वार्तालाप अत्यत मनोरजक है। सम्भवत मै इसका अनुवाद (मुझसे सम्बन्ध रखने वाले भाग को छोडकर) किसी फ्रासीसी पत्रिका मे प्रकाशित करूँगा। कला के सम्वन्ध मे उनकी विचारधारा का जानना वहुत ही आवश्यक है और तुमने ही सवसे पहले इसे सवके सम्मुख प्रकट किया है। लेकिन मुझे इस वात का दुख है कि महात्माजी कला के वारे मे अपने विचार प्रकट करते हुए वीच मे ही एकदम क्या रुक गये ! जिस स्थान पर उन्होने ताराजटित आकाश के सम्वन्ध मे अपना मनोभाव प्रकट किया है, वहाँ उसके ठीक वाद यदि वह यह कहते 'परन्तु मै इस कारण उत्कृष्ट भारतीय चित्रकला और स्थापत्य कला का कम अनुरागी नही हूँ' तो कितना अच्छा होता। किन्तु वे केवल तारामडित आकाश की कथा कहकर ही शान्त हो गए। यह वात तो निस्मदेह सत्य है कि प्रकृति ही सबसे वडी कलाकार है। परन्तु हम महात्माजी जैसे महान् पुरुप से यह आशा करते है कि वे प्रकृति की स्तुति के साथ-साथ इस प्रकार की वात कहें 'मनुष्य भी उस प्रकृति के पद-चिन्हो का अनुसरण करके रेखा, रग, ध्वनि और विचार मे प्रकृति के समान ही सुन्दर व सतुलित रचनाएँ करने की चेष्टा करे।' उनका प्रकृति-सम्वन्धी वर्णन पढने पर मन मे ऐसा भाव उदित होता है कि उनकी

धारणा प्रकृति व उसके अतर्व्याप्त दिव्य तत्त्व के सम्मुख निष्क्रिय रहने का है। लेकिन यदि हम सबके अन्दर ईश्वर विद्यमान है, तो क्या हमे अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस परम-सौदर्य-नियता प्रभु की प्रतिमूर्ति बनने की चेष्टा न करनी चाहिए ?

"तुम्हारे कथोपकथन को पढने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने महात्माजी के कला-सम्बन्धी विचारो के बारे मे जो लिखा था, उससे उन्हे व उनके मित्रो को कुछ क्षोभ हुआ है। लेकिन इस सम्बन्ध मे मैंने उनकी कोई स्वतत्र आलोचना की हो, ऐसा मुझे याद नही पडता। किन्तु यदि असावधानी से मुझसे अपनी पुस्तक मे, इस सम्बन्ध मे कोई भूल-चूक हुई हो, अथवा अनजाने मे कुछ अप्रीतिकर लिखा गया हो, तो इसके लिए मुझसे बढकर खेद और किसी को न होगा। एक योरोपियन से एशिया की एक महान् आत्मा को समझने मे कुछ भूल हो जाना बहुत स्वाभाविक है, चाहे उस महान् आत्मा के प्रति उसकी श्रद्धा व प्रेम उतना ही नैसर्गिक व गम्भीर क्यो न हो, जितना कि मेरा महात्माजी के प्रति है। लेकिन अपने बारे मे मैं इतना अवश्य विश्वास के साथ कह सकता हूं कि किसी जीवित आत्मा की गहराई को जानने की उत्सुकता मे मैं कभी भी आत्म-अहकार को अपने अन्दर स्थान नही देता। मेरी केवल यही इच्छा है कि मेरी भूले मुझे बता दी जाये, ताकि मै उनका सुधार कर सकूँ।

अब तुम्हारे पत्र के बारे मे

"तुमने अपने पत्र मे इस बात पर खेदपूर्वक बडा आश्चर्य प्रकट किया है कि जब १६२२ मे महात्माजी को छ साल के कारावास की सजा हुई थी तब किसी भी योरोपीय ने (विचारक व राजनीतिज्ञ ने) भारत के प्रति थोडी-सी भी सहानुभूति प्रदर्शित नही की। लेकिन क्या तुम जानते हो कि महात्माजी व उनके दार्शनिक विचारो के बारे मे जितना भ्रम योरोप मे रहने वाले प्रवासी भारतीयो ने पैदा किया है, उतना और किसी ने नही किया ? उनमे से कुछ लोग गाधी को एक ऐसे दैत्य पुरुष के रूप मे प्रकट करते है, जिसके अन्दर व्यावहारिक बुद्धि का लेश भी नही है। और कुछ लोग उन्हे एक ऐसे कट्टर बोलशेविक के रूप मे उपस्थित करते है, जिसने अहिंसा की नीति को केवल अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए ही सामयिक नीति के रूप मे अपना रखा है। इसका परिणाम यह होता है कि हम दो सर्वथा परस्पर विरोधी कल्पनाओ के बीच आश्चर्यचकित हुए खडे रह जाते है। यही तक नही, जब अन्तर्राष्ट्रीय महिला शान्ति स्वातत्र्य सघ ने महात्माजी के कारादड के विरुद्ध प्रदर्शन व आन्दोलन [करने का निश्चय किया, तो उन्हे कुछ भारतीय नारियो की ओर से उत्तेजित भाषा मे लिखा एक पत्र मिला,

जिस पर उन भारतीय महिलाओ के हस्ताक्षर थे और उक्त प्रस्ताव का प्रबल प्रतिवाद किया गया था। उनका कहना था कि गाधी वास्तव मे सदा हिंसा का प्रबल समर्थक रहा है। पत्र मे किसी जगह से तोड-मरोडकर उनका एक उद्धरण भी दिया गया था, जिसमे उन्होने कहा था कि भारत खून के समुद्र मे चलकर ही स्वतत्रता प्राप्त कर सकता है। उन्होने उनके वास्तविक अर्थ को दवाने की पूरी चेष्टा की थी, यद्यपि गाधीजी का तात्पर्य अपने विरोधियो के खून से नही वरन् लाखो अहिंसक भक्तो के बलिदान से था। मै तुम्हे इन दुर्भावनापूर्ण भारतीयो के नाम नही प्रकट करना चाहता। प्रथम तो मुझे इस बात का अधिकार नही, दूसरे मैं उन दुष्ट भारतीय नारियो को अन्य भारतीयो का कोपभाजन भी नही बनाना चाहता। (इसके अतिरिक्त क्या यह महात्माजी की अपनी शिक्षा व इच्छा के भी विरुद्ध न होगा ?) तुम्हे यह बात न भूलनी चाहिए कि योरोपवासियो को भारत और भारतीयो के विषय मे, तुम जैसे व्यक्तियो से, जिन्हे सत्य पर निष्ठा और अपनी महान् विरासत के प्रति प्रेम है, बहुत ही कम अवसरो पर कुछ सुनने का मौका मिलता है।

"यह सब-कुछ होने के बावजूद, जिन घृणित अत्याचारो के भार के नीचे आज दो-तिहाई मानवता दबी हुई है, उनकी तुलना मे वह अन्याय, जिससे भारत आक्रात है, महासागरो मे एक समुद्र के समान है। योरोप मे भी वीर-पुरुषो द्वारा सहानुभूति की अभिव्यक्ति के प्रयत्नो को दबा दिया जाता है। और साधारण मनुष्यो की दृष्टि अपने वर्तमान कष्टो की परिधि से परे नही पहुँच पाती। हमे इन सब बातो को ध्यान मे रखना चाहिए और थोडा उदार होना चाहिए।

"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, प्रिय मित्र, मै तुम्हे पूर्ण सचाई के साथ विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अपने देश अथवा योरोप की दुनिया के अन्य देशो की अपेक्षा कोई अधिकतम महत्त्व नही देता। मै प्रत्येक प्राणी को अपना भाई समझता हूँ, उसके कप्ट और उसकी अभिलाषाएँ मेरे हृदय को स्पर्श करती है। मैं व्यर्थ ही एक ऐसी जाति को खोजने का प्रयत्न करता हूं जिसके लिए मैं मूलत विदेशी और अपरिचित हूं। परन्तु मुझे अभी तक कभी विदेशी जलवायु नही मिली है। मेरे लिए सब जगह अपना घर है ' आश्चर्य तो केवल यह है कि एशिया और योरोप की बहुसख्यक जनता इस गहरी एकता का अनुभव करने मे असमर्थ है।

"यह एक तथ्य है कि वे इस सचाई को देखने मे असमर्थ है। और यही मेरे देशवासियो की मेरे प्रति विरक्ति का भी मूल कारण है। वास्तव मे मैं उन्हे एक विदेशी दिखाई देता हूँ, क्योकि मै अपने-आपको किसी प्रान्त की

भौगोलिक चारदीवारी मे बाँधने से इनकार करता हूँ। और यही मेरे जीवन के काफी लम्बे समय की दुखान्त घटनाओ और कष्टो का मूल कारण है।"

यहाँ मैं रुका और महात्माजी से बोला कि रोलाँ ने अपने समकालीन देशवासियो द्वारा कितना कष्ट पाया है। मैंने उन्हे रोलाँ की एक पुस्तक-भूमिका मे से उसका एक उद्धरण सुनाया, जो यह था।

"गत वर्ष मुझे पता लगा कि मेरे शत्रुओ की सख्या बहुत काफी है। लेकिन मैं उनसे केवल यही कहना चाहता हूँ कि वे मुझसे घृणा कर सकते हैं, परन्तु मुझे घृणा करना सिखाने मे सफल नही हो सकते। मुझे उनसे कुछ लेना नहीं है। मुझे जो न्यायोचित व सत्य प्रतीत होता है, उसका प्रचार करना ही मेरा कर्तव्य है। वे उससे प्रसन्न होते है या चिढते है, इससे मुझे कोई सरोकार नही। मुझे विश्वास है कि उच्चारित शब्द अपना मार्ग स्वय बना लेते है। मैं उन्हे रक्तरजित भूमि मे बो रहा हूं, और निश्चय ही एक दिन वे अवश्य फल देगे।"

मैंने पुन आगे पढना प्रारम्भ किया

"मेरी केवल यही अभिलाषा है कि मेरे अपने कष्ट भी मनुष्यो के पारस्परिक सहानुभूति और मेल के मार्ग को दृढ बनाते हुए, उनके भावी सुख मे अपना तुच्छ भाग अर्पण कर सके।

"यद्यपि तुम पहले भी गाधीजी के बारे मे मेरे बहुत काफी लेख पढ चुके हो, पर इस बार मैं उनके बारे मे लिखी अपनी पुस्तक भेज रहा हूँ। यह पुस्तक योरोप मे काफी पढी गई है। यद्यपि समालोचक, लेखक के विषय मे जान-बूझकर पूर्णतया चुप है (जैसा कि मेरे बारे मे उनका सदा ही रुख रहा है), पुस्तक के कई सस्करण हो चुके हैं और उससे ससार-भर के युद्ध-प्रेमियो और साम्राज्यवादियो को बडा धक्का पहुँचा है।

"तुम्हारे देश मे आने की मेरी बडी अभिलाषा है। मेरी आर्थिक कठिनाइयाँ या मेरा नाजुक स्वास्थ्य मेरे भारत आने के मार्ग मे बाधक नही है। सिर्फ मैं अपने वृद्ध पिता को यहाँ अकेला नही छोड सकता।

"आशा करता हूँ कि तुम सदा की भाँति अपने सगीत के अभ्यास मे लगे होगे। इसे मत छोडना। तुम्हारा कार्य अति सुन्दर है, और तुम उसी के लिए बनाए गए हो, किसी अन्य को इसका श्रेय न लेने दो।

"अच्छा मित्र नमस्कार। मैं प्राय नही लिखता पर जब लिखता हूँ तो खूब विस्तार से लिखता हूँ।"

तुम्हारा स्नेहासक्त
रोम्याँ रोलाँ

तब मैंने महात्माजी का ध्यान उनके इस वक्तव्य की ओर आकृष्ट किया, "ईश्वर की कृति के सम्मुख मनुष्य की कृति फीकी पड़ जाती है'। मैंने कहा कि उनके इस कथन से, उनकी सब व्याख्याओ के बावजूद, कुछ ऐसा प्रभाव पड़ने की आशका है कि वे कला मात्र के विरुद्ध है।

महात्माजी हँसे।

"लेकिन जब मैंने तुमसे ऐसा कहा था, तो मेरा यह अभिप्राय नही था कि कलाओ की एकदम उपेक्षा कर दी जाय। क्या मै नही जानता कि लोगो के स्वभाव व रुचि भिन्न-भिन्न होती है। मेरा तात्पर्य तो यही था कि जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझे स्व-प्रेरणा के लिए चित्रकला जैसी कृत्रिम कला की आवश्यकता नही, क्योकि मुझे तारागच्छादित आकाश के दर्शन से ही काफी सतोष मिल जाता है। शायद योरोप को अपनी सतुष्टि के लिए चित्रो की आवश्यकता है। उसके पास हमारे जैसा निर्मल आकाश नही है।"

"लेकिन यदि उसका आकाश भी हमारे ही तरह स्वच्छ होता, तो वह भी क्या चित्रकला के प्रति ऐसे ही उदासीन होता ?"

"नही, चित्रो के प्रति उसका प्रेम अन्य कारणो से भी हो सकता है। मै केवल तुम पर यह बात अकित करना चाहता था कि व्यक्तिगत रूप से मुझे चित्र निरर्थक मालूम होते है। यही कारण है कि मै आश्रम की दीवारे नगी रखता हूं। और इसके अतिरिक्त मै उनका खर्च भी बर्दाश्त नही कर सकता।"

"परन्तु, महात्माजी, मुझे कला के प्रति आपके दृष्टिकोण से मतलब है, आर्थिक पहलू से नही। मान लीजिए कि आप उनका खर्च बर्दाश्त कर सकते है, क्या फिर भी आप चित्रो का बहिष्कार कर देगे ?"

"अच्छा," महात्माजी ने मुस्कराते हुए कहा, "यदि तुम्हे मेरी रुचि और आवश्यकताओ के प्रति इतनी सहानुभूतिपूर्ण उत्सुकता है, तो मै पुन दोहरा दूं कि मुझे चित्रो मे दिलचस्पी नही है। और इससे मेरा सिर्फ यही अर्थ है कि मै उन्हे प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न न करूँगा और न कदापि यह चाहूंगा कि दूसरे लोग मेरी दीवारो के लिए चित्र जुटावे।"

"लेकिन देखो," वह उसी नम्र मुस्कान के साथ कहते गए, "मै दीवारो के भी विरुद्ध हूं। और जब कोई अपनी दीवारो के बधन से भी मुक्त होना चाहता है, तो उसके हृदय मे उन्हे चित्रो से सजाने की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? मुझे ऐसा लगता है कि दीवारे मुझे कैद कर लेती है, मेरी स्वतन्त्रता मे बाधा डालती है, और प्रकृति से पृथक् कर देती है। क्या तुम मेरा अभिप्राय समझ रहे हो ?"

मैंने सिर झुकाकर सहमति प्रकट की।

"क्या आपका अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति के लिए मनुष्य मात्र चित्रो का त्याग कर देते तो कैसा अच्छा होता ?" मैने कहा।

महात्माजी ने सदा की भाँति तत्परता से कहा, "यह उनके स्वभाव, रुचि व बुद्धि पर निर्भर है। मैने तुम्हे बताया कि जहाँ तक मेरा सबध है, प्रकृति मेरे लिए पर्याप्त है। मुझे किसी अन्य कृत्रिम सौंदर्य की आवश्यकता नही। परन्तु दूसरो के लिए, यदि वे वास्तव मे यह विश्वास करते हैं कि चित्र-कारी जैसी कलाएँ मानवता का कुछ कल्याण करती है, तो बडी अच्छी बात है। लेकिन कलाकार को केवल आत्मवचना व अहकार से बचना चाहिए। उसे जनता के प्रति अपने कर्तव्य-पालन के लिए सदा जागरूक रहना चाहिए। जिस हद तक उसकी कला, जनता को लाभ पहुँचाती है, उसका समर्थन होना चाहिए, और जिस हद तक वह ऐसा नही करती उसे अनुत्साहित करना चाहिए।"

"लेकिन यदि साधारण जनता उसकी कला को समझने मे अभी समर्थ न हो ? बहुत-सी उच्च प्रकार की कलाओ को समझने के लिए एक विशिष्ट शिक्षा या सास्कृतिक साधना की आवश्यकता होती है। क्या ऐसा नही है ?"

"तुम्हारा असली तात्पर्य क्या है ?"

"क्या विशेषज्ञता जैसी कोई वस्तु नही है ? कोई भी उच्च कला उन मनुष्यो द्वारा नही समझी जा सकती, जिन्होने तद्विषयक एक विशिष्ट सास्कृतिक शिक्षा न प्राप्त की हो।"

"मुझे वे लोग एक आँख भी नही भाते, जो विशेषता की दुहाई देते है। एक सच्ची कलात्मक रचना को सबको प्रभावित करना चाहिए।"

मुझे टालस्टाय के निम्न प्रख्यात कथन का स्मरण हो आया

ज्यो ही उस धार्मिक अनुभूति को, जो पहले से ही अज्ञात रूप से हमारे जीवन को चला रही है, बुद्धि द्वारा अगीकार कर लिया जाएगा, त्योही स्वाभाविक रूप से निम्न वर्ग की कला व उच्च वर्ग की कला के बीच का भेद मिट जायेगा। तब केवल एक सर्व-सम्मत भ्रातृत्वपूर्ण और सार्वभौम कला होगी, और वह कला, जो हमारे युग की धार्मिक अनुभूति से मेल नही खाती, और वे भावनाएँ, जो मनुष्यो को आपस मे मिलाने के स्थान पर एक-दूसरे से पृथक् करती है सर्वथा त्याग दी जाएँगी—और तब उस एकान्तिक और निरर्थक कला का भी परित्याग कर दिया जायेगा जिसे आज अनावश्यक महत्त्व प्रदान किया जा रहा है।

'आप विशेषज्ञता के क्यो इतने विरुद्ध हैं ?" कुछ देर चुप रहने के बाद मैने साहस करके पूछा।

"उत्तर मे मैं तुमसे एक विपरीत प्रश्न पूछता हूँ, तुम कला की सार्वभौमिकता के विरुद्ध क्यो हो ? उसे जनसाधारण की सहानुभूति से प्रेरणा क्यो न लेनी चाहिए, उसकी धमनियो मे मानवता का प्राणदायी रक्त क्यो न प्रवाहित होना चाहिए ? तुम इस सरल से तथ्य को क्यो नही देखते कि जब प्रकृति माता ही, जो सब कलाओ की आदि जननी है, अपने दान मे किसी प्रकार की कृपणता नही करती तो सन्तान को कृपण क्यो होना चाहिए ? प्रकृति कभी भी अपने-आपको इस प्रकार विशेषज्ञता से आबद्ध नही करती कि कुछ थोडे-से चुने हुए सुसस्कृत व्यक्ति ही उसकी अपार सम्पदा का भोग कर सके, और शेष करोडो नर-नारी अस्पृश्यो की भाँति उसके उपहारो से वचित रह जाये। फिर क्यो तुम कला को कुछ गिने-चुने विशेषाधिकार-प्राप्त व्यक्तियो के हाथ का खिलौना बनाना चाहते हो ? वास्तव मे सच्ची कला का कदापि यह उद्देश्य नही कि वह कुछ चुने हुए मुट्ठी-भर विशेषज्ञो तक ही सीमित रहे। वह जनसाधारण से नाता क्यो तोड दे ? मै नही समझता कि जब तक कोई कला जनता की विस्तृत माँग द्वारा निरन्तर प्रोत्साहन प्राप्त नही करती तब तक उसका पुनरुद्धार कैसे सम्भव है ? कला की रक्षा ही कैसे हो सकती है, यदि तुम इसकी जडो को पृथ्वी के रस से, जो जीवन का स्रोत है, नही सीचोगे ? तुम कला को केवल उच्च श्रेणी के कुछ लोगो का खिलौना क्यो बनाना चाहते हो ?"

"लेकिन विचारो की ऊँची उडानो की भाँति, सौदर्य की उत्कृष्टतम कृतियाँ भी, कम-से-कम अभी काफी समय के लिए, क्या बहुसख्यको की समझ से परे नही है ? जनसाधारण के जीवन व जनता की विस्तृत गुण-ग्राहकता की प्रशसा तथा थोडे सुसस्कृत व्यक्तियो तक ही सीमित कला की निन्दा, यह सब ठीक है। लेकिन एक बात मुझे साफ-साफ बताइये क्या आप वस्तुत यह सोचते है कि जनसाधारण, मानव जाति की उच्चतम उक्तियो और गहनतम दार्शनिक विचारो को इसी क्षण समझने मे समर्थ है ? अथवा आपका ऐसा विचार है कि दार्शनिक विचारो पर यह सिद्धात लागू नही होता।"

"नही, मेरा विचार है कि किसी उच्च दार्शनिक अथवा धार्मिक विचारधारा की गहनतम उक्तियो को भी कला के समान ही सर्व-साधारण को प्रभावित करना चाहिए। उस विशेषज्ञता मे मुझे कोई सार नही दीखता जिसका विस्तृत जन-समूह के लिए कोई उपयोग या अर्थ नही है। उसका केवल एक ही प्रत्यक्ष परिणाम दिखाई देता है कि वह कुछ लोगो को अहकारी बना देती है और सहानुभूति तथा स्नेह के स्थान पर उनके हृदय मे अवज्ञा और घृणा के बीज बो देती है। क्या इस विकृत प्रवृत्ति मे कोई प्रशसनीय वस्तु है ? क्या तुम सोचते हो कि वे कार्य, जो एकता के स्थान पर विभाजन को प्रोत्साहन देते है, कभी उसके कर्ता

के गौरव को बढा सकते हैं ? ऐसी कला की आराधना की अपेक्षा क्या यह हजार गुना अच्छा नही कि हम मानवता के विस्तृत कष्टो को हल्का करने की चेष्टा करे, और दुखो मे आकठ डूबे मनुष्यो के उन आँसुओ को पोछने के लिए, सहानुभूति का प्रलेप और ज्ञान का प्रकाश हाथ मे लेकर आगे बढे ?"

उनके कथन की सरलता, विनम्रता और सत्यता, इतनी हृदयस्पर्शी थी कि उसने मुझे एकदम मुग्ध व अभिभूत कर दिया। और मुझे उनके उस प्रत्युत्तर का स्मरण हो आया, जो उन्होने ऐसे ही प्रसग मे एक बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर को दिया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब एक बार महात्माजी पर, उनके अपनी महान् सस्कृति व कला पर यथेष्ट ध्यान न देने, तथा केवल मानवीय कष्टो मे व्यस्त रहने का दोषारोपण किया, उस समय गाधीजी ने अपनी स्वाभाविक उत्तेजना के साथ काव्यमय शब्दो मे उत्तर दिया था।

महात्माजी ने कहा था, "अपनी कवि-सुलभ सहज प्रेरणा के अनुसार, कवि कल के लिए जीवित रहता है, और हमसे भी वह यही आशा करता है। वह हमारी आँखो के सामने उन चिडियो का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है, जो बहुत सवेरे, आकाश मे ऊंचे उडती हुई स्तुति-गान गाती हैं। इन चिडियो को पेटभर खाना मिल चुका है, इनकी नसो मे, पिछली रात के विश्राम के बाद नया खून दौड रहा है, और वे विश्रान्त पखो से आकाश मे विचरण कर रही है। परन्तु मुझे उन चिडियो की देखभाल करनी पडती है, जिनके पखो मे शक्ति के अभाव के कारण एक बार फडफडाने की भी सामर्थ्य नही रही है। भारतीय आकाश के नीचे मानव चिडिया प्रात उठने के समय, रात्रि का विश्राम करने से पूर्व की अवस्था से भी अधिक कमजोर हो जाती है। लाखो के लिए यह शाश्वत जागरण है या शाश्वत समाधि है। यह एक ऐसी अवर्णनीय दयनीय अवस्था है, जिसका अनुभव व साक्षात्कार करना आवश्यक है। मैंने ऐसे पीडित रोगियो को देखा है, जिन्हे कबीर से कोई सात्वना देना असम्भव था। भूखी जनता केवल एक ही कविता चाहती है शक्तिदायी भोजन।"

कवि ने भी गाधीजी के विषय मे निरर्थक नही कहा था

"महात्मा ने भारत का हृदय प्रेम से वशीभूत कर लिया है, इसके लिए हम सबने उसकी सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है। उसने हमे सत्य की शक्ति के दर्शन कराये है, इसके लिए उसके प्रति हमारी असीम कृतज्ञता है। हम सत्य के बारे मे पुस्तको मे पढते है, उस पर चर्चा भी करते है, लेकिन यह एक अत्यत महत्त्व का दिन है जबकि हम उसे अपनी आँखो के सामने प्रत्यक्ष देख रहे है। शताब्दियो के ऐसे विरले क्षण कभी आते है, जब मनुष्य को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है। हम हर दूसरे दिन काग्रेस को बना और बिगाड सकते हैं। हमारे लिए देश का दौरा लगाकर अग्रेजी मे

कभी गाना सुनाते है, और मुझे उन सुन्दर भजनो का स्मरण कराते रहते है, जो तुम मुझे गाकर सुनाते थे ”

१९३७ मे मै कलकत्ता गया। वहाँ मेरा एक सुखी परिवार के साथ सम्पर्क हुआ। श्री धरणीकुमार बोस ने, जो एक इजीनियर थे, अपनी षोडश-वर्षीय पुत्री उमा को, जिसमे उच्च सगीत-प्रतिभा विद्यमान थी, मेरे सरक्षण मे छोड दिया। गानविद्या मे उसकी इतनी शीघ्र तथा आश्चर्यजनक उन्नति देखकर मै दग रह गया। मै उसे अपने प्रिय रहस्यवादी और भक्तिरस के गीत सिखाने लगा। मैं महात्माजी को उसका गाना सुनाना चाहता था, क्योकि मै जानता था कि वे उसका ललित स्वर पसद करेंगे, पर अफसोस, अहमदाबाद, कलकत्ता से बहुत दूर था।

बगाल मे तीन महीने रहने के बाद मै आश्रम लौट आया। लेकिन कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति के निमत्रण पर सगीत-विद्यार्थियो के पाठ्य-क्रम के निर्माण के लिए मुझे पुन कलकत्ता जाना पडा। सयोगवश महात्माजी भी उसी समय मार्च (१९३८) के महीने मे कलकत्ता आए। मै फौरन ही उनसे मिलने गया।

हम बारह वर्ष बाद मिले थे। उन्होने उसी पुराने स्नेह और बालसुलभ हास्य के साथ मेरा स्वागत किया।

"और सगीत ?" यही पहली बात थी जो उन्होने कही।

"आज्ञा दीजिए!"

"मेरी सायकालीन प्रार्थना के बाद।" उन्होने अपने आतिथ्यकर्ता, कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रमुख वकील, शरत्चन्द्र बोस के मकान की ऊँची छत की ओर सकेत करते हुए प्रस्ताव किया।

मैं, उमा व उसके माता-पिता और कुछ मित्रो के साथ वहाँ उपस्थित हुआ। मैदान मे एक अपार भीड अपने श्रद्धेय महात्मा के दर्शन करने के लिए एकत्रित थी। उन्होने 'महात्मा गाधी की जय' का नारा लगाया। महात्माजी ने बाहर निकलकर, दर्शन देने के बाद भीड से तितर-बितर हो जाने का निर्देश किया। द्वार-रक्षको को उस भीड मे से हमे निकालकर अदर प्रवेश कराने मे काफी दिक्कत उठानी पडी।

यहा महात्माजी के मित्रो और प्रशसको की अच्छी-खासी भीड थी, जिसमे मैं अपने पुराने मित्र जवाहरलाल से मिला। उन्होने प्रेम से उमा का स्वागत किया, क्योकि एक महीने पहले इलाहाबाद मे उन्होने उसका गाना बहुत पसद किया था।

महात्माजी ने अपनी हृदयग्राही मुस्कराहट के साथ पहले उमा से गाने

को कहा।

मेरे एक कलाकार मित्र ने उसके गाने के साथ सितार बजाया। परिणाम अवर्णनीय था। सभी उसके स्वर से अत्यत प्रभावित हुए। उसके स्वर की तुलना एक फ्रासीसी कवि की निम्न उपमा द्वारा दी जा सकती है, (जो उसने एक नाटक की मुख्य गायिका के स्वर का वर्णन करते हुए दी थी)—'यदि स्फटिक बोल सकते तो ऐसे कहते।'

ऐ मेरी आत्मा के बुलबुल।
फूलो के सौरभ मे बहकर
तुम नीलम पथ पर उडे चलो।
जहा तरगित है निशिदिन,
अम्बर-वाण का आमत्रण,
"भुला दो सोने का पिंजड़ा
देखो वह बध रहित मजिल"[1]

गाने के बाद एक पडित ने गीता से कुछ श्लोक पढकर सुनाये, जिनमे से एक यह था —

"दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते।"

मै कभी नही भूलता कि उस सध्या के समय, ताराच्छादित आकाश के नीचे, खुली छत पर महात्माजी के सम्मुख प्रार्थना मे बैठे हुए, मुझे यह श्लोक कितना सुन्दर मालूम हुआ था और उमा का मधुर स्वर किस प्रकार, सिमटते हुए अधकार मे पारलौकिकता का एक चमत्कारपूर्ण वातावरण पैदा कर रहा था .

"भुला दो सोने का पिंजडा, देखो वह बन्धरहित मजिल।"

इसके बाद मैंने पेशावर मे एक सुन्दर वातावरण मे उन्हे देखा। ऐसा मौका हुआ कि मै अपनी बहन, भतीजी, उमा और उसके माता-पिता के साथ उसी वर्ष अक्तूबर १९३८ मे काश्मीर गया था। उन्ही दिनो महात्माजी भी पेशावर मे सीमा प्रान्तीय गाधी, वीर अब्दुलगफ्फार खा के अतिथि थे। इसलिए मैंने उन्हे लिखा कि मैं पेशावर आना चाहता हू और उनकी 'बुलबुल' भी मेरे साथ है। आशा है आप उसे व हम सबको भूल न गये होगे। उन्होंने फौरन मुझे तार भेजा और लिखा (१७ अक्तूबर १९३८)

"सभव है उमा 'बुलबुल' को मैं भूल जाऊँ, यद्यपि यह असभव दीखता है, पर तुम्हे मैं कैसे भूल सकता हू ?"

---

१ प० वागीश्वर विद्यालकार द्वारा अनूदित।

उत्तर से उत्साहित होकर हम मोटर द्वारा श्रीनगर से पेशावर चले, वहाँ हम श्री प्रफुल्ल चौधरी के अतिथि बने, जो अपने शाही आतिथ्य के लिए उस इलाके मे प्रसिद्ध थे। वह और उनकी पत्नी मीरा हमारे साथ उत्मनजई ग्राम तक आये, जो वहाँ से पच्चीस मील दूर है। हमे कार द्वारा महात्माजी के शिष्य और मेजवान, उदार-हृदय पेशावर के नेता की कुटिया तक पहुँचने मे लगभग एक घटा लगा। मुद्दत से उस प्रसिद्ध व्यक्ति को देखने की मेरी इच्छा थी, उस अहिंसक मुसलमान सैनिक को, जो अपने नेतृत्व के कारण अनेक वार जेल हो आया था। उसे सीमा प्रान्त के कृषक 'वाछा' कहकर पुकारते ह, जो वादशाह शब्द का अपभ्रश है। वह वास्तव मे आज पेशावर के पठानो का वादशाह है, जो उनके दैनिक सुख-दुखो मे उनका सब तरह से साथी है। जव कभी महात्माजी का विगुल वजा वह हमेशा युद्ध की अग्नि मे कूदने को उद्यत रहा। आज तक कभी भी उसने अपने हिन्दू नेता और गुरु को निराश नही किया।

महात्माजी ने अपनी उज्ज्वल हसी के साथ हमारा स्वागत किया, लेकिन यह जानकर हमे वडी निराशा हुई कि पिछले दो महीनो से उन्होने मौन रहने की दृढ प्रतिज्ञा ली हुई है। उनके मत्री ने उनके हाथ मे एक कागज और कलम दे दी।

"हम अपने-आपको कितना असहाय-सा अनुभव कर रहे है," मैंने कहा, "ओह! फिर मौन का यह अभागा व्रत क्यो?"

"क्योंकि," उन्होंने मुस्कराते हुए लिखा, "मेरा मौन मेरे लिए अच्छा है, और दूसरो के लिए भी अवश्य अच्छा ही है।"

"लेकिन वताइये," मैंने कहा, "आप हमे देखकर प्रसन्न है या नही?"

उन्होंने उत्तर मे लिखा "गीता की भाषा मे मुझे न प्रसन्न होना चाहिए और न अप्रसन्न।"

हम सव हँस पडे, और वह भी साथ मे हंसने लगे।

"लेकिन हृदय की भाषा मे?" मैने पूछा।

उनकी कलम ने लिखा, "हृदय की कोई भाषा नही है, वह हृदय के साथ वात करता है।"

पहले मैंने उमा के साथ 'चाकर राखो जी' भजन गाया। फिर उमा ने मीरा का निम्नलिखित प्रख्यात भजन गाकर सुनाया

सुनीहो मै हरि आवन की आवाज।
महल चढ चढ जोऊँ मेरी,
सजनी! कव आवे महाराज ॥ १ ॥
दादुर मोर पपइया वोले,

कुछ पत्र उदाहरण स्वरूप यहाँ उद्धृत करता हूँ। अपने ८ अप्रैल १९३४ के पत्र मे उन्होने लिखा

"प्रिय दिलीप,

मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि तुम्हे मेरा पत्र नही मिला। मैने तुम्हारे गत पत्र का उत्तर तत्काल ही दे दिया था, और काफी लम्बा पत्र तुम्हे लिखा था। मैंने तुम्हारी 'अनामी' पुस्तक भी पढी थी, लेकिन मेरी समझ मे मेरे लिए उसका सबसे उत्तम उपयोग यही था कि मैं उसे महादेव देसाई के पास भेज दूँ, जो बँगला जानता है, तथा साथ ही कवि भी है। मै कवि नही हूं। परन्तु इससे, जो कुछ तुम लिखते हो, उसे पढने मे कोई बाधा नही पडती। अपने पाडिचेरी आश्रम के कार्यालय के बारे मे जो समाचार तुमने दिये थे, और जो यह सूचना मुझे दी थी, कि 'क' व्यक्ति मे पहले से सर्वथा परिवर्तन हो गया है, उससे मुझे बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। मेरी इच्छा है कि तुम उसकी कविताएँ मुझे भेज दो। मुझे आशा है कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक होगा, और तुम अब भी उसी तरह गाते होगे। तुम्हारे शिष्य मुझे प्राय मिलते रहते है, और अपने भजन सुनाते है, जिन्हे सुनकर मुझे हमेशा तुम्हारे उन सुन्दर भजनो की याद आ जाती है, जो तुम मुझे सुनाया करते थे।

तुम्हारा विश्वासपात्र
मो० क० गाधी"

एक अन्य पत्र मे उन्होने २१ फरवरी १९३४ को लिखा

"प्रिय दिलीप,

मुझे इस वात का हार्दिक दुख है कि यद्यपि मे पाडिचेरी मे रहा, तथापि तुममे से किसी से न मिल सका। अम्बालाल साराभाई ने तुम्हारा अक्तूवर का लिखा पत्र कल ही दिया है। यह पत्र भारती के साथ आक्सफोर्ड चला गया था। तुम्हारी पुस्तक के वारे मे मैंने उसी समय लिखा था, जब वह मुझे मिली थी। आशा है, तुम्हे मेरा वह पत्र मिल गया होगा। जब भी तुम्हारा लिखने का मन हो, मुझे बराबर पत्र लिखते रहना। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'क' वही पर है। क्या उसने मद्यपान सर्वथा त्याग दिया है?

तुम्हारा विश्वासभाजन
मो० क० गाधी"

१९३६ मे मैंने उन्हे श्रीमती रेहाना तैयबजी के, जो एक रहस्यवादी कवयित्री और गायिका हे, तथा कृष्ण की परम भक्त, पत्रो पर अपने विचार प्रकट करने के लिए लिखा। वे पत्र वाद मे मैंने अपने उत्तरो के साथ तथा उन पर श्री अरविन्द तथा कृष्ण-प्रेम की आलोचना के साथ प्रकाशित करा दिये थे। मैंने महात्माजी को लिखा था, कि चूँकि वे भी कृष्ण के भक्त है, इसलिए

ऐसे वाद-विवाद मे शायद उन्हे भी कुछ रुचि हो और विशेषत इसलिए कि यह विवाद हमारे जैसे सत्यान्वेषक व्यक्तियो के लिए केवल मात्र बौद्धिक मनोरजन के ही साधन नही है। परन्तु इस बारे मे मैं उनके कोई भी मनोभाव नही जान पाया, क्योकि उन्होने १७ जून १९३६ को मेरे उत्तर मे लिखा
"प्रिय दिलीप,

महादेव ने तुम्हारे पत्र व अन्य कागजात कल ही मुझे भेजे है, और मैंने तुम्हारे व रेहाना के मनोरजक पत्र-व्यवहार को पढा है। कृष्ण के बारे मे मेरी अपनी अलग ही कल्पना है। परन्तु मैं उस पर यहाँ वाद-विवाद नही करना चाहता, क्योकि उससे कुछ फल की आशा नही है। साथ ही मेरी यह भी धारणा है कि इस विषय मे पत्र-व्यवहार प्रकाशित करने से सन्देह और भी विकट रूप धारण कर सकता है। मेरी इच्छा है कि तुम किसी दिन मुझसे मिल सको। तभी कृष्ण व अन्य ऐसे ही महत्त्वपूर्ण विषयो पर विचार-विनिमय अधिक हितकर हो सकता है। और निस्सदेह मेरी तुम्हारे भजनो को सुनने की अभिलाषा भी पूर्ण हो सकेगी।

सप्रेम
मो० क० गाधी"

१७ जून, १९४५ के एक अन्य पत्र मे उन्होने लिखा
"प्रिय दिलीप,

तुम्हारा पत्र बडा आकर्षक है। तुम्हारे मधुर स्वर की स्मृति मुझे प्रलुब्ध करती है। परन्तु मुझे सब प्रलोभनो से बचकर स्व-निर्धारित सीधे व सकीर्ण मार्ग पर चलना है।

मैं अपनी आदत के अनुसार तुम्हे हिन्दी मे ही पत्र लिखता, परन्तु कुछ स्पष्ट कारणो से मैंने ऐसा करने से अपने को रोका है।

सप्रेम
बापू"

मुझे नही मालूम कि 'स्पष्ट कारणो' से उनका क्या अभिप्राय था, परन्तु सभव है कि उन्हे, हिन्दी की अतर्प्रान्तीय बोलचाल की भाषा के रूप मे उपयुक्तता के बारे मे मेरे विरोध का पता लग गया हो। मैने कभी भी किसी भी विषय पर अपने मतभेद को उनसे छिपाने का प्रयत्न नही किया। मेरी यह धारणा थी कि यदि हमारे स्कूलो व कालिजो मे अग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण कर ले तो भारत के लिए यह एक बहुत खतरनाक बात होगी। जीवन व वस्तुओ के प्रति उनके दृष्टिकोण के बारे मे मेरी निष्कपट आलोचना को बहुत-से व्यक्ति उनके सम्मुख दुर्भावना-प्रेरित कहकर प्रकट करते थे। परन्तु इससे उनका भाव मेरे प्रति कभी परिवर्तित नही हुआ और मेरी प्रत्यक्ष

दुर्बलताओ के बावजूद इन स्वभावजनित मतभेदो के कारण, उनका प्रेम मेरे प्रति कभी शिथिल नही हुआ।

परन्तु उनका सबसे अधिक मनोरजक तथा उनके हृदयगत भावो का सबसे अधिक द्योतक पत्र, जो मुझे उनसे अब तक प्राप्त हुआ है—वह पत्र है जो उन्होने मेरे उस लम्बे पत्र के उत्तर मे दिया था, जिसमे मैंने उनके सम्मुख अपना दु खपूर्ण आश्चर्य प्रकट किया था आश्चर्य इसलिए कि मै अनुभव करता था कि वे इतनी स्पष्ट वस्तु भी नही देख पाते थे, और दु ख इसलिए कि मुझे इस बात से वास्तव मे पीडा होती थी, कि एक राजनैतिक नेता के रूप मे उनका प्रभाव विलुप्त होता जा रहा है। मैंने अपने पत्र मे उन्हे निर्देश किया था कि चूंकि उनके चर्खा और उपवास आदि राजनैतिक मत्रो ने राहत देने के स्थान पर और अधिक गडबडी को ही बढाया है, अत उन्हे कुछ समय के लिए राजनीति से सन्यास लेकर (एक ऐसे गुरु के अनुशासन मे, जिसे वास्तविक ज्ञान और अतर्दृष्टि प्राप्त है) तब तक योगाभ्यास करना चाहिए, जब तक कि वे अपने मार्ग को और स्पष्ट रूप से देख सकने मे सक्षम न हो जायँ मैंने नम्रतापूर्वक उन्हे यह बताया, जैसा प्राय बहुत-से मनुष्य अनुभव करते है, परन्तु कहने का साहस नही करते, कि वे राजनीति मे हमे एक उल्टे रास्ते पर ले जा रहे है, क्योकि यह उनका स्वधर्म नही है। उनका अपना धर्म समाज-सेवा है, उनके अन्दर एक भद्र समाज-सुधारक के सब महान् गुण विद्यमान है। मैंने इस बात पर जोर दिया कि उनके अन्दर ईश्वरीय सत्ता और मानवीय अहम् की विकृत चेष्टाओ के वास्तविक ज्ञान का अभाव है और यही जनसाधारण के सच्चे नेता के रूप मे, उनकी असफलताओ के लिए उत्तरदायी है। अपने कथन की पुष्टि के लिए मैंने श्री अरविन्द के 'योग-समन्वय' से निम्न उद्धरण दिया

"ससार मे हम अहकार की भावना से कार्य करते है, जो सार्वभौम शक्तियाँ हमारे अन्दर कार्य करती है, उन्हे हम अपनी शक्ति कहकर निर्देश करते है। इस मन, प्राण व शरीर के ढाँचे मे हम दिव्यशक्ति की चुनाव-रचना व विकासात्मक क्रिया को अपने वैयक्तिक सकल्प, बुद्धि, शक्ति व गुणो का परिणाम कहते है। ज्ञान के प्रकाश व अतर्दृष्टि द्वारा हमे यह बोध प्राप्त होता है कि 'अह' केवल एक साधन मात्र है, हम यह देखने व अनुभव करने लगते है कि यह सब वस्तुएँ केवल इसी अर्थ मे हमारी है, कि वे हमारी उस उत्कृष्ट और पूर्ण आत्मा से सम्बन्ध रखती है, जो परम दिव्य शक्ति से अभिन्न है, न कि सघनीभूत अहकार के साथ। हमारे बन्धन व विकार हमारी देन है, और इसमे जो वास्तविक शक्ति है, वह ईश्वरीय है। जब मानवीय 'अह' यह अनुभव कर लेता है, कि उसकी इच्छाशक्ति साधन मात्र

है, उसकी बुद्धिमत्ता अज्ञान व बालकपन है, उसकी शक्ति एक बालक की अधकार मे टटोलने की चेष्टामात्र है, उसका गुण एक दिखावटी दावा करने वाली अपवित्रता है, और वह उस दिव्य शक्ति मे विश्वास करना सीख लेता है, जो उसे अतिक्रात कर जाती है, तभी उसकी मुक्ति है।"

"इसके अतिरिक्त," मैंने लिखा, "आप हृदय से सन्यास — वास्तविक सन्यास धारण क्यो नही कर लेते, जिससे आपको आत्मोपलब्धि हो सके। आप तपस्या व सन्यास मे विश्वास रखते है। जैसाकि आपने एक बार मुझसे कहा था, 'क्या त्यागमय जीवन ही सबसे उत्कृष्ट कला नही है ?' यद्यपि कर्मशील व्यक्तियो के लिए सन्यास एक आदर्श मार्ग नही है, तथापि उन व्यक्तियो के लिए, जो बिना विश्राम के निरन्तर क्रियारत रहने के कारण वस्तुओ को उनके वास्तविक स्वरूप मे नही देख पाते, वह पथ-प्रदर्शन मे सहायक होता है।"

अपने स्वभाव के अनुसार — जोकि उनके चरित्र को सर्वप्रिय बनाने वाले गुणो मे से एक गुण है — उन्होने मेरे निर्देश के प्रति किसी प्रकार का रोष-भाव प्रकट नही किया। और स्वाभाविक सहिष्णुता के साथ १६ जुलाई १९३४ के पत्र मे जवाब मे लिखा

"प्रिय दिलीप,

कल ही मुझे तुम्हारा पत्र मिला। यह पहले बम्बई चला गया था, और वहाँ मेरे एक सहायक की असावधानी से उसके पास कई दिन तक पडा रहा।

मेरी कठिनाई मौलिक है। मेरा विचार है कि मेरी वर्तमान चेष्टाएँ आत्मोपलब्धि व ईश्वर-तादात्म्य-सपादन मे सन्यास मार्ग की अपेक्षा कम सहायक नही है। सन्यास का अर्थ शारीरिक चेष्टाओ का परित्याग नही है। मेरे लिए सन्यास का अर्थ उन समस्त शारीरिक व मानसिक क्रियाओ का परित्याग है जो स्वार्थपूर्ण है। यदि मुझे यह विश्वास हो जाये कि मेरे लिए समस्त कर्म-त्याग ही श्रेयस्कर मार्ग है, तो मै तत्काल ही उसे ग्रहण कर लूंगा।

तुम्हारा विश्वस्त

मो० क० गाधी।'

दयालु और अगम्य बापू,

यद्यपि मैंने पर्याप्त भ्रमण किया, परन्तु मुझे १९४७ से पूर्व उनसे पुन मिलने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका, और वह भी अचानक इस प्रकार प्राप्त हुआ

१९४७ की १५ अगस्त को भारतवर्ष को उसकी चिरवाछित स्वतत्रता

प्राप्त हो गई। श्री अरविन्द का जन्म-दिवस होने के कारण उपर्युक्त दिवस का महत्त्व पहले ही हमारी दृष्टि मे बहुत अधिक था और अब भारत को उसी दिन स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कारण इस महत्त्वपूर्ण सयोग के गम्भीर अर्थ पर महात्माजी से विमर्श करने का अवसर प्राप्त करने की मेरी अभिलाषा थी। निस्सदेह हमारी यह भावना थी कि यह आकस्मिक सयोग नही है। हम जानते थे कि श्री अरविन्द अपनी यौगिक शक्तियो द्वारा, भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे है। परन्तु उनके प्रभाव से अनभिज्ञ व्यक्ति ऐसी शक्तियो के अस्तित्व के बारे मे सशयशील थे। मेरा विचार था कि महात्माजी रहस्यवाद मे विश्वास करते है, इसलिए ऐसी शक्तियो के बारे मे वे अवश्य कुछ-न-कुछ जानते होगे। उन्होने अनेक बार, उन जिज्ञासुओ को जो योग व रहस्यवाद के बारे मे उनसे कुछ ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके पास आए थे, उन्हे इस बारे मे श्री अरविन्द से मिलने का परामर्श दिया था और क्या उन्होने स्वय भी १९३४ मे श्री अरविन्द से भेट न की थी ? एक और कारण से भी मैं उनसे मिलना चाहता था। मैंने प्रसिद्ध गीत 'वन्दे मातरम्' को एक नई धुन मे निकाला था, परन्तु यह जनश्रुति प्रचलित थी कि पडित जवाहरलाल नेहरू एक निम्न कोटि के भजन को हमारे ऊपर भारत के राष्ट्रीय गान के रूप मे लादना चाहते है। इससे हमारे दिल मे बडी ठेस पहुँची थी, और मै चाहता था कि इस महान् राष्ट्रीय गान के लिए गाधीजी की स्वीकृति प्राप्त कर सकूँ, जो मेरी नई तर्ज के साथ गाने से सम्मिलित रूप मे आसानी से गाया जा सकता था। इसलिए मैंने २६ अक्तूबर १९४७ को अहमदाबाद से तार द्वारा उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे अपनी २८ तारीख की सायकालीन प्रार्थना सभा मे उपर्युक्त गान को मेरी नई तर्ज मे गाने की आज्ञा प्रदान करें। परन्तु हमारा हवाई जहाज दिल्ली वहुत देर से पहुँचा। इसलिए मैंने उन्हे फोन द्वारा सूचित किया और उन्होने मुझे अगले दिन प्रात काल बिडला मन्दिर मे, जहाँ वे उस समय ठहरे हुए थे, मिलने का समय दिया।

उस दिन प्रात काल मेरी बडी विचित्र मानसिक दशा थी। हमे मिले लगभग दस वर्ष व्यतीत हो चुके थे। मै बार-बार सोचता था कि क्या वे अव भी मेरा उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करेंगे, जैसे पहले करते थे। मेरा हृदय सशयाकुल हो रहा था, क्योकि उनके प्रति मेरे अपने मनोभाव पहले जैसे नही रहे थे, और मैं जानता था कि वे भी मेरे इस परिवर्तित दृष्टिकोण व मतभेद से परिचित थे।

लेकिन उनकी तरफ दृष्टिपात करते ही मेरी सब आशकाएँ निर्मूल हो गई। उन्होने उसी स्नेहभरी मुस्कान के साथ मेरा स्वागत किया, वही पुरानी हृदय को लुभाने वाली मुस्कान, जिसका प्रयोग करने मे वे उसी प्रकार

सिद्धहस्त थे जिस प्रकार एक जादूगर अपने जादू के डडे का प्रयोग करता है। मैं अत्यत प्रभावित हुआ और कुछ दिनो से वे जिस वस्तु को एक प्रामाणिक व निभ्रात सत्य कहकर प्रचार कर रहे थे, उसके प्रति अपना विचारात्मक दार्शनिक विरोध सर्वथा भूल गया। वे निस्सदेह पहले से बूढे प्रतीत होते थे परन्तु अब भी एक पूर्ण-विकसित गुलाब की भाँति निर्मल, निष्कलक व कान्तियुक्त थे। अपने एक प्रशसक व मित्र के प्रति उनका वही मैत्रीपूर्ण हार्दिक भाव था, वही विरोधो को भुला देने वाला उज्ज्वल हास्य, वही हार्दिक विश्वास व स्वागत-भरी दृष्टि थी।

जब मैंने उनके कमरे मे प्रवेश किया, एक युवती उनके पैरो की मालिश कर रही थी। वे एक चटाई पर सीधे लेटे हुए थे। मुझे देखकर वे उठ बैठे। मैंने उन्हे आदर-पूर्वक प्रणाम किया और यह देखकर कुछ आश्चर्यान्वित हुआ कि मुझे अपने अन्दर न केवल किसी प्रकार के सकोच का ही भाव दिखाई दिया, अपितु मुझे, ऐसा अनुभव होने लगा कि राजनैतिक क्षेत्र मे उनके हाल के दुर्भावपूर्ण नेतृत्व का कोई विशेष महत्त्व ही नही है। उनके एक हास्य ने ही मुझे इतना अभिभूत कर लिया कि मुझे ऐसा भान होने लगा कि उनसे मेरी अतिम भेट हुए दस वर्ष का सुदीर्घ काल व्यतीत नही हुआ है, बल्कि मुझे ऐसा लगा, मानो कल ही उनसे मेरी मुलाकात हो चुकी हो। वास्तव मे मै उनके अगम्य व्यक्तित्व से उनके प्रति और भी अधिक आकृष्ट हो गया, और वह भी एक नये प्रकार से। क्योकि मुझे पहली बार इतनी तीव्रता के साथ यह अनुभव हुआ कि उनमे, दूसरो के अन्दर प्रवेश करके उनकी नब्ज पहचानने की कैसी अद्भुत शक्ति है! यहाँ एक उदाहरण देता हू।

मैंने बातचीत मे उनसे कहा कि उन्होने, मेरे साथ हुए वार्तालापो का सशोधन करके, तथा उन्हे 'महापुरुषो के साथ' नामक पुस्तक मे प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करके, जिसके कारण उस पुस्तक का देश और विदेश मे काफी आदर हुआ है, मुझे अत्यन्त अनुगृहीत किया है, और उसके लिए मै उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उन्होने तत्काल अपने उसी पुराने कृत्रिम गभीर स्वर मे विनम्र व्यग्यपूर्वक उत्तर दिया, "क्या तुम यह लाछन लगाना चाहते हो कि मेरे विशाल शरीर ने यह जादू किया है?" और यह कहकर वे अपने व्यग्य पर स्वय ही एक बालक की तरह खिलखिलाकर हँस पडे। यद्यपि मै उनकी शैली से परिचित था, तथापि मैं उनकी वक्रोक्ति से एकदम चकित रह गया। मैंने अपने मन-ही-मन मे धीरे से कुछ गुनगुनाया और जो लम्बचौडी बाते मैं कहने के लिए रटकर लाया था, वह सब भूल गया। उनकी आँखे एक स्पष्ट आनन्द की झलक से चमक उठी। परन्तु वह फिर विषयान्तर पर चल पड़े।

तुम्हारी पुस्तक ने आदर प्राप्त किया है क्योंकि उसमें मूल्यवान वस्तु है—इसलिए नहीं कि उसमें मेरा वर्णन है।'

इससे मेरे अन्दर कुछ साहस का सचार हुआ और मैंने प्रतिवाद करते हुए कहा, 'बापूजी निश्चयपूर्वक आप ही यहाँ दिखावटी नम्रता का प्रदर्शन कर रहे हैं बेचारा गरीब दिलीप नहीं। क्योंकि आप इतने कल्पनाशून्य नहीं हैं. कि आपको यह विदित न हो कि आप एक ऐसा विषय हैं. जिससे कोई भी राग आदर प्राप्त कर सकता है।

उन्होंने तत्काल ही उत्तर दिया :

फिर गलत !' और हँसकर कहने लगे. क्योंकि तुमने ही अपने गाने के लिए मुझे अपना प्रिय विषय बनाया था। तुमने संगीत-कला व त्यागवाद आदि. और न मालूम अन्य कितनी बातों के बारे में जिन्हें बहुत समय गुजर जाने के कारण मैं अब बिलकुल भूल गया हूँ मेरा स्वर सुनने के लिए मुझे सितार के तारों की भाँति खींचा था।

यह सुनकर हम सब एक साथ ही हँस पड़े। यही गांधीजी का वास्तविक स्वरूप था जो आकर्षक होने के साथ ही इतना अगम्य था कि किसीके लिए भी उनकी गहराई को नाप सकना अत्यन्त कठिन था। दुर्भाग्य से इस बार परिस्थितियाँ मेरे अनुकूल न थीं. और हम अधिक देर तक इस निश्चिन्त वातावरण का आनन्द न ले सके, क्योंकि उन्हें काश्मीर के बारे में विमर्श करने के लिए लार्ड माउंटबेटन के पास जाना था। इसलिए मैंने उनसे पूछा कि क्या मैं वन्दे मातरम्, 'हिन्दुस्तान हमारा' यह गाने सायंकाल प्रार्थना-सभा में गा सकूँगा ? उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया :

'हाँ मुझे अहमदाबाद में तुम्हारा तार मिला था। परन्तु तुमने मुझे प्रत्युत्तर का समय नहीं दिया था, इसलिए मैं तुम्हें यह सूचित न कर सका कि मैंने यह नियम बना लिया है कि प्रार्थना-सभा में केवल भजन ही गाए। जाएँ। और इसीलिए उन्होंने जिससे मुझे बुरा न मालूम हो. इस प्रकार कहा, 'मैं कल सन्ध्या-समय प्रार्थना-सभा में यह प्रार्थना कर रहा था · 'हे राम दिलीप इस समय किसी प्रकार दृष्टिगोचर न हो सके।' और यह कहकर उनकी आँखें चमक उठीं।

मैं उनके साथ ही हँस पड़ा और मन-ही-मन इस बात पर उनकी प्रशंसा करने लगा कि किस चतुराई के साथ उन्होंने मेरा निराश होने का अधिकार ही समाप्त कर दिया है। मैंने कहा बापूजी. मैं आपकी बात मानता हूँ. परन्तु उनको यहाँ गाने के बारे में आपकी क्या आज्ञा है ?

'यहाँ ?' उन्होंने मेरी आँखों से अपनी आँखें मिलाते हुए कहा क्या तुम्हारा अभिप्राय अभी से है ?'

मैंने सिर झुकाते हुए कहा, "मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि दस मिनट से अधिक नही लगेंगे ।"

उनका चेहरा चमक उठा। उन्होने कहा, "ओह !" तब तो यह मेरे सर्वथा अनुकूल पडेगा" और अपनी हृदयग्राही मुस्कान के साथ पुन. कहने लगे, "पर एक शर्त है , तुम्हे मुझे लेटे हुए ही सुनने की इजाजत देनी पडेगी, क्योकि मेरी पैरो की मालिश अभी समाप्त नही हुई है ।"

"सौदा हो गया" मैंने हँसते हुए कहा । और दोनो गाने सुनाए···। उन्होने एकाग्रचित्त होकर सुना, जिससे मेरी वह सब मेहनत जो मुझे उनकी स्वीकृति प्राप्त करने मे हुई थी, एकदम सफल हो गई । मैंने उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव किया और उनका यह कथन सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ ।

"तुम्हारा स्वर पहले की अपेक्षा बहुत परिष्कृत हो गया है । वैसे तो यह हमेशा ही गभीर उच्च ध्वनि के मिश्रण से समृद्ध था। परन्तु अब इसमे प्रभावोत्पादकता के एक नव-कम्पन का अभ्युदय हो गया है—विशेषत. स्वर के उतार मे ।

यह सुनकर मैंने अत्यंत गौरव अनुभव किया। और विनम्र होने का निष्फल प्रयत्न करने लगा (मैं समझता हूँ कि जो एक बार गुणोपासक हो जाता है, वह हमेशा गुणोपासक ही रहता है) जबकि उन्होने अत्यत विनम्र मुस्कान के साथ मेरी तरफ देखते हुए कहना जारी रखा, "और तुम बिलकुल पहले जैसे ही दिखाई देते हो , मैंने तुम्हे आज से दस वर्ष पहले देखा था, उससे एक दिन भी ज्यादा के नही लगते।" और फिर उन्होने अपनी घडी की तरफ देखते हुए कहा, "तुम आज शाम को प्रार्थना-सभा मे तो आओगे न ?"

"मैंने तो आपसे इसके लिए पहले ही प्रार्थना नही की थी ?"

"हाँ, पर वह तो 'वन्दे मातरम्' के लिए थी। मेरी अभिलाषा है कि तुम वहाँ अपने सुन्दर भजन गाकर सुनाओ। मैंने बहुत दिनो से उन्हे नही सुना है ।"

मैंने उत्तर मे कहा, "और मैंने भी बहुत अरसे से आपको कष्ट नही दिया है ।" और हम दोनो ही हँस पडे ।

जब मैं घर लौटा, तो मैं इस बात पर आश्चर्य करता रहा कि उन्होने 'वन्दे मातरम्' गान की मेरी धुन पर अपनी सम्मति प्रकट क्यों नही की। क्या वे उसकी वास्तविक धुन को ग्रहण नहीं कर सके ? यह सोच मैं कुछ शिथिल-सा हो गया। मुझे यह कुछ पता नही था कि वे आज शाम को ही इसका किस प्रकार प्रतिदान करेंगे !"

एक आशंकासूचक प्रार्थना-सभा और दिव्यदृष्टि

मैं प्रार्थना-सभा में नियत समय से कुछ पहले ही पहुँच गया। अस्त होते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें हरे मैदान पर फैली हुई थी। सभा-मच, भवन से दूर मैदान के अन्तिम सिरे पर बना हुआ था, और उसके समीप ही मुझे बैठने का स्थान दिया गया था, जो उस माइक्रोफोन से कुछ गज की दूरी पर था, जिसका महात्माजी सभा मे भाषण देते हुए प्रयोग किया करते थे। बाद मे, प्रतिदिन रात्रि को आठ बजे दिल्ली रेडियो से उसका प्रसार किया जाता था। मैं श्रोतागण का पर्यवेक्षण कर रहा था। इससे पहले मैं उनकी किसी प्रार्थना-सभा मे उपस्थित नही हुआ था, इसलिए मै किसी भी बात को जान-बूझकर अपनी दृष्टि से ओझल न होने देना चाहता था। मै श्रोतागण की ग्रहणशीलता को अपने अन्दर उस प्रकार धारण कर लेना चाहता था, कि जिससे मेरी अपनी ग्रहणशीलता भी और अधिक गहरी हो सके।

लगभग दो-सौ बालक व माताएँ सामने की तरफ बैठी थी। वहाँ पर सभी मिले-जुले हुए बैठे थे—प्रौढ, बालक, युवक, मजदूर, पत्रकार, व्यापारी, सिपाही और माँझी, सब एक ही स्थान पर एकत्रित थे। दूसरे सिरे पर लगभग इतने ही आदमी खडे हुए थे जो बार-बार महात्माजी के भवन की तरफ निगाह डालकर देखते थे, और उनके प्रथम दर्शन पर 'महात्माजी की जय' का नारा लगाने को उत्सुक थे।

अचानक श्रोतागण प्रबल वायु के आकस्मिक झोके से लहरो की तरह चचल हो उठे। सारी आँखे उसी तरफ केन्द्रित हो गई, जहाँ से वह क्षीणकाय महान आत्मा गैलरी से निकलता हुआ दिखाई दे रहा था। वे अपने अभ्यासानुसार दोनो तरफ दो युवतियो के कन्धो पर सहारा देकर, सभास्थल की ओर अग्रसर हो रहे थे।

जब वे समीप आये, प्रत्येक व्यक्ति उनके सम्मान के लिए उठकर खडा हो गया। बढते हुए कोलाहल के बाद एकदम निस्तब्धता छा गई। वे मेरे समीप से गुजरे, मैंने उन्हे प्रणाम किया, वे चौककर मुस्करा उठे। उनकी आँखे अपनी ज्योति के साथ कहने लगी, "अच्छा! तुम आ गए हो, मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" जब वे सभा-मच पर बैठ गए, मेरा मन उनके प्रति अत्यन्त सहानुभूति-पूर्ण हो उठा, विशेषत जब वे बीच-बीच मे खाँसते थे। मै यह बिलकुल ही भूल गया कि मैं उनकी युद्धोपरान्त धार्मिक-राजनैतिक विचारधारा से सहमत नही हूँ।

मैंने उसका वर्णन यहाँ इसलिए नही किया है कि इससे मैं अपना महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता हूँ, बल्कि उनके अवर्णनीय व्यक्तित्व के उस विचित्र आकर्षण को प्रदर्शित करने के लिए किया है जिसने मेरे सम्पूर्ण मतभेदो के

होते हुए भी, मुझे अपनी तरफ अज्ञातरूप से बरबस आकृष्ट कर लिया। लेकिन साथ ही मैं वायुमडल के उन कम्पनो से भी अनभिज्ञ था जो मुझे एक गहरी वेदना या बेचैनी का अनुभव करा रहे थे। कारण यह था, कुछ वर्ष व्यतीत हुए, हमारे आश्रम के एक साधक ने एक भविष्यदर्शी स्वप्न देखा था, जिसके बारे मे मैने उसके कुछ ही समय बाद अपने कुछ इष्ट-मित्रो से, जो स्वय उस स्वप्न से बहुत भयभीत थे, विचार-विनिमय किया था। यह स्वप्न घटना घटित होने के बाद नही गढा गया है, अपितु यह 'ऊनपचासी' नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक मे सन् १९२० से १९२९ के बीच प्रकाशित हो चुका है जिसके लेखक श्री अरविन्द के एक ख्यातिप्राप्त भूतपूर्व शिष्य है, जो अपनी तीक्ष्ण बुद्धि व उच्चचरित्रता के लिए प्रसिद्ध है। वे सन् १९०८ मे मृत्युदड से बाल-बाल बच निकले थे, और अण्डमन मे बारह साल का देशनिर्वासन दड भोगना पडा था। जो स्वप्न उन्होने प्रकाशित किया था वह इस प्रकार था कि विदेशी जुए से भारतवर्ष के स्वतत्र होने के ठीक बाद, एक अत्यत प्रसिद्ध 'विशुद्ध खद्दर-धारी व्यक्ति की आम जनसभा मे गोली द्वारा हत्या कर दी जाएगी। जब मैंने गाधीजा का भाषण सुना, तो इस स्वप्न को भूल न सका। और दूसरे दिन तो मेरे हृदय पर इसका और भी अधिक भीषण प्रभाव पडा— क्यो और कैसे, यह मैं क्रमश वर्णन करूँगा। अब मैं पहले प्रथम दिन की घटना का वर्णन करता हूँ।

गाधीजी के सभा-मच पर बैठ जाने के बाद उन दोनो युवतियो ने जो महात्माजी के साथ आई थी, कुछ गीता के श्लोक व कुरान की आयतो का पाठ किया। जब उन्होने कुरान की आयतो का पाठ किया, तब मैंने वातावरण मे एक प्रकार की उत्तेजना का अनुभव किया। कुछ व्यक्तियो ने जो सामने ही बैठे हुए थे, अपने सिर झुका लिये। कुछ सिक्ख बेचैन होकर घूरने लगे व खिज गये। मुझे स्वय इस बात पर आश्चर्य था कि क्या एक ऐसे जन-समाज मे, जो प्रधानत हिन्दू है, और जो, कुरान की आयतो को इस प्रकार अपने सम्मुख पढा जाना केवल अपना अपमान ही नही समझता, वरन् उससे अत्यन्त घृणा करता है, इस प्रकार के आचरण से कुछ लाभ हो सकता है। अस्तु। आगे चलिये,

जब यह पाठ समाप्त हो चुका तो दोनो युवतियो ने मिलकर एक भजन गाया। तदुपरान्त महात्माजी ने मेरी तरफ एक अर्थपूर्ण दृष्टिपात किया और मैंने कबीर का प्रसिद्ध भजन गाया।

इस पर विद्युत्प्रभा की दुर्भेद्यता से भी बढकर उनके स्वभाव की अगम्यता की एक और झलक मिली। उन्होंने भजन की व्याख्या प्रारभ न करके पहले गायक के बारे मे कहना शुरू किया। और उसी सायकाल को मैंने दिल्ली रेडियो मे उनके भाषण का प्रसारण सुना, जिससे मैं समझता हूं कि मेरा यह विवरण पर्याप्त विश्वास योग्य हैं। उन्होने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया[1]

"आपने अभी एक बहुत मधुर भजन सुना है, परन्तु आपको गायक का भी परिचय होना आवश्यक है। इनका नाम दिलीपकुमार राय है। मेरी इनसे प्रथम भेट, कई वर्ष हुए, पूना के नैसून अस्पताल मे जहाँ मैं अपैंडिसाइटिस ऑपरेशन कराने के बाद आरोग्य-लाभ कर रहा था, हुई थी। वहाँ इन्होने तानपूरे पर मुझे दो भजन सुनाए थे। आज प्रात काल भी इन्होने मुझे 'वन्दे मातरम्' और और 'हिन्दुस्तान हमारा' यह दो प्रसिद्ध राष्ट्रीय गान गाकर सुनाए हैं। मुझे वे बहुत ही पसद आए हैं, विशेषत पहला गान जिनका आलाप राष्ट्रीय भावना के सर्वथा अनुकूल है। इन्होने योगाभ्यास के लिए सासारिक जीवन का त्याग कर दिया है और अब अपने महान गुरु ऋषि अरविन्द के चरणो मे, जिनके आश्रम मे और भी उनके अन्य बहुत से शिष्य अपना सर्वस्व अर्पण करके, गुरु की आज्ञानुसार, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, यह भी अपना सर्वस्व गुरु के चरणो में अर्पित कर योगाभ्यास कर रहे हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि श्री अरविन्द के आश्रम मे वर्ण, सम्प्रदाय, धर्म व जाति का कोई भेदभाव नही है। मुझे स्वर्गीय श्रीमान् अकबर हैदरी से, जो प्रतिवर्ष तीर्थयात्रा के तौर पर उनके आश्रम मे जाते थे, यह बात मालुम हुई थी। स्वभावत दिलीपकुमार राय अपने गुरु के अनुरूप शिष्य हैं तथा साम्प्रदायिक व धार्मिक कट्टरता की भावना से सर्वथा रहित है। और यद्यपि मैं सगीत का विशेषज्ञ नही हूँ, तथापि मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि न केवल भारतवर्ष मे, अपितु सारे ससार मे ही बहुत कम ऐसे व्यक्ति होंगे जिनका स्वर दिलीपकुमार राय के समान समृद्ध, मधुर व गभीर है। और आज तो इनका स्वर मुझे पहले से भी कही अधिक मधुर व समृद्ध प्रतीत हुआ है। अब मैं आपका ध्यान उस भजन के सदेश की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जिस पर आप सबको गभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए। भजन इस बात पर जोर देता है कि एक वैभवशाली व्यक्ति सब सासारिक ऐश्वर्यो,—धन, यश, साज-सामान आदि का

१. इस भाषण का साराश अगले रोज सभी समाचारपत्रो मे प्रकाशित हुआ था।

स्वामी होते हुए भी एक ऐसे भिक्षुक से जो अपने अन्तर्बाह्य सब जगह ईश्वर को धारण किए हुए है और उसी का दर्शन करता है, आतरिक रूप से कही अधिक निर्धन है। हम उस ईश्वर को आपस मे लडने के लिए भिन्न-भिन्न नामो से पुकार सकते है, पर वास्तव मे वह एक ही परमसत्ता है। यदि आप इस महान तत्त्वज्ञान की पुस्तक मे से एक पृष्ठ भी समझ सके तो आप उन सब पक्षपातो व अधविश्वासो को जो भ्रातृत्व द्वारा शान्ति और सुख की स्थापना मे बाधक है, दूर करने मे सफल हो सकते है।"

तत्पश्चात् उन्होने कुछ दूर तक काश्मीर मे लडे जाने वाले दुखद युद्ध का वर्णन करने के बाद इन शब्दो के साथ अपना भाषण समाप्त किया .

"आओ, सब मिलकर इस भजन की टेक को, जो अभी गाया गया है, अपने हृदय मे धारण करे हम सब उस एक ही परमात्मा की सतान है, जो हम सबके अन्दर व्याप्त है, चाहे हम किसी भी नाम से उसकी पूजा क्यो न करते हो।"

प्रार्थना-सभा के बाद जब मैंने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की तो उन्होने मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा, "तुम कल आओगे या नही ?"

मैंने काँपते हुए स्वर मे कहा, "बापूजी, आप जानते है, मैं अवश्य आता, परन्तु बात यह है कि मैंने हवाई जहाज मे पहले ही स्थान सुरक्षित करा लिया है और मेरे मित्र कल तीसरे पहर लखनऊ मे मेरी प्रतीक्षा करेगे।"

उन्होने कुछ निराशा से उत्तर दिया, "तब तो लाचारी है। मै तुम्हारे मुँह से 'हम ऐसे देश के वासी है' भजन, जो तुमने सुचेता कृपालानी को सिखलाया है, सुनना चाहता हूँ।"

इस पर मैंने अपना निश्चय वदल दिया और हँसते हुए कहा, "आपको कोई किस तरह इन्कार कर सकता है ?"

उन्होने तत्काल ही उत्तर दिया, "मेरे जैसो को तो यही चीज चाहिये," यह सुनकर सभी लोग हँसने लगे।

मुझे दिल्ली लगभग एक सप्ताह और रुकना पडा।

अगले दिन प्रात काल महात्माजी का आशुलिपिक जो उनके प्रतिदिन के वार्तालापो को लिपिवद्ध किया करता था, मुझसे मिला और कहने लगा कि गतरात्रि मे जब उसने अपनी रिपोर्ट महात्माजी के सम्मुख पेश की तो उन्होने उसे 'ऋषि अरविन्द' के स्थान पर श्री अरविन्द लिख देने के कारण बहुत झाडा, और फिर अपने हाथ से उपयुक्त सत के नाम के आगे 'ऋषि, शब्द लिख दिया। इससे मै स्वभावत बहुत प्रभावित हुआ औक आश्चर्यान्वित होकर सोचने लगा कि किस तरह मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करूँ। मैंने

अपनी लखनऊ यात्रा रद्द कर दी ।

अगले दिन मै नियत समय से लगभग पन्द्रह मिनट पहले ही बिडला भवन पहुंच गया । श्रोतागण का जमाव पहले दिन की अपेक्षा कुछ अधिक था, परन्तु वातावरण कुछ अशान्त व क्षुब्ध था । मुझे बताया गया कि एक सिक्ख ने हिन्दू-बहुल श्रोतागणो की सभा मे उनकी इच्छा के विरुद्ध कुरान की आयतो के पढने पर आपत्ति की है, और बहुत-कुछ यह सभावना है कि शायद महात्माजी प्रार्थना ही न करे । उन्होने मुझे आपत्तिकर्ता की ओर भी निर्देश किया । वह एक सफेद दाढी वाला साँवले रग का लम्बा-चौडा सिक्ख था । जब मैने अपनी आँख उठाकर उसकी तरफ देखा, तब उसने भी मेरी तरफ दृष्टिपात किया और हमारी आँखे एक-दूसरे से मिल गई । तत्काल ही वह अपनी जगह से उठ खडा हुआ और दौडकर हाँफता हुआ मेरे पास आया ।

उसने क्रोधपूर्वक चिल्लाकर कहा, "श्रीमान्, आप साधु है इसलिए आपको न्यायपूर्वक निर्णय करना चाहिए । मै घुटने टेककर आपसे न्यायशील होने की प्रार्थना करता हूं । मुझे बताइये कि हम हिन्दुओ पर उन अत्याचारियो के, जिन्होने निर्दयतापूर्वक हमारा वध किया है, हमारे घरो व मन्दिरो को अपवित्र किया है और हमारी नारियो का सतीत्व नष्ट किया है, जो मनुष्य नही बल्कि राक्षस हैं, उनकी धर्म-पुस्तक की आयातो का जबर्दस्ती लादना क्या उचित है ? क्या यह उचित कहा जा सकता है ? क्या यह हमारी इज्जत और हमारे पुरुषत्व पर एक धब्बा नही है कि हम इन सब घृणित व असह्य बातो को सुने · "

मैने उसे बीच मे ही रोकते हुए कहा, "मेरे मित्र, जरा शान्त हो, यहाँ आने के बाद आपको ऐसा उचित नही है कि "

"क्यो उचित नही है," उसने तपाक से उत्तर दिया, "मै यहाँ महात्माजी को सुनने आया हूं, कुरान की आयते सुनने नही ।"

"लेकिन आप जानते है कि वह कुरान की आयते पढने के लिय आग्रह करते ह । इसलिए, आपके भावो को देखते हुए, आपके लिए ज्यादह उचित मार्ग यही प्रतीत होता है कि आप यहाँ से चले जाएँ । हर हालत मे आप शान्त होकर बैठ जाइए और उन्हे आने दीजिए । इसका निर्णय करना उन्ही का काम है, क्योकि यह उनकी सभा है, मेरी नही ।" और फिर उसके कधे पर हाथ रखते हुए मैंने कहा, "कम-से-कम आप मेरा ईश्वर-स्तुति गान सुनना तो पसद करेंगे, या वह भी नही ?"

"अवश्य, मैं सुनना पसद करूँगा बशर्ते कि आप मुसलमानी परमात्मा को बीच मे न लावे ।"

मैं अपनी हँसी को न रोक सका और उत्तर दिया, "परन्तु परमात्मा तो केवल एक ही है ।"

सभा समाप्त होने पर मै महात्माजी के साथ चल पड़ा। पीछे-पीछे लोगो की भीड भी आ रही थी। उस बूढे सिक्ख ने मुझे पीछे से आकर पकड लिया और मुझे प्रणाम किया और महात्माजी को हार्दिक धन्यवाद दिया। गाधीजी ने उसकी ओर एक दीर्घ दृष्टिपात किया, परन्तु यह दृष्टि एक विषादपूर्ण दृष्टि थी। जब महात्माजी के साथियो ने बाकी भीड को हटा दिया, तब वे रुके और मेरी ओर आकृष्ट होकर मृदु तिरस्कारपूर्वक कहने लगे, "परन्तु तुमने वह भजन नही गाया।"

मैंने उत्तर दिया, "अवश्य ही आपको मालूम है कि मैने क्यो नही गाया ?" "उनके मौनपूर्वक सिर हिलाने पर मैंने क्षमा-याचना के तौर पर कहा, "मैंने सोचा कि जो भजन मैं गा रहा हूँ, वर्तमान वातावरण मे वही अधिक उपयुक्त है।"

यह सुनकर उन्होने एक विशेष प्रकार से अपनी भवे ऊपर उठाई।

"और क्या मैंने उसके सन्देश को ठीक प्रकार से नही समझा है ?" यह कहकर वे हसने लगे, और आगे बढते हुए फिर कहने लगे, "एक रूप मे तो मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि तुमने आज सायकाल वह भजन नही गाया है, लेकिन दूसरे रूप मे मुझे इस बात का दुख है कि तुम कल लखनऊ के लिये उड जाओगे, और मै तुमसे वह भजन न सुन सकूंगा।"

मैने हँककर उत्तर दिया, "परन्तु, मैंने लखनऊ यात्रा रद्द कर दी है ?

उन्होने मन्द हास्य से कहा, "क्या तुम जानते हो कि मेरी हार्दिक इच्छा थी कि ऐसा ही हो ?"

"और हमारे देश मे जिस वस्तु को आप होने देना चाहते है, वह नही किस प्रकार हो सकती है ?"

उन्होने अपनी आँखें नीची करके उत्तर दिया, "मेरी कितनी प्रबल इच्छा है कि जिस बात को तुमने मजाक मे कहा है, वह वास्तव मे सत्य होती।"

मैंने तत्काल उत्तर दिया, "बापूजी, मेरा तो केवल इतना ही अभिप्राय था कि आपकी मेरे भजनो को पुन सुनने की इच्छा ने ही यह करामात की है। क्योकि उसके बाद मैंने सोचा कि मै एक बार फिर आपको गाना सुनाए बिना नही जा सकता—और विशेषत श्री अरविन्द और उनके आश्रम के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के कारण आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाश किये बिना जाना मेरे लिए सम्भव नही है। और मै इस बात के लिए आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूं कि आपने एक ऐसे व्यक्ति के प्रति, जो भारत की एक विशेष विभूति है परन्तु जिन्हे लोग प्राय बहुत गलत रूप मे समझते हैं, अपना सम्मान प्रदर्शित किया है।"

कुछ देर तक वह मेरी ओर गौर से देखते रहे, उनके नेत्रो से करुणा टपक

रही थी। उन्होंने उत्तर दिया, "परन्तु मै एक ऐसे महान् व्यक्ति को उसका उचित श्रेय देने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता था ?" जब मैने उन्हे विदा होते हुए अन्तिम प्रणाम किया तो उन्होने मद स्मित के साथ मुझे आशीर्वाद दिया। मुझे आनन्द की अनुभूति हुई, परन्तु तो भी एक गहरी उदासी ने मुझे दवा लिया—वह विपत्तिसूचक स्वप्न निर्दयतापूर्वक मेरे हृदय मे उठने लगा।

नैराश्य तथा आन्तरिक एकाकीपन की भावना

अगले दिन सध्या समय जब मै प्रार्थना-सभा मे पहुंचा, तो मैने देखा कि वही बूढे सिक्ख-मित्र मुझे देखकर उत्साह से चमकते हुए चेहरे के साथ मेरी ओर दौडे।

मैंने उनके अभिवादन का कोई प्रत्युत्तर न देते हुए उनसे कहा, "पर मुझे बताओ कि क्या तुम आज शिष्टतापूर्वक आचरण करोगे या नही ?"

"साधुजी, मैं प्रतिज्ञा करता हूं 'जो भजन "

परन्तु मुझ पर उसका कुछ असर न हुआ। जैसे ही वह आगे कहता गया, मेरा ध्यान कही और चला गया, और मै आश्चर्य करने लगा कि क्या यह मेरी कोरी मानसिक कल्पनामात्र ही तो नही है ? क्या सगीत ने वास्तव मे ही सहायता की है ? क्या जनसाधारण मे मानवीय प्रकृति 'अहम्' के विषाक्त तत्त्व मे इतनी अधिक विषैली नही हो गई है कि ऐसे ऊपरी उपचारो व औषधियो से उसकी वास्तविक चिकित्सा नही हो सकती ?

"वह प्रकाश जो उसकी आत्मा लाई है, उसे उसके मन ने खो दिया है, जो कुछ उसने सीखा है, वह शीघ्र ही पुन सन्देह मे परिणत हो गया है, सूर्य उसे अपने विचारो की छाया प्रतीत होता है, तब पुन सब छाया ही मे परिणत हो जाता है, और सत्य कुछ नही रहता "[1]

मैंने सोचा यदि ऐसा ही है तो जो भजन मैं आज गाने जा रहा हू वह मुझे क्यो गाना चाहिए ?

हम ऐसे देश के वासी है, जहाँ शोक नही और आह नही।
जहाँ मोह नही और ताप नही, जहाँ भरम नही और चाह नही॥
जहाँ प्रेम की गगा बहती है
और सृष्टि आनन्दित रहती है
जो है यहाँ एक चहैती है
दिन रात नही, सन् माह, नही।
हम ऐसे देश के वासी है, जहाँ शोक नही और आह नही॥

---

१ 'सावित्री,' खण्ड ३, अध्याय ४—श्री अरविन्द।

यहाँ सवको सब कुछ मिला हुआ
और सौदा पूरा तुला हुआ
इस साँचे मे सव ढला हुआ
कुछ कभी नही, परवाह नही।
हम ऐसे देश के वासी है, जहाँ शोक नही और आह नही॥
जहाँ स्वारथ का रूप औ नाम नही
कोई खास नही कोई आम नही
कोई आका और गुलाम नही
यहाँ दीप्ति रहती पर दाह नही।
हम ऐसे देश के वासी है, जहाँ शोक नही और आह नही।
जहाँ मोह नही और ताप नही, जहाँ भरम नही और चाह नही॥

परन्तु जव प्रार्थना के बाद महात्माजी ने मुझे इगित किया, मुझे यही भजन गाना पडा। और जव मैं गाने लगा तो मेरी उदासी यद्यपि प्रसन्नता मे परिणत न हो सकी, तथापि धीरे-धीरे आत्म-समर्पण की भावना ने उसका स्थान ले लिया। परन्तु यह भाव थोडी ही देर टिक सका, और जव मै भजन समाप्त करने लगा तो उदासी के प्रवाह के एक ही झोके ने मेरी समस्त प्रसन्नता को विलीन कर दिया। गाधीजी को भी अवश्य किसी-न-किसी प्रकार इसका आभास मिल गया, और उन्होने अपनी आदत के अनुसार भजन के वाद मेरी तरफ अभिनन्दनसूचक दृष्टिपात नही किया। इससे मेरा विषाद और भी गहरा हो गया, क्योकि मे यह अनुभव कर रहा था कि छिपाने के समस्त प्रयत्नो के बावजूद, महात्माजी अपने जीवन से सर्वथा ऊव चुके है, वे ससार से थक गये है · और दीर्घ विश्राम के लिए इच्छुक है। क्या यही कारण नही था कि ऐसी 'परियो की कहानी' के भजन को सुनने के लिए उनकी इतनी प्रबल कामना थी। जैसे भी हो, इच्छा रहते हुए भी महात्माजी द्वारा की गई भजन की व्याख्या को मैं सुन न सका। इसलिए मै उनकी जो व्याख्या पत्रो मे प्रकाशित हुई थी, उसी को यहाँ उद्धृत करता हूं।[1]

"प्रतिदिन के नियमानुसार प्रार्थना हुई। श्री दिलीपकुमार राय ने भजन गाया, जिसकी पहली पक्ति की व्याख्या मे गाधीजी ने कहा कि भक्त लोग उस भूमि पर वास करते है, जहाँ दुख व यातना का लेश भी नही है। गाधीजी ने कहा कि मेरी सम्मति मे इसके दो अर्थ है। पहला अर्थ यह है कि वे उस देश के—अर्थात् उस भारत देश निवासी है जहाँ न कोई कष्ट है

१ वाद मे 'देहली दिनचर्या' मे प्रकाशित, पृष्ठ १२७-८।

न होता है। परन्तु ऐसा कोई भी समय मुझे मालूम नही है जबकि भारत देश मे दुःख व कष्टो का सर्वथा अभाव रहा हो। इसलिये पहला अर्थ कवि की एक इच्छामात्र है। दूसरा अर्थ आत्मा और उसके निवासस्थान शरीर से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार आत्मा ऐसे शरीर मे निवास करती है, जो गीता के शब्दो मे क्षणिक मानसिक विकारो का निवास-स्थान न होकर सच्चे धर्म का निवास-स्थान है। प्रयत्न की सफलता के लिये शर्त केवल यही है कि उस निवास-स्थान का स्वामी राग, द्वेष, लोभ, मोह, काम आदि पाँच शत्रुओ से मुक्त हो। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्ददायक मानसिक स्थिति को प्राप्त कर सकता है। यदि यह पर्याप्त मात्रा मे सभव हो सके, तो भारत के बारे मे कवि का यह स्वप्न शीघ्र ही सत्य हो सकता है "

सभा के पश्चात् मैदान मे मैंने उन्हे अन्तिम अभिवादन किया। उन्होने विषादपूर्ण करुणा दृष्टि से मेरी ओर देखा और कहा

"वह भजन बहुत अच्छा था।"

"मुझे मालूम है कि आपको यह विशेष प्रिय है।"

उन्होंने दीर्घ निःश्वास छोडते हुए कहा, "अब कब सुनाओगे ? कल ?"

मैंने क्षमायाचनापूर्वक उत्तर दिया, "मुझे खेद है बापूजी ! आपने मुझे एक सप्ताह के लगभग रोक लिया है। कल मुझे कलकत्ता के लिए प्रस्थान करना है।"

उन्होंने हसते हुए कहा, "बहुत अच्छा ! यदि तुम्हे जाना है तो अवश्य जाना चाहिए, आखिर इसका अत तो है ही। परन्तु मै तुम्हे कल प्रार्थना-सभा मे न देख पाऊँगा।"

जब मैं उनसे पृथक् हुआ, मेरी आँखे आँसुओ से तर हो गई। मै पहले कभी उनसे इतना अधिक प्रभावित न हुआ था। मैंने इस भाव को कि "मैं उन्हे फिर कभी न देख सकूँगा,' अपने हृदय से निकालने की भरसक चेष्टा की, पर सफल न हो सका। यद्यपि इस विचार ने मुझे उनके प्रति और भी अधिक सहानुभूतिपूर्ण बना दिया, तथापि मै यह जानता था कि इसका उस अत्यधिक आकर्षक प्रभाव से कोई सम्बन्ध नही था, जो उन्होने मेरे मन पर डाला था, और मेरी समस्त दृढता के बावजूद, जो मैं अपने दूर हटते हुए कदमो का कारण न समझ सका, उस तथ्य ने भी मेरे हृदय पर पडने वाले उनके प्रभाव की मात्रा को और तीव्र कर दिया। मैं इस बात से वस्तुत इनकार नहीं कर सकता कि उनके गत कुछ वर्षो के राजनैतिक नेतृत्व से मेरा पूर्ण मतभेद था, और एक विशेष लक्ष्य को लेकर ही उनसे मैं मिलने के लिए आया था। मुझे यह भी स्मरण है कि मैंने बहुत-कुछ आत्महत होकर ही ऐसा किया था, ताकि उस समय पर—विशेषत प्रार्थना-सभा मे उनके प्रति

किसी प्रकार का वैयक्तिक सम्मान प्रदर्शन, किसी प्रकार की कृत्रिमता का द्योतक न हो जाय। साथ ही मुझे उनकी राजनैतिक विचारधारा की छूत का भी भय था। तथापि क्या उन्होने अपने चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व के स्पर्श मात्र से ही मेरी कष्टदायक अपराध-भावना को दूर नही कर दिया, और मेरे प्रति, जो समय के साथ उनके प्रति विपरीत निर्णय न देने मे अपने को अक्षम पा रहा था, दयालुता का प्रदर्शन करके मुझे और भी अधिक ऋण के बोझ मे नही दवा दिया? स्वभावत अत्यत भावुक होने के कारण उन्होने मेरे पहले उत्साह व श्रद्धा मे कमी न पाई हो यह सभव नही, परन्तु 'फिर भी एक ऐसे व्यक्ति के प्रति, जो पूर्णरूप से उनका विद्रोही हो उठा था, अपना असीम प्रेम उँडेलने मे उन्होने पहले की अपेक्षा भी अधिक तत्परता का प्रदर्शन किया। मेरे जैसे जन्म से ही अहकारी व्यक्ति के लिए यह एक आश्चर्यजनक अनुभव था, और इसने मुझे उन्हे सर्वथा एक नए रूप मे देखने का अवसर प्रदान किया, जिससे मेरी दृष्टि मे न केवल उनके व्यक्तित्व का ही मूल्य बढ गया, अपितु उनकी घटती हुई सम्मोहन शक्ति से उत्पन्न नैराश्य व आन्तरिक एकाकीपन की भावना के प्रति मेरी सहानुभूति भी अत्यन्त गहरी हो गई। इसमे कोई आश्चर्य नही कि वे 'परियो की कहानी' के गीत मे एक वैयक्तिक मुक्ति के अतिरिक्त कोई उच्च सदेश न देखते हुए भी उसे सुनना पसन्द करते थे। जब मैं हवाईजहाज मे विचार-मग्न होकर बैठ गया, तो उनकी क्षणभगुर मूर्ति मेरी आँखो के सामने नाचने लगी। मैंने उनकी एकाकी व चिन्तामग्न मुख-मुद्रा को, सिर पर उनकी विषादपूर्ण हँसी की छाप अँकित थी, देखा। और जब मैंने एक नए दृष्टिकोण से इस प्रकार उन्हे देखा, तो मेरे मन मे महाकवि भवभूति की अद्वितीय पक्ति वार-वार उदित होने लगी— "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।"

"महात्माओ के हृदय वज्र से भी कठोर और कुसुम-कलिका से भी कोमल होते है।" कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाह।

दूरवर्ती पुकार

मुझे कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपाधि प्राप्त विद्यार्थियो ने उप-कुलपति के तत्वावधान मे आयोजित एक सभा मे व्याख्यान देने के लिए निमत्रित किया था। व्याख्यान का विषय था "पाश्चात्य व भारतीय रागो मे समानता के स्थल"। ३० जनवरी, १९४८ का दिन था। मैंने कर्स्टमैन का जर्मन गीत

गाया ।

तदुपरान्त मैं यह कह ही रहा था कि उक्त राग, वैराग्य और पारलौकिकता से प्रेम करने वाली भारतीय आत्मा की भावना के कितना सन्निकट है, कि अचानक वज्रपात के समान समाचार मिला कि गाधीजी की दिल्ली मे एक हिन्दू द्वारा हत्या कर दी गई। सभा तत्काल विसर्जित कर दी गई, और एक लडका वही पर बेहोश हो गया। सब के ऊपर विषाद की काली घनी छाया पड गयी।

मैंने आज के गाने के लिए माता और पुत्र के बीच वार्तालाप के रूप मे जो रहस्यवादी गीत लिखा था, उसमे, तथा इस आकस्मिक दुर्घटना मे आकस्मिक सयोग को देखकर मैं हैरान रह गया, और घर को लौटते हुए सारे रास्ते यही सोचता रहा —

"माँ, मैं अब तुम्हारी स्नेहमयी गोदी मैं सोऊँगा,
और मुझे तग करने वाले खिलौनो से अब और अधिक नही खेलूंगा।
मैंने अत मे तुम्हारी सुदूरवर्ती पुकार सुन ली है,
तुम्हारे स्वप्न के बिना कोई भी मुक्त नही हो सकता
और न जल-प्रपात के सदृश स्वतत्र गान कर सकता है।"
"मेरे पास आओ मैं तुम्हे शान्त निन्द्रा मे सुलाने के लिये
सुरीली लोरियाँ गाऊँगी
तेरे घावो को आकाश की वर्षा से धोऊँगी,
मै तेरे लिये स्वर्ग के द्वार पर प्रतीक्षा कर रही हूं

जिसके लिए मैंने तुम्हे विह्वल और व्याकुल बनाया है।"
"मैं नही जानता था कि तुम मेरे इस मिट्टी के शरीर को
अपने दिव्य प्रकाश का आवरण पहनाओगी
और उपहारो की वर्षा करोगी, ओ मेरी माँ
मैं तो केवल चिल्लाया ही था, जब किसी ने कोई उत्तर न दिया
और तुम्हारी दिव्य करुणा को अपने से बहुत दूर समझता था।"
"लेकिन मैं अब भी जानती हूँ कि तुम्हे क्या चाहिए
और इसलिए मैंने दिन और रात विलम्ब दिया
मेरे पथ-भ्रष्ट प्रेत पुत्र ! तुम्हे अपने घर पहुँचने मे मदद करने के लिए
जब अधकार धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है, तुम अन्धकार से चिपटे हो
ओ स्वागत है ! अपने पवित्र जन्म-सिद्ध अधिकार को पुन प्राप्त करो"।

उस रात्रि मे मुझे बुखार हो आया और मैंने स्वप्न मे ही अपने-आपको बार-बार यह पक्तियाँ गाते हुए सुना

जब अन्धकार धीरे-धीरे नप्ट हो रहा है, तुम अन्धकार से चिपटे हो, ओ स्वागत है ! – अपने पवित्र जन्मसिद्ध अधिकार को पुन प्राप्त करो····· पवित्र जन्मसिद्ध अधिकार · पवित्र जन्मसिद्ध अधिकार · ·· ।

"ससार के समस्त विविध रूपो मे--पेडो, पर्वतो और मेघो की दृष्टिगोचर आकृतियो मे, मानव जीवन की घटनाओ मे, यहाँ तक कि मृत्यु की सर्वशक्तिमत्ता मे भी, रचनात्मक आदर्शवादी अन्तर्दृष्टि एक ऐसे सौदर्य का प्रतिबिम्ब देख सकती है, जिसे स्वय इसके विचारो ने ही जन्म दिया है। इस प्रकार मन, प्रकृति की अविचारपूर्ण शक्तियो के ऊपर अपनी सूक्ष्म सत्ता स्थापित कर लेता है।—समस्त कलाओ मे ट्रेजडी सबसे गौरवपूर्ण व सबसे महान् विजयशाली है, क्योकि यह अपना दुर्ग, शत्रु-देश के बीचोबीच उसके उच्चतम पर्वत-शिखर पर स्थापित करती है। उसकी अभेद्य मीनारो से शत्रु-दल के पडाव, उसके युद्ध-सामग्री भण्डार, उसकी सेनाये व किलेबन्दियाँ सब स्पष्ट दिखायी देते है उसकी चारदीवारी के अन्दर स्वतन्त्र जीवन प्रवाहित रहता है, जबकि मृत्यु, विषाद और निराशा की सेनाये और क्रूर प्रारब्ध के सब दास सेवक निर्भय नगर के नागरिको के सन्मुख सौदर्य के नये दृश्य उपस्थित करते है । उन वीर सैनिको को मेरा प्रणाम है जिहोने, अनन्त युगो के महायुद्धो के वीच हमारे लिए स्वतन्त्रता को अपवित्र नही होने दिया है।"

'स्वतन्त्र मानव की पूजा।' : बर्ट्रेण्ड रसेल

"१९२० की ग्रीष्म ऋतु मे वोल्गा के तट पर मुझे पहले-पहल इस तथ्य का अनुभव हुआ कि हमारे पाश्चात्य मस्तिष्क मे यह रोग कितना बद्धमूल है जिसे बोल्शविक लोग एक एशियाटिक जनता मे ऊपर शादना चाहते है, और जैसाकि जापान व अन्य पाश्चात्य देश चीन मे कर रहे है। हमारी नौका दिन-प्रतिदिन एक अज्ञात व रहस्यमय प्रदेश मे से गुजरती हुई आगे बढ रही थी। हमारे साथी वे शोर मचाने वाले, झगडालू, व दिखावटी लोग थे जो अपने मतलब के लिए नाना प्रकार की कल्पनाये घडने मे चतुर है, अपने स्वार्थ-साधन के लिए प्रत्येक वस्तु की तोड-मरोड कर अपने अनुकूल व्याख्या करने मे कुशल हैं, तथा जो अपने-आपको इतना बुद्धिमान् समझते हैं कि पृथ्वी पर ऐसी कोई

वस्तु नहीं है जिसे वे न समझ सकें, और ऐसी कोई मानवीय गतिविधि नहीं है जो उनकी व्यवस्था की परिधि बाहर हो । मैंने सोचा, यह बहुत सम्भव है कि ऐसे कल्पनाशील व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को बहुत से मनुष्यों की नैसर्गिक मूल वृत्तियों के विरुद्ध प्रयोग में लाकर उनके दुःखों व कष्टों को बढ़ाने में ही सहायक हो सकते हैं लेकिन मुझे किसी प्रकार भी यह विश्वास न हो सका कि औद्योगीकरण व बाधित श्रम के उपदेशों से उनके सुखों में किसी प्रकार की वृद्धि की जा सकती है ।

तथापि घर वापस होने पर मैं इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या व एक सच्ची प्रजातन्त्र सरकार के गुणों को लेकर कभी समाप्त न होने वाले एक लम्बे विवाद में प्रवृत्त हो गया—और अन्त में मुझे ऐसा भान होने लगा कि समस्त राजनीति एक ऐसे उन्मत्त दैत्य की प्रेरणा से व्याप्त है, जो शक्तिशाली व प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपने आर्थिक, राजनीतिक व सैद्धान्तिक फायदों के लिए क्रमागत सहिष्णु व भीरु जनता को अपने प्रभुत्व के नीचे दबाये रखने की शिक्षा देता है । और हम जैसे ही किसानों से छीने हुए अन्न को खाकर, और उन्हीं की सन्तानों से भर्ती की गयी सेना की सुरक्षा में अपनी यात्रा के पथ पर आगे बढ़े, मुझे यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम इसके बदले में उन्हें क्या दे सकेंगे ! लेकिन मुझे कोई उत्तर न सूझ पड़ा । प्रायः समय-समय पर मैं उनके वह विषादपूर्ण गाने व 'बालालाइका'[1] का गूँजनेवाला संगीत सुनता रहा हूँ, परन्तु उनकी उस ध्वनि ने निर्जन मैदानों की स्वच्छता में मिलकर मेरे हृदय में एक ऐसी भयानक सन्देहयुक्त पीड़ा का उदय कर दिया है, जिससे कि पाश्चात्य आशावाद का पौधा कुम्हलाता प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त मानसिक स्थिति में, एक नयी आशा की खोज में मैंने चीन के लिए प्रस्थान किया ।'

अध्याय 1—प्रश्न—चीन की समस्या—
बर्ट्रेण्ड रसेल

'तर्क और विज्ञान के द्वारा हम मनुष्य जाति के लिए अपनी उत्कृष्टतम शक्ति का प्रयोग कर सकेंगे ।'

'गेटे'

---

1 बालालाइका—एक रशियन वाद्य

३

बर्ट्रेण्ड रसेल

१९२० मे कैम्ब्रिज मे पहले-पहल मुझे बर्ट्रेण्ड रसेल के विशुद्ध स्फटिको-ज्ज्वल विचारो से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसकी नयी दुनिया के स्वप्नो ने हममे से वहुतो की कल्पना को उत्तेजित किया था।

"आजकल ऐश्वर्य या धन से ही सन्मान की प्राप्ति होती है, एक ऐसे समाज मे जिसमे धन की उपलब्धि नही की जा सकती, और दरिद्रता का भय नही है, आर्थिक मापदण्ड को इतनी मुख्यता नही दी जाएगी—ऐसे ही वायु-मण्डल मे कला का पुनर्विकास सभव है, और विज्ञान के व्यापारिक स्वार्थो व युद्धो के लिए दुरुपयोग की आशका नही है। ऐसे वायुमण्डल मे मानवीय आत्मा अनादिकालीन भौतिक चिन्ताओ के वन्धनो से मुक्ति पाकर अपने वास्तविक प्रकाश को पहली वार प्रकट करने का अवसर पा सकेगी। जीवन सव मनुष्यो के लिए सुखमय हो सकेगा व उत्कृष्टतम व्यक्तियो के लिए अत्यन्त गौरवशाली हो सकेगा।"

और पुन "हम ऐसे ससार का निर्माण करना चाहते है जिसमे ज्वलन्त निर्माणात्मक भवना विद्यमान होगी, जहाँ जीवन आशा और आनन्द का एक साहसिक अभियान होगा,—जहाँ जो प्राप्त है उसे चिपटे रहने, या जो दूसरो के पास मौजूद है उसे छीनने की इच्छा के स्थान पर नवनिर्माण की अभिलाषा वलवती होगी। यह ऐसा ससार होगा जिसमे प्रेम का स्वतन्त्र विकास होगा, जिसमे प्रेम के अन्दर किसी प्रकार स्वामित्व की इच्छा छिपी हुई न होगी, ईर्ष्या व अत्याचार को वहिष्कृत करके उसका स्थान आनन्द व जीवन का निर्माण करनेवाली मूल प्रवृत्तियो का अवाधित विकास ग्रहण करेगा। ऐसे ससार की रचना सभव है, इसके लिए मनुष्यो के हृदयो मे उसे निर्माण करने

की इच्छा की ही केवल आवश्यकता है।"

आज यह ऐसी अवास्तविक-सी वस्तु प्रतीत होती है— बीस वर्ष के थोडे समय मे एक सर्वथा असँभव सी चीज दिखायी देती है। लेकिन तो भी इस सगठित अत्याचार व तानाशाही के युग मे भी जो किसी प्रकार के मानवीव मूल्यो का आदर नही करता, हम अब भी अपने हृदयो को उन निश्चित भविष्यसूचक शब्दो से आश्वस्त व दृढ कर सकते हैं —

"इस बीच हम जिस दुनिया मे रह रहे है, उसके आदर्श भिन्न है। लेकिन यह अपनी उष्णवासनाओ की अग्नि मे,स्वय भस्मीभूत हो जाएगी, और उसके भस्मावशेष से एक ऐसे आशामय नव विश्व का अभ्युदय होगा, जिसकी आँखो मे उषाकालीन प्रकाश की ज्योति विद्यमान होगी।"

यूरोप के बहुत-से नवयुवक व नवयुवतियाँ बर्ट्रेण्ड रसेल को अब भी एक मसीहा मानते हैं, हैवलाक ऐलिस, लास्की व जोड जैसे प्रसिद्ध विद्वान् उसे पश्चिम का एक सबसे अधिक विचारशील दार्शनिक मानते है। और हममे से कुछ भारतवासियो को वह मिथ्या कल्पनाओ से शून्य आदर्श प्रेम, निर्दयता से रहित शक्ति, तथा अश्रद्धा से रहित तर्क के उपासक व गायक के रूप मे मुख्यतया प्रेरणा देते हैं।

परन्तु फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उन्हे समझना सुगम है। उनकी प्रकृति बडी पेचीदा है। अभी वह रहस्यवाद का उपहास करते है, पर अगले ही क्षण मे वह एक प्रामाणिक रहस्यवादी की तरह वस्तुओ मे एक विचित्र सौंदर्य व दु ख की भावना का अनुभव करने लगते है, जैसाकि उनकी 'स्वतन्त्र व्यक्ति की पूजा या प्रश्न' नामक पुस्तक से स्पष्ट होता है। इसी प्रकार वे अभी प्राचीन ससार के बारे मे सहानुभूति का भाव प्रदर्शित करते है, परन्तु उसी क्षण मे अमेरिका से यह आशा करते है कि वह अपने शक्तिशाली विज्ञान व दृढ सगठन की शक्ति द्वारा उसे सर्वनाश से बचा ले। कुछ वर्ष हुए उन्होने एक लेख मे लिखा था —

"मैं यह सोचने के लिए विवश हू कि यन्त्रो का आविष्कार मनुष्य जाति के लिए दुर्भाग्य का कारण है" परन्तु साथ ही उन्होने यह भी घोषित किया "लेकिन जब यन्त्रो का आविष्कार हो चुका है, तो कोई भी ऐसा देश जो प्राकृतिक भूगोल की दृष्टि से इसके अनुकूल है, उनका बहिष्कार नही कर सकता। मैं गाधीजी के भारतवर्ष मे यान्त्रिक औद्योगीकरण के बहिष्कार के प्रयत्न से सर्वथा सहमत हू, यदि उसमे सफलता सभव हो तो मैं उसका सब प्रकार से समर्थन करूँगा। परन्तु मुझे निश्चय है कि उन्हे इसमे सफलता प्राप्त होना असम्भव है। यान्त्रिक औद्योगीकरण प्रकृति की एक शक्ति के समान है, हमे

इसे स्वीकार करना चाहिए, और उसका श्रेष्ठतम उपयोग करना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि उनका मन न केवल अयुक्तियुक्त कट्टर सिद्धातो को अस्वीकार करने के लिए ही जागरूक है, बल्कि वे सत्य को कभी भी ईमानदारी से अपनी दृष्टि से ओझल करने के लिए तैयार नही, चाहे वह सत्य जीवन के बारे मे उनके दृटिकोण के विरुद्ध ही क्यो न जाता हो। यही कारण हैं कि जहाँ वे विज्ञान के जन्मदाता के रूप मे पश्चिम की प्रशसा करने के लिए विवश है, वहाँ पूर्व से भी उनका अगाध प्रेम है, और वे आशा करते है कि "हमारे विज्ञान के बदले में चीन हमें अपनी महान् सहिष्णुता और विशाल अवलोकन द्वारा प्राप्त मानसिक शान्ति के रूप मे कुछ प्रतिदान कर सकेगा।"[2] यह किसी से छिपा नही है कि एक कट्टर समाजवादी होते हुए भी वह रूस मे कितने अप्रिय हैं। इसका कारण केवलमात्र यही है कि वह साम्यवाद की स्थापना करने के लिए रूस के तानाशाही साधनो के विरुद्ध है। वह एक साथ ही सदेहवादी व श्रदालु दोनो है।

इस सबध मे मुझे एक पूर्व घटना याद आती है, जो कलकत्ते मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मुझे एक दिन सुनाई थी। उन्होने कहा था, "मै उन दिनो कैम्ब्रिज मे पढता था, रसेल एक दिन प्रात भ्रमण के लिए मुझे अपने साथ ले गये। हम टहलते हुए एक कैथोलिक चर्च के पास से गुजरे, जिसमे उस समय गाना हो रहा था। मैंने रसेल से भीतर चलकर सुन्दर भजनो को सुनने का प्रस्ताव किया। "नही, धन्यवाद।" उन्होने उत्तर दिया। ये भजन, यह सुगध और रग-बिरगे शीशे मुझे उन भावनाओ का आदर करने के लिए मजबूर करते है, जिन्हे मेरी बुद्धि स्वीकार नही करती, मै अपने मानसिक आकाश को रहस्यवाद के मेघो से मुक्त रखना चाहता हू।"

अमेरिका के विलड्यूराट ने रसेल का मूल्याकन किया है जोकि उद्धृत करने योग्य है "ससार के अनुभव ने रसेल को यह निश्चय करा दिया है कि उसके सूत्रो के प्रयोग के लिए यह विश्व एक अत्यन्त महान् विस्तृत क्षेत्र है, और सभवत उसकी अभिलाषाओ के अनुसार गति करने के लिए यह अत्यत विशालकाय है। और यहाँ पर नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न हृदय व नाना प्रकार की ही भिन्न-भिन्न इच्छाये हे। वह अब पहले से अधिक बुद्धिमान् व प्रौढ हो गये है। समय व जीवन के नाना प्रकार के अनुभवो ने उन्हे पहले की अपेक्षा अधिक परिपक्व बना दिया है, रक्त-मास के देह की समस्त स्वाभाविक दुर्बलताओ से हमेशा की तरह पूर्णतया अनभिज्ञ होते हुए, पर साथ

---

१ पूर्व व पश्चिम के भावी सास्कृतिक सम्वन्व—नवपूर्व-रसेल
२ 'चीन की समस्या'—अध्याय ११, रसेल।

ही समाजिक परिवर्तनो की कठिनाइयो को भी समझते हुए वह सयम के मध्यम मार्ग को अपनाने लगे है। अच्छी तरह से देखने पर वह सब प्रकार से मनुष्य के प्रेमपात्र हैं। गहनतम दार्शनिक विचारो व गणितशास्त्र की सूक्ष्मतम समस्याओ के समझने मे समर्थ होते हुए भी वह एक निष्ठाशील व्यक्ति की तरह अपने भावो को अत्यत सरल व स्पष्ट शब्दो मे प्रकट करते है। वह एक ऐसे महान् व्यक्ति है जो एक गभीर विचार-क्षेत्र मे विचरण करते हुए भी मनुष्य जाति के प्रति रहस्यवादी कोमलता की प्रकाश-ज्योति से प्रदीप्त हैं। वह दरवारी नही है, परन्तु निश्चय ही एक ऐसे विद्वान् व सभ्य पुरुष है जोकि वाइविल का प्रचार करने वाले अनेक ईसाइयो से कही उत्कृष्टतर ईसाई है।"

यह सर्वथा सत्य हैं। और यही कारण है कि वह अपनी मौलिक सत्यनिष्ठा के कारण निर्दयशक्ति का आश्रय लेकर विजय प्राप्ति की अपेक्षा प्रेम की पराजय को स्वीकार करना अधिक पसद करते है, और इस प्रकार पराजित होते हुए भी वह विजयश्री को प्राप्त कर लेते है। वह एक निष्पक्ष तार्किक की भाषा का प्रयोग करते हुए भी प्रेम और श्रद्धा के गायक कवि है। एक दयापूर्ण कवि-हृदय के बिना कौन इस प्रकार लिख सकता है –

"एक ही भाग्य के सुदृढ बधन से अपने सहकर्मियो के साथ बँधा हुआ स्वतत्र मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसे एक ऐसी नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है जो उसके प्रत्येक दैनिक कार्य मे प्रेम का प्रकाश विकीर्ण करती है। मनुष्य जीवन अँधेरी रातो मे अदृश्य शत्रुओ से घिरे हुए, थकावट व पीडा से क्लात एक ऐसी सुदीर्घ यात्रा के समान है, जिसके लक्ष्य तक कोई विरले ही पहुचने की आशा कर सकते है, और जहाँ पर कोई भी अधिक देर तक नही ठहर सकता। एक-एक करके जैसे वे आगे बढते है, हमारे साथी सर्वशक्तिमान, मृत्यु के मौन आदेश से हमारी आँखो के आगे से ओझल होते जाते है। हमारे पास बहुत ही थोडा समय है जिसके अन्दर हम उनकी कुछ मदद कर सकते है, व जिसमे उनके सुख दुख का निर्णय होता है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके मार्ग मे यथासभव सूर्य का प्रकाश बिखेरते चले जाएँ, सहानुभूति के प्रलेप द्वारा उनके कष्टो को हल्का करने का प्रयत्न करें, उन्हे अनन्त प्रेम के विशुद्ध आनन्द का उपभोग करायें, उनके टूटते हुए साहस को पुन उद्दीप्त करे, और निराशा के समय उनके हृदय मे श्रद्धा व विश्वास की ज्योति जगा दे। हमे उनके गुणो व अवगुणो को तराजू के पलडो मे नही तोलना चाहिए अपितु केवल उनकी आवश्यकताओ की तरफ दृष्टि डालनी चाहिए। उनके दुखो, कठिनाइयो व उनके उस अज्ञान की तरफ देखना चाहिए,जिसके कारण उनके जीवन दुखमय हो गये है। हमे याद रखना चाहिए, कि वे भी हमारे ही समान अँधेरे मे यात्रा करने वाले, उसी दुखान्त नाटक के पात्र, हमारे साथी है। और इस प्रकार जब

उनका समय समाप्त हो जाय, जब उनके गुण व दुर्गुण भूतकालीन अमरता के साथ सनातन बन जाये, तब हम यह कह सके कि उनकी असफलता व उनके कष्टो के लिए हमारे कार्य उत्तरदायी नही है, बल्कि हमे इस बात का सतोष हो सके कि जब भी उनके हृदय मे कोई दिव्य ज्योति उदित हुई है, उस समय हमारा साहस, हमारी प्रेरणा, हमारी सहानुभूति व हमारे वीरतापूर्ण शब्द उन्हे उत्साहित करने के लिए उनके साथ थे।"

वह ऐसे महान् व्यक्ति थे जिनसे मिलने की मेरी प्रवल इच्छा थी, यद्यपि उनकी विज्ञानोपासना को कभी भी मैंने गभीर रूप मे ग्रहण नही किया था। कई वर्ष बाद, जबकि श्री अरविन्द के योगाभ्यास द्वारा मुझे थोडी सी यौगिक बुद्धि प्राप्त हुई, तब मुझे यह जानकर सतोष हुआ कि रसेल के मूल्याकन मे मैंने उनके मानसिक विश्वासो, औरउनके द्वारा अभिव्यक्त किए विचारो की उपेक्षा करके जो कि किसी भी व्यक्ति के बाह्यरूप को ही प्रकट करते हैं' कोई गलती नही की है। श्री अरविन्द ने एक वार मुझे एक स्थान पर लिखा था —

"मेरे लिए मनुष्य का अतिम मूल्य उसके शब्दो व क्रियाओ द्वारा नही है, बल्कि वह क्या बनता है, इसके द्वारा है।" लेकिन उस समय तार्किक के रूप मे दिखाई देने वाले उस व्यक्ति के अन्दर विद्यमान कवि व प्रेमी का मैंने अस्पष्ट रूप से ही अतर्दर्शन किया था, क्योकि उनके विज्ञान-प्रेम ने मुझे अपनी ओर आकृष्ट नही किया था, बल्कि हृदय की विशालता के अदर निवास करने वाले उनके सहानुभूति व सौदर्य के प्रेम ने ही मेरे हृदय को हिला दिया था। इसीलिए जब मुझे लोजान मे होने वाले अतर्राष्ट्रीय महिला शान्ति सघ के अधिवेशन का निमत्रण प्राप्त हुआ मैंने उसे तुरन्त ही स्वीकार कर लिया, क्योकि मुझे पहले ही मालूम हो चुका था कि वहाँ पर रसेल भी चीन के बारे मे कई व्याख्यान देने के लिए आ रहे हैं। मुझे भारतीय सगीत पर व्याख्यान देने के लिए आमत्रित किया गया था। मैंने अपनी स्वीकृति भेज दी।

अतएव मै जर्मनी से स्विट्जरलैंड के लिए बहुत प्रसन्न हृदय के साथ रवाना हुआ। और १९२२ के अगस्त के उज्ज्वल प्रात काल मे जब मुझे पहले-पहल उनके दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ, मेरी प्रसन्नता का कोई पारा-वार न रहा। हम तीन दिन तक एक ही होटल मे ठहरे और भिन्न-भिन्न विषयो पर चर्चा करते रहे। उनसे विदा लेने के बाद मैंने उन्हे एक विस्तृत पत्र लिखा जिसमे उन दिनो जो प्रश्न मुझे बुरी तरह सता रहे थे, उनके बारे मे उनकी सम्मति व परामर्श माँगा, भारतवर्ष जैसे पराधीन देश मे, जहाँ पर जनता विदेशी राज्य के जुए के नीचे पिस रही है, क्या सगीत कला को स्वार्थपूर्ण व ऐकान्तिक सुख का साधन कहकर घृणा की दृष्टि से नही देखना चाहिए टॉलस्टाय ने कला के विरुद्ध जो कठोर आक्रमण किये है,उन पर रोलाँ के

विचार भी मैंने उन्हे लिखे।

रसेल ने उत्तर दिया (१८ अक्तूबर, १९२२ लदन)

प्रिय मिस्टर राय,

लोजान मे तुम्हारे माथ सहवास का मुझे अच्छी तरह स्मरण है। मै तुम्हारे प्रश्न का, जोकि एक ऐसा प्रश्न है जिसने कि मेरे विचारो को भी प्राय अभिभूत किया है, उत्तर देने का पूर्ण प्रयत्न करूँगा। विचार करने पर मैं कह सकता हू कि यदि मै तुम्हारी स्थिति मे होता तो मेरे विचार से मैं अपने जीवन को सगीत सेवा मे ही अर्पण कर देता, और राजनीति को केवल उतना ही समय देता जितना कि मगीत आराधना मे बाधक न होता। मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य अपनी प्रकृति के अत्यधिक विरुद्ध जाकर अन्तत कोई उपयोगी उद्देश्य सिद्ध नही कर सकता। मैंने प्राय देखा है कि किसी विशेष उद्देश्य को लेकर अपनी सुदृढ मौलिक वृत्ति का वलिदान मनुष्यो को प्राय क्रूर व पागल वना देता है और अन्त मे वे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक पहुँचाते है। कोई व्यक्ति विशेष इसका अपवाद भी हो सकता है। परन्तु यह अविचारपूर्ण ही कहा जा सकता है अपने लिए मैने एक समझौते के मार्ग का आश्रय लिया है, मैं अपना आधा समय व्यवहारिक विषयो पर लिखने व चर्चा करने मे व्यतीत करता हू और आधा समय उस गभीर चिन्तन को देता हू, जिसे मेरी प्रकृति स्वभावत चाहती है। और इसी प्रश्न पर तुम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हो। कल्पना करो कि कुछ समय के बाद भारतवर्ष स्वतत्रता प्राप्त कर लेता है, उस समय स्वभावत तुम्हारी यह अभिलाषा होगी कि तुम्हारे देश मे ऐसे व्यक्ति विद्यमान हो जो एक सुन्दर सभ्यता का निर्माण कर सके। लेकिन यदि वे व्यक्ति जिनके अदर राजनीति के अतिरिक्त अन्य गुण विद्यमान है, अपने कला-विकास की तव तक प्रवहेलना करे तो यह सभव न हो सकेगा।

अतत तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तुम्हारी मूल प्रवृत्ति की तीव्रता व शक्ति पर ही निर्भर करता है। यदि तुम्हारे जीवन मे सगीत-प्रेम ही तुम्हारी सबसे प्रवल वस्तु है तो तुम्हे उसका ही अनुसरण करना चाहिए। लेकिन यदि तुम ऐसा अनुभव करते हो कि राजनीति एक ऐसी वस्तु है जिसमे लिप्त होकर तुम मगीत के वारे मे सव-कुछ भूल जा सकते हो, तव दूसरी वात है। तुम्हारे सिवाय अन्य कोई इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर नही दे सकता। मैं केवल इतना ही निर्देश कर मकता हू कि किस दशा मे कैसा व्यवहार करना चाहिए। तुमने अपने पत्र मे जो विचार प्रकट किये है उन सबका ख्याल रखना जरूरी है लेकिन मेरे अतत यही विचार है जो मैने अपने पत्र मे तुम्हे लिखे है।

इसके वाद मैं स्वदेश लौट आया और उनके साथ पत्र-व्यवहार जारी रखा। पत्र मे उनके अपने दार्शनिक विचारो के वारे मे मैंने कई प्रश्न पूछे।

मेरे पत्र का उन्होने अपनी उसी स्वाभाविक नम्रता व स्पष्टता के साथ उत्तर दिया। १९२७ मे मुझे पुन सगीत-यात्रा पर युरोप जाने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उन्हे लदन के पते पर पत्र लिखा। उस समय वे कार्नवाल जा रहे थे, जहाँ पर उन्होने हाल ही मे एक सुन्दर ग्राम्यकुटीर खरीदी थी। उन्होने मुझे वही मिलने के लिए आमन्त्रित किया जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

वहाँ मुझे उनके व उनकी धर्मपत्नी के साथ आनदपूर्वक तीन दिन बिताने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने वहाँ उनके साथ हुए वार्तालापो का दैनिक विवरण लिपिबद्ध कर लिया था, जो दो सप्ताह बाद मैंने लदन से (मेरी रवीन्द्रनाथ के साथ हुई बातचीत के साथ, जो इस पुस्तक के अगले अध्याय मे है) उनके पास, उसे प्रकाशित करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए भेजा। उन्होने कृपापूर्वक उसे प्रकाशित करने की आज्ञा प्रदान कर दी और इस प्रकार लिखा (१२ जुलाई, १९२७) —

प्रिय मिस्टर राय,

मेरे साथ हुए तुम्हारे वार्तालापो की रिपोर्ट, और रवीन्द्रनाथ के साथ हुए तुम्हारे रोचक वार्तालाप का विवरण भेजने के लिए तुम्हे धन्यवाद। मैंने तुम्हारे विवरण को पढा है, और दो-एक स्थानो पर कुछ ऐसे स्थल निकाल दिये है, जिन्हे मैं सर्वसाधारण के सामने प्रकट नही करना चाहता, और एक-दो जगह भाषा-सबधी अशुद्धियो का भी सशोधन कर दिया है। तुम्हारी मुलाकात से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त हुई थी।

तुम्हारा शुभचिंतक,
बर्ट्रेण्ड रसेल

इन वार्तालापो का विवरण मैं नीचे देता हूँ .

मुझे पहले दिन मिस्टर रसेल ने एक बजे अपने यहाँ भोजन के लिए निमत्रित किया था। मैंने जैसे ही उनका दरवाजा खटखटाया, उन्होने स्वय आकर दरवाजा खोल दिया और स्वागतपूर्ण मुस्कान के साथ मुझे अपने अध्ययन-कक्ष मे ले गये, और थोडी ही देर मे हम पूर्णरूप से वार्तालाप मे मग्न हो गये। मैंने उनके सामने की कुर्सी पर बैठे हुए उनसे प्रश्न किया, "मिस्टर रसेल आप अमेरिका कब जा रहे है ?" उन्होने मदस्मित के साथ उत्तर दिया, "सितम्बर मे, और यही कारण है कि मैंने अपने लदन के मकान को बेचने मे कुछ जल्दी की है।"

"लेकिन आपने उसे क्यो बेचा है ? क्या लदन आपको पसद नही है ?"

"नही। मेरा विचार अब वहाँ रहने का नही है। चीन से वापस आने के बाद से ही मै प्रतिवर्ष छ मास इस ग्राम्य कुटीर मे व्यतीत करता हूं। इसके अतिरिक्त लदन का रहना बच्चो के लिए हानिकर है।"

"परन्तु अमेरिका क्यो जा रहे है ?"

"क्योकि मैं वहाँ जाकर रुपया पैदा करना चाहता हूँ। मेरा विचार पीटरफील्ड मे बच्चो का एक स्कूल खोलने का है, और उसके लिये रुपया आवश्यक है।"

"आपने 'शिक्षा' पर अपनी पुस्तक मे मैक्मिलन नामक महिला के एक स्कूल की प्रशसा की है। क्या आप उसी प्रणाली पर अपना स्कूल भी चलाना चाहते है ?"

"हाँ, मेरे विचार से वह बहुत अच्छा स्कूल है। लेकिन वह मुख्यत. निर्धन आदमियो के बच्चो के लिए ही है।"

"और आपका ?"

"मेरा स्कूल मध्यम श्रेणी के व्यक्तियो के लिए है। अर्थात् उन लोगो के लिए है जो अपने बालको की शिक्षा के लिए पैसा खर्च कर सकते है।"

"क्या आपके विचार मे इस तरह अलग-अलग विद्यालय चलाना उचित है ?"

"नही। परन्तु साधारणतया एक प्रारम्भिक स्कूल चलाना इतना अधिक व्ययसाध्य कार्य है कि एक प्राइवेट व्यक्ति जोकि बहुत ही धनी नही है, इतना खर्च बर्दाश्त नही कर सकता।"

"क्यो ? क्या आपके विचार मे ऐसे विद्यालय अपने पैरो पर खडे नही हो सकते ?"

"नही। यदि वह गरीबो के लिए है तो नही हो सकते। वास्तव मे यह एक विरोधाभास है, यदि कोई स्वय धनी नही है तो उसे धनिको के लिए स्कूल खोलने की आवश्यकता होती है।"

यह कहकर वह हँसने लगे। मैं भी उनकी हँसी मे सम्मिलित हो गया।

"परन्तु क्या राजकीय सहायता के बिना गरीबो के लिये स्कूल चलाना सभव नही है ? कल्पना कीजिये कि आपको कुछ धनी व्यक्तियो से रुपया प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त हो जाती है ?"

"आह ! लेकिन इसमे एक बडी बाधा है। यदि तुम धनिको से दाम माँगते हो तो वे साथ मे अपनी शर्त भी पेश करेंगे। क्या ऐसा न होगा ? अर्थात् वे शिक्षानीति के नियत्रण मे हस्तक्षेप न करेंगे ? और इस प्रकार क्या वे हानिकारक सिद्ध न होंगे ?"

"क्यो, वे अच्छी चीजे भी तो चाह सकते है ?"

"नही," उन्होने एक भविष्यवक्ता की दृढता के साथ कहा, "धनी आदमी जिस चीज को चाहेंगे, वह हमेशा ही बुरी होगी। तुम इस विश्वास करो।"

उनकी इस आलोचना पर हम हँसने लगे।

"इसके अतिरिक्त जब मैं धनिको की हृदयशून्यता व नृशसता का अनुमोदन करके उन पर किसी प्रकार का एहसान नही करता तो धनिक भी अपना धन देकर मुझ पर क्यो अहसान करेगे ?" उन्होने हँसते हुए कहा। उनके इस हास्य मे कटुता का मिश्रण था।

मैंने कहा, "मिस्टर वेल्स ने भी अपनी 'अमर अग्नि' नामक पुस्तक मे एक सुधारक को धनिको की सहायता पर आश्रित एक स्कूल को चलाने मे जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, उस पर बहुत बल दिया है। उनका कथन है कि वे लोग किसी भी शिक्षा-योजना मे अपनी टॉग अडाये विना न रहेंगे - और उसका यह परिणाम होगा कि कोई भी वास्तविक सुधार न हो सकेगा।"

"हॉ! मैंने भी वह पुस्तक देखी है, और उसके विचारो से मैं पूर्णतया सहमत हूं। मैं सोचता हू कि धनिको से जबानी सहानुभूति के सिवाय अभी काफी समय तक और कुछ मिलने की आशा इस बारे मे व्यर्थ है। इसलिए सुधारो को प्रयोग मे लाने का सर्वोत्कृष्ट व्यावहारिक उपाय केवलमात्र यही है कि धनिको के विरोध के बावजूद जनमत को इस तरह जागृत किया जाय कि वह राज्य के स्कूलो को अपने सरक्षण मे लेने के लिए बाध्य कर दे।"

मैंने हँसते हुए कहा, "मिस्टर रसल! ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के स्वभाव मे अन्तर्निहित अच्छाई मे आपका अधिक विश्वास नही है। मुझे आपकी 'चीन की समस्याये' नामक पुस्तक का यह सदेहात्मक वाक्य याद है "समष्टि रूप मे मनुष्य का यही स्वभाव है कि वह दूसरो की उतनी ही भलाई करता है, जितनी भलाई करने के लिए वह वाध्य होता है, परन्तु वह दूसरो को उतनी हानि पहुंचाता है, जितना कि वह पहुँचा सकता है।"

"मैंने राष्ट्रो की मानव प्रकृति के वारे मे ही ऐसा कहा है। क्या यह ठीक नही है ?" उन्होने हंसते हुए पूछा

"नही। मेरा विचार है कि आपने समष्टिरूप से सर्वसाधारण मनुष्य प्रकृति के बारे मे ही ऐसा कहा है।"[1] यह सुनकर वह हँसने लगे।

"लेकिन यदि आपको मनुष्य प्रकृति की मौलिक अच्छाई मे ही विश्वास

---

१ मैंने अपनी याददाश्त से ही यह कहा था। नीचे उनका असली उद्धरण है। "उन्होने (चीनियो ने) अभी तक यह बात नही समझी है कि समष्टिरूप से मनुष्य-चरित्र सब जगह एकसा ही है। वे इतनी हानि पहुंचाते हैं, जितनी पहुंचाने का साहस कर सकते हैं, और उतनी ही अच्छाई करते है, जितनी करने के लिए वे बाध्य होते है।"

अध्याय चार—'चीन की समस्याये'

नही है" मैंने पूछा, "तो शिक्षा द्वारा मनुष्यो के चरित्र के पुनर्निर्माण व नव-निर्माण के लिए स्थिर सुधारो का प्रचार व प्रतिपादन करने से ही क्या लाभ है ?"

"मैं यह ख्याल नही करता कि मनुष्य प्रकृति वास्तव मे अच्छी या बुरी है ही। अन्य प्राणियो की तरह मनुष्य को भी आत्मरक्षा के लिए स्वार्थ परायण होना आवश्यक है। इसके लिए कुछ ऐसे नियमो व सरक्षणो द्वारा उसे आत्मरक्षा करनी पडती है जो कि इस उद्देश्य मे उसके सहायक हो। इसलिए यदि तुम ऐसी सुन्दर योजनाये पेश करते हो जो कि उनके उक्त नियमो के विरुद्ध नही जाती, तो तुम कुछ-न-कुछ सुधार कर सकते हो।"

इस समय भोजन की घटी बजी। मिस्टर रसल मुझे भोजनालय मे ले गये। हमारे भोजन के लिए बैठने के साथ ही श्रीमती डोरा भी अन्दर प्रविष्ट हुई। रसेल का पचवर्षीय पुत्र जोन मेरे समीप बैठा, और उसकी तीन वर्ष की छोटी बहिन केट उसके सामने बैठी। मिस्टर रसेल ने मेरा परिचय दिया।

"जोनी, यह एक इडियन भद्रपुरुष है।"

बालक सन्देह की दृष्टि से मेरी तरफ देखने लगा।

"क्या तुम इडिया के बारे मे कुछ जानते हो ?" मैंने छोटे बालक से पूछा।

"ओह, हाँ मेरी टोपी मे रेड इडियन की तरह एक पख लगा हुआ है।"

"लेकिन वह तो अमेरिका मे है" बालक के पिता ने कहा "मिस्टर राय वहाँ से नही आये है। बालक ने पिता के तर्क को काटते हुए कहा, "पर रेड इडियन अमेरिका मे नही होने चाहिए, वे इडिया मे होने चाहिए।" हम सब उसकी बेचैनी पर हँसने लगे।

मिस्टर रसेल ने कहा, "हाँ मैं मानता हूं यह अवश्य परेशानी का कारण है। लेकिन तो मिस्टर राय सर्वथा लाल भी तो नही है ? तब वह कैसे एक रैड इडियन हो सकते हे ?"

इस पर बालक ने तर्क को दूर फेकते हुए ललकारकर कहा, "तो मैं एक रेड इडियन हूं, मैं अपना वह शैतानी काला कोट पहनकर उसे मार डालूंगा।"

मिस्टर रसेल ने बालक का पक्ष लेते हुए कहा, "मिस्टर राय! बालक प्राय शांतिप्रिय नही होते, तुम देखते हो कि हमारे रक्त मे युद्धप्रियता कितनी कूट-कूट कर भरी हुई है ?"

"लेकिन क्या सावधानी के साथ बचपन से ही निरन्तर चेष्टा करने पर, अभ्यास द्वारा शान्तिप्रियता के प्रति अनुराग को भी बालको मे इसी प्रकार दृढतापूर्वक नही भरा जा सकता ?"

उन्होने उत्तर दिया, "यह एक कठिन कार्य है। तुम देखते हो कि शान्ति-वाद विकसित बुद्धि की एक कृत्रिम उपज है, और इसकी उत्पत्ति भी थोडे ही समय से हुई है। इसलिए वह उच्चतार्किक बुद्धि से शून्य बालक को अपील नही करता। इसलिए ऐसे मामले मे जल्दी ही सफलता प्राप्त नही हो सकती।"

और जब हम थोडी देर बाद ड्राइंग-रूम मे प्रविष्ट हुए तो मिस्टर रसेल ने कहा, "वह पहले इतना युद्धप्रिय नही था, लेकिन कुछ दिनो से हमारे यहाँ मिस्टर रोजनगोल्ज, जो कि रूस के उपराजदूत है, उनका एक बोल्शविक बालक अतिथि होकर आया हुआ है, और वह अपने प्रथम शिष्य जोन को प्रात से सायकाल तक युद्धवाद की ही शिक्षा देता रहता है।"

मैंने विनोदपूर्वक पूछा, "तो आपके उस तरुण अतिथि ने आपकी परिपक्व शान्तिप्रियता पर विजयलाभ कर लिया?"

मिस्टर रसेल ने सहमति प्रदर्शित करते हुए कहा, 'अब तक तो अवश्य ऐसा ही है। क्या मैंने अभी यह नही कहा था कि युद्धवाद हमारे रक्त मे समाया हुआ है?"[1]

मैंने पूछा, "लेकिन आप उसे ऐसी प्रवृत्तियो से अभी से रोकने का प्रयत्न क्यो नही करते?"

मिस्टर रसेल ने उत्तर दिया, "बात यह है कि एक बालक को किसी काम से जबर्दस्ती रोकने से उसका नव्वे फीसदी प्राय उल्टा परिणाम होता है, क्योकि उस हालत मे वह उससे विरक्त होने के बजाय, उसके प्रति और भी अधिक

---

१ युद्धप्रिय देशभक्ति के बारे मे अपनी पुस्तक 'मनुष्य युद्ध को क्यो प्रेम करता है,' मे रसेल ने लिखा है, "देश व राष्ट्र के प्रति उत्कट प्रेम भावनाओ की तरह जो मनुष्य को आत्म-बलिदान के लिए प्रेरित करती है, तात्विक रूप से एक ऐसी धार्मिक वृत्ति है, जिसका मुकाबला एक ऐसे विस्तृत धर्म द्वारा ही किया जा सकता है, जो एक देश-विशेष की सीमाओ को लाँघकर सम्पूर्ण मनुष्य जाति की सीमाओ तक व्याप्त हो जाता है। लेकिन इस विस्तार द्वारा वह देशभक्ति की जड मे विद्यमान प्रारभिक सामूहिक भावना के समर्थन व शक्ति को खो देता है, और इस प्रकार कुछ थोडे से ऐसे महामना व्यक्तियो को छोडकर, जिनमे प्रेम की असाधारण युद्धकालीन न्याय-शक्ति विद्यमान है, यह उस भक्ति व श्रद्धा के मुकाबले मे, जो मनुष्य को युद्ध के मैदान मे प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का आलिगन करने के लिए प्रेरित करती है, एक अत्यत दुर्बल व मुरझाई हुई भावना ही रह जाती है। शातिप्रियता के प्रचार की जड़ मे यह तथ्य ही सबसे अधिक कठिनाई का कारण है।

आकृष्ट हो जाता है। एक निषिद्ध वस्तु के लिए आकर्षण स्वभावत और बढ जाता है, यह क्या तुम नही जानते ?"

मैंने हँसते हुए उत्तर दिया, "तो आपका यह अभिप्राय है कि इसका कुछ प्रतिकार नही है ?'

उन्होने उत्तर दिया "मेरे विचार से ऐसी स्थिति मे सबसे उत्तम यही है कि हम उनकी मूल प्रवृत्तियो को स्वाभाविक रूप से अपना कार्य करने दे।'

तदुपरान्त श्रीमती रसल बालको के साथ सैर के लिए चल पडी। मिस्टर रसल ने अपनी धर्मपत्नी से कहा कि वह भी बाद मे समुद्रतट पर उससे मिल लेंगे।

जब हम अकेले रह गये तो मैंने पूछा 'इगलैंड ने आर्क्स पर आकस्मिक आक्रमण के तुरन्त बाद रूस के साथ जो अपना सबध विच्छेद कर दिया है उसके बारे मे आपका क्या विचार है ?"

"मेरे विचार से यह पागलपन है।"

"क्या आपके विचार मे चीन मे रूस की कार्यवाहियो से भी इसका कुछ सबध है ?"

"नि सदेह! रूस के साथ इस समय हमारा युद्ध छिड जाना बहुत ही सभव था, यदि फ्रास इस समय युद्ध के लिए सर्वथा अनिच्छुक न होता।'

"इससे आपका क्या अभिप्राय है ?"

तुम देख रहे हो कि इगलैंड पोलैंड को बराबर रूस के विरुद्ध युद्ध के लिए उकसा रहा है। लेकिन पोलैंड सदा से फ्रास को अपना दैवीय सरक्षक समझता रहा है, और फ्रास इस समय रूस के साथ युद्ध मे फँसना नही चाहता।"

'औद्योगिक सभ्यता का भविष्य' नामक आपकी पुस्तक मे आपकी यह भविष्यवाणी कि अगला महायुद्ध रूस द्वारा सरक्षित पूर्व तथा अमेरिका द्वारा सरक्षित पश्चिम के बीच होने की सभावना है, बहुत कुछ ठीक ही होती प्रतीत होती है। क्योकि देखिए रूस किस प्रकार से इस समय चीन की सहायता कर रहा है ?"

"अवश्य! और मेरा विचार है कि रूस भारत की भी मदद करेगा। कम-से-कम यही एक ऐसा बडा देश है जिसका इसमे कोई स्वार्थ है।'

"किस भावना से ?"

'नि सदेह हमारा सर्वनाश करने के लिए। निश्चय ही वर्तमान बोल्शविक साम्राज्यवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद मे कोई प्रीति नही है।'

"क्या आपका यह अभिप्राय नही है कि बोल्शविक लोग भी वास्तव मे साम्राज्यवादी है परन्तु यदि वे युद्ध करने के लिए बाध्य भी होते है तो उनकी यह युद्धाभिलाषा किन्ही निश्चित आदेशो से प्रेरित प्रतीत होती है। क्या आपका

ऐसा विचार नही है ?"

रसेल ने कटाक्ष करते हुए कहा, "ऐसा कौनसा साम्राज्यवाद है जिसके सम्मुख कोई निश्चित आदर्श नही है। हम ब्रिटिश लोग क्या इस कला मे किसी से पीछे है ? जब हम तुम्हारे देश की प्रजा पर कोई नृशसतम अत्याचार करते है, तब किसी उच्चतम आदर्श की दुहाई अवश्य साथ ही देते है।"

मैने आपत्ति की, "नही मिस्टर रसेल, आपके साम्राज्यवाद व रूसी साम्राज्यवाद को एक ही श्रेणी मे नही रखा जा सकता, क्योकि रूसी साम्राज्यवाद के सम्मुख कुछ निश्चित उच्च आदर्श है, और आपके ब्रिटिश साम्राज्य के तथाकथित आदर्शो की अपेक्षा भविष्य के ससार को वे आदर्श अवश्य कही अधिक प्रभावित करेगे। साम्यवाद क्या है ? क्या इसके पास मानव जाति के लिए कोई वास्तविक नया सन्देश नही है ?"

"हॉ, मैं मानता हूँ कि निकट भविष्य मे रूस ससार के इतिहास को अवश्य प्रभावित करेगा। उदाहरण के लिए, नास्तिकता के प्रचार मे, चर्चो की निन्दा करने मे, और बहुत सी अन्य बातो मे वे आज के दिन पश्चिमी प्रगति के पथ-प्रदर्शक है। लेकिन चाहे जिस कारण से भी हो, वास्तविक साम्यवाद वर्तमान समय मे वहाँ भी सफलता प्राप्त नही कर सका है।"

"बहुत सभव है कि वे अभी अपने प्रयत्न मे सफल न हुए हो, लेकिन जब वे अपनी सतान की अगली पीढी को सुशिक्षित कर लेगे तो क्या नये नागरिक पृथ्वी का स्वरूप नही बदल डालेगे ?"

रसेल ने विचारपूर्वक उत्तर दिया, "यह कहना भी कठिन है, क्योकि जब हम अपनी सतान मे किसी विचारधारा को जबर्दस्ती डालने का प्रयत्न करते है तो उनपर उसका प्राय विपरीत ही प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म की तरफ देखो। उसने विनय व अहिंसा का कितना उज्ज्वल चित्र यूरोप की जनता के सम्मुख पेश किया है ! परन्तु यूरोप मे उसका क्या परिणाम हुआ है ?"

"यदि आपका यही दृढ मत है कि किन्ही निश्चित आदर्शो व विश्वासो को शिक्षा द्वारा बालको के मन मे डालने का प्रयत्न कोई व्यावहारिक फल नही ला सकता, तो आपकी शिक्षा सबधी योजनाओ से भी किसी फल की क्या आशा हो सकती है ?"

"कुछ विश्वास ऐसे है जो मनुष्य के कार्यो को प्रभावित करते है। ईसाई धर्म के भ्रान्त विश्वासो के प्रभाव के कारण ही आज ईसाइयो के बेहूदा तलाक के कानून मे इतनी कठोरता है, और गर्भ-निरोध के वैज्ञानिक साधनो के प्रति घृणा की जड मे भी यही ईसाइयत के विश्वास कारण है। किन्तु शान्ति-प्रियता के प्रचार मे यह विश्वास सर्वथा असफल सिद्ध हुए है। यथार्थ बात यह है कि वही

विश्वास हमारे कार्यो पर प्रभाव डालते हैं जो कि निश्चित रूप से बुरे होते हैं ।'

हम सब हँसते हुए सैर के लिए चल पडे ।

घर से बाहर आने पर मैंने पूछा, "मिस्टर रसेल, क्या आपका यह अभिप्राय है कि हमारे विश्वासो का हमारी चेष्टाओ व कार्यो पर कोई प्रभाव नही पडता ?'

'तुम देखते हो कि हमारे विश्वास तथा कार्य दोनो ही हमारी प्रकृति या स्वभाव के परिणाम हैं । अर्थात् हमारे स्वभाव के अनुसार हमारी मूल वृत्तियाँ हमें किन्ही विशेष प्रकार के कार्यो के करने के लिए जबर्दस्ती प्रेरित करती हैं । और साथ ही हमारा यह स्वभाव हमें कुछ ऐसे विश्वासो के बनाने में मदद करता है, जो कि उन कार्यों को न्यायसगत ठहराते हैं । इसलिए वास्तव मे हमारे विश्वास हमारे कार्यो के प्रति सामान्यत. प्रेरक शक्ति के रूप मे कार्य नही करते ।"

"तो इसका क्या यह अर्थ है कि यदि हमारे विश्वास परिवर्तित हो जाएँ, तो भी हमारे कार्यो मे विशेष परिवर्तन न होगा ?'

"नही, हमारे कार्यो मे अवश्य परिवर्तन होगा क्योकि हमारे विश्वास भी हमारी परिस्थितियो के अनुसार बहुधा परिवर्तित होते रहते हैं, और परिवर्तित परिस्थितियाँ विश्वास व कार्य दोनो मे ही परिवर्तन ला देती है ।'

"लेकिन क्या आपका यह विचार नही है कि अनेक महापुरुषो की उत्पत्ति का कारण उनके धार्मिक विश्वास या रहस्यवादी विश्वास ही हैं ।"[1]

"मेरे विचार से अधार्मिक पुरुषो मे भी अच्छे व्यक्तियो की सख्या यदि अधिक नही तो उनके समान अवश्य है । नि सदेह जब किसी देश ने धार्मिको की सख्या अधिक है तो उस देश मे उत्पन्न होने वाले अच्छे व्यक्तियो की अधिक सख्या भी गणित की विशुद्ध सम्भावना के सिद्धातानुसार धार्मिक ही होगी ।

---

१ श्री अरविन्द ने अपनी 'अतिमानव पुस्तक मे जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे इनकी तुलना अत्यन्त रोचक है । वह लिखते हैं कि भाग्य या स्वतन्त्र इच्छा मे विश्वास से मनुष्य के स्वभाव या अन्त जीवन मे कोई विशेष अन्तर नही आता । जो मनुष्य अपनी निष्कर्मण्यता के लिए भाग्य का बहाना ढूढता है वह यदि इस कारण न हो तो और भी कोई बहाना बना सकता है । हमारे बौद्धिक विचार या भावनाएँ हमारे कार्यों पर शासन नही करते, बल्कि हमारी प्रकृति व स्वभाव हमारे कार्यो को शासित करते हैं ।

श्री (वैदिक मनोवैज्ञानिक भाषा मे बुद्धि) नही अपितु मति या मन्यु (मन या मानसिक स्वभाव या मनोभाव) ही हमारे कार्यो के प्रेरक है ।

लेकिन इसका कारण धर्म नही है जिसने कि उन महापुरुषो को जन्म दिया है। अपितु, इसके विपरीत मेरी यह धारणा है कि धर्म ने ससार को निश्चित रूप से अधिक अशान्त व दुखी बनाया है।"

मैंने पूछा, "जिन धार्मिक रहस्यवादियो ने अपने रहस्यमय प्रकाशो व भावावेशो द्वारा उच्चतम सिद्धातो का प्रतिपादन किया है, उनके बारे मे आपकी क्या सम्मति है ? या आप उनमे विश्वास ही नही करते ?"

"उक्त प्रकाश व भावावेशो का मै एक विशेष प्रकार के अनुभव की सामग्री के रूप मे विश्वास करता हूँ, लेकिन यदि इसका अर्थ सर्वोच्च सत्ता का दर्शन है तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नही, क्योकि वे उच्चतम सिद्धात, जिनका तुमने जिक्र किया है, किसी प्रकार भी उन रहस्यमय प्रकाशो व भावावेशो का परिणाम नही है। वास्तव मे यह भावावेश व प्रकाश रहस्यवादियो को स्पष्ट रूप से स्वार्थपरायण व स्वसीमित बना देते है।"

"स्वार्थपरायण ? यह कैसे ?"

"क्योकि इन रहस्यमय भावावेशो द्वारा वे अधिकाधिक अन्तर्मुख होने लग जाते है, और नाना प्रकार की विविध चेष्टाओ से मुझे स्वास्थ्यप्रद बाह्य जीवन को घृणा की दृष्टि से देखने लगते है, और बाह्य वस्तुओ मे किसी प्रकार का रस अनुभव नही करते। इसके परिणामस्वरूप उनका आनन्दानुभव बहुत-कुछ एक विलासी व शराबी व्यक्ति के विषयानन्द के समान ही है।"

मैंने आवेशपूर्वक कहा, "मिस्टर रसेल, आप ऐसा मत कहिये।"

"मै वास्तव मे यही अनुभव करता हूँ, मुझे ऐसा कोई उपयुक्त कारण नही दिखाई देता, जिससे कि धार्मिक रहस्यवादिया को शराबियो की श्रेणी मे न रख कर अवतारो की श्रेणी मे रखा जाय।"

"लेकिन उक्त आनन्द की प्राप्ति के लिए उन्हे जो त्याग करने पडते है, व अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए जो नाना कष्ट सहन करने पडते है, जरा उनका भी विचार कीजिए "

"एक शराबी भी तो यही करता है। उसे भी अनेक कष्ट सहन करने पडते है। अपार कष्टो से उपार्जित धन को दूर फेकना पडता है, और अपने-आपको व अपने इष्ट-सम्बन्धियो को दुख व मुसीबत मे डालना पडता है। अपने नशे के आमोद के लिए उसे कितनी क्षति उठानी पडती है ?"

यह सुनकर हम सब हँस पडे।

"महात्मा बुद्ध के समान महापुरुष के बारे मे भी क्या आपकी यही सम्मति है ?"

"उनके मत्र, उनके बारे में भी यह कहते हैं कि वह शिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करना था जोकि अपेक्षाकृत एक आराम का जीवन है। क्या वास्तव में यह नहीं है? लेकिन तो भी मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि ससार के समस्त धार्मिक मनुष्यों की समष्टि के मुकाबले में भी वह श्रेष्ठतर है।"

मुझे उनके इस कथन से एक आनन्दमय आश्चर्य हुआ।

"क्या आप ईसा की अपेक्षा भी उन्हें अधिक पसन्द करते हैं?"

"निःसंदेह!' मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ईसा ने मनुष्य जाति के हित की अपेक्षा उसका अहित ही अधिक किया है।"

"लेकिन उसने जीवन को कितना सौंदर्य प्रदान किया है?" मैंने कहा।

रसेल ने जोरदार शब्दों में प्रतिवाद किया, "जीवन में अधिकतर सौंदर्य को अपहरण करने के लिए ही। यह ईसा ही था जिसने ग्रीक सभ्यता की भूमि में यहूदी धर्म की कलम लगाई। मेरे विचार में उसका यह कार्य अत्यंत दय-नीय है।'

"क्या आप ग्रीक सभ्यता के बहुत प्रशंसक हैं?"

"नहीं! पूर्ण तौर पर नहीं!" उन्होंने उत्तर दिया, "बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि मैं ग्रीक सभ्यता की बहुत-सी बातों का प्रशंसक हूँ। उदाहरण के लिए उन्होंने ज्यामिति का आविष्कार किया है, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।"

मैंने कहा, "आपकी विज्ञानप्रियता को देखते हुए इसके लिए आपकी कृतज्ञता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।"

अपनी सहमति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने कहा, "हाँ! मैं निस्सदेह विज्ञान को मनुष्य की एक महान् सफलता मानता हूँ। मैं तो यहाँ तक कहने के लिए तैयार हूँ कि यदि वैज्ञानिकों को कुछ और अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाय,' और जिसका कि मुझे विश्वास है कि वे निकट भविष्य में प्राप्त भी कर लेंगे तो वे अपने उस सीमित ज्ञान से ही, जोकि उन्होंने अभी तक प्राप्त किया है—थोड़ी ही शताब्दियों में मानवता का वर्तमान स्वरूप ही बदल देंगे।"

'वे ऐसा किस तरह कर सकेंगे?"

'एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ—यह देखने में आया है कि आजकल लगभग दस फीसदी आदमी निश्चित रूप से कमजोर दिल पाये जाते हैं। यदि

---

१ मैं कभी भी यह विश्वास नहीं करता कि बुद्धि के लिहाज से या अन्य गुणों की दृष्टि से ईसा, अन्य ऐतिहासिक विख्यात पुरुषों के समान उच्च है। मेरे विचार में बुद्ध व सुकरात इस दृष्टि से कहीं ऊँचे हैं—रसेल का व्याख्यान 'मैं ईसाई क्यों नहीं हूँ।'

वैज्ञानिको को छूट दे दी जाय, तो ऐसे व्यक्तियो को कृत्रिम साधनो द्वारा आगे वशवृद्धि करने से सुगमतापूर्वक रोका जा सकता है जिसका यह परिणाम होगा कि मनुष्यो के कष्टो मे तत्काल और यही पर पर्याप्त कमी हो जाएगी।" मैं उनके इस विज्ञान-प्रेम मे सहयोग न दे सकने के कारण मौन रह गया। उन्होने मेरे मौन को स्वीकृतिसूचक समझते हुए और अधिक उत्साहित होकर कहना प्रारम्भ किया, "विज्ञान के चमत्कार का यह एक छोटा सा ही उदाहरण है, और जितना अधिक तुम इस बारे मे विचार करोगे उतना ही अधिक विज्ञान की आश्चर्यजनक सामर्थ्य व सम्भावनाओ का तुम्हे पता लग सकेगा।"

मैने उदासीनतापूर्वक पूछा, "किस प्रकार ?"

थोडी देर तक सोचने के बाद वे मेरी तरफ देखकर कहने लगे, "कल्पना करो कि वैज्ञानिको को मनुष्य जाति की वर्तमान नस्ल को सुधारने का काम सौपा जाता है, तो वे अपने वर्तमान ज्ञान व साधनो से ही, इसी समय और यही पर जीवन को इस प्रकार नियमित कर सकते है कि जिससे तन-मन से सर्वथा स्वस्थ व्यक्तियो के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति सन्तान उत्पन्न न कर सके। इससे आगामी सन्तति की नस्ल मे एक महत्त्वपूर्ण उन्नति हो जाएगी। क्या ऐसा न होगा ?"

मैंने कुछ दुखित व खिन्न होकर पूछा, "मिस्टर रसेल ! इससे आपका क्या अभिप्राय है ? क्या आप यह कहना चाहते है कि वैज्ञानिक लोग कुछ थोड़े-से चुने मनुष्यो को ही पिता बनने का अधिकार देगे ?"

"परन्तु यदि हमे अपनी इच्छानुसार मैथुन की अनुमति हो, तो इसमे इतना दुखी होने की क्या बात है ? मेरा अभिप्राय यह है कि वैज्ञानिक लोग साधारण जन-समूह को स्वाभाविक रूप से मैथुन से वचित नही करेगे, लेकिन वे उन हिस्टीरियाग्रस्त माताओ व दुर्बल हृदय पुरुषो को, जोकि निश्चित रूप से स्वस्थ सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य है, सन्तान उत्पन्न न करने देगे। स्त्रियो को गर्भनिरोध के साधनो के प्रयोग के बिना तब तक सभोग की इजाजत न होगी, जब तक कि उन्हे तथा चुने हुए पिताओ को प्रजननशास्त्र की दृष्टि से सर्वथा योग्य घोषित न कर दिया जाएगा। अयोग्य माताओ को सभोग के समय गर्भनिरोध के उचित साधनो का प्रयोग करना आवश्यक है। नि सदेह व्यवहार मे यह इतना सरल न होगा, क्योकि यह एक बडा पेचीदा कार्य है। मैंने केवल यह एक स्थूल उदाहरण विज्ञान के दूरगामी सुधारो को पैदा करने की तात्कालिक क्षमता दिखाने के लिए ही पेश किया है।"

यहां मैं यह लिखना आवश्यक समझता हूँ कि रसेल इतने एकाकी नही है, जितना कि ऐसे विचारो को पृथक् रूप से देखने से प्रतीत होता है। बातचीत

मे प्राय एक व्यक्ति को अपना प्रभाव डालने के लिए, किसी विषय के एक पहलू पर दूसरे पहलुओ की अपेक्षा अधिक जोर डालना पडता है। इसलिए ऐसे विचार किसी व्यक्ति के विचारपूर्ण व युक्ति-युक्त परिपक्व विचारो व सम्मतियो के निर्देशक नही कहे जा सकते। रसेल एक ऐसे गभीर व दूरदर्शी विचारक है कि वे रहस्यवाद के उपहारो को सर्वथा भुलाकर विज्ञान को ही एकमात्र अपना उपास्य देव नही बना सकते। इसकी पुष्टि मे मै उनके ही दो उद्धरण देता हूँ—

'वैज्ञानिक समाज' शीर्षक लेख मे उन्होने लिखा है "कोई भी सभ्यता, जिसे वास्तव मे सभ्यता शब्द से पुकारा जा सकता है, केवल वैज्ञानिक नही हो सकती व्यावहारिक विज्ञान जीवन-रचना से सबध रखता है, यह बुराइयो को रोक सकता है, परन्तु वास्तविक अच्छाइयो को पैदा नही कर सकता। यह बीमारियो को कम कर सकता है, लेकिन यह बताने मे असमर्थ है कि स्वास्थ्य से मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह गरीबी को दूर कर सकता है, लेकिन मनुष्य को यह बतलाने मे असमर्थ है कि वह अपने धन का किस प्रकार उपयोग करे, यह युद्धो को रोक सकता है, परन्तु मनुष्य को यह नही बता सकता कि इसके स्थान पर उसे कौन से साहसिक व वीरतापूर्ण कार्यो का आश्रय लेना चाहिए। ज्ञान की खोज के रूप मे विज्ञान का अध्ययन व्यावहारिक विज्ञान-प्रणाली से एक भिन्न वस्तु है, और जीवन के लक्ष्यो मे उसका एक उच्च स्थान है, लेकिन जीवन के नाना लक्ष्यो मे वह सिर्फ एक लक्ष्य है। सौंदर्य की रचना व सौंदर्योपलब्धि, मानवीय प्रेम व जीवन का आनन्द, आदि के समान वह भी जीवन का अन्यतम लक्ष्य है। वह वैज्ञानिक समाज जो कि इन लक्ष्यो की पूर्ति नही करता, उसे सब तरह निश्चित रूप से एक उत्तम समाज नही कहा जा सकता, चाहे वह मनुष्य समाज के उन कष्टो व दुखो मे, जिनसे वह अब तक पीडित है, कितनी भी कमी क्यो न कर दे।"

अपनी 'शक्ति' नामक पुस्तक मे वे लिखते हैं—"जब हम तारा-मण्डल के ससार की प्राचीनता व विशालता पर विचार करते है, तो इस अपेक्षाकृत महत्त्वहीन नक्षत्र के बारे मे हमारे विवादो का महत्त्व बहुत-कुछ कम हो जाता है, और हमारे मतभेदो की कटुता तुच्छ व हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। और जब हम इस निषेधात्मक भाव से मुक्त हो जाते है, तब हम सगीत व कविता द्वारा, इतिहास व विज्ञान द्वारा, सौंदर्य व पीडा द्वारा यह अच्छी तरह अनुभव करने लगते है कि मनुष्य-जीवन मे कीमती पदार्थ वास्तव मे वैयक्तिक हैं, वे वस्तुए नही, जो एक युद्धक्षेत्र मे घटित होती है, या राजनैतिक सघर्ष मे दिखाई देती है, अथवा किसी निश्चित बाह्य उद्देश्य को लेकर मनुष्य-समाज के सैनिक अभियान मे दृष्टिगोचर होती है। समाज के लिए सगठित जीवन एक

आवश्यक वस्तु है, परन्तु यह एक यान्त्रिक रचना के समान ही आवश्यक है, इसका अपने-आपमे कोई मूल्य नही है। मनुष्य-जीवन मे सबसे अधिक मूल्य-वान वस्तु वही है जिसके बारे मे सब धार्मिक शिक्षक एक स्वर से निर्देश करते है।"

हम समुद्र के किनारे एक पर्वत की चोटी पर बैठे हुए थे, जहाँ से फेनिल समुद्र का मनोमुग्धकारी दृश्य दिखाई पड रहा था। उन्होने दूर तक दृष्टि-निक्षेप किया और कहने लगे, "मै ससार मे समुद्र से बढकर और किसी वस्तु से प्रेम नही करता। और इससे मुझे कन्फूशियस का यह कथन याद आ जाता है कि धार्मिक मनुष्य पर्वत को प्यार करते है, और विद्वान् पुरुष समुद्र से प्याद करते है। मै नही कह सकता कि उसने किस आधार पर ऐसा कहा है।"

"परन्तु मेरा ख्याल है कि वह दोनो को ही प्यार करता था," वह हँसते हुए कहने लगे। इस पर मै भी उनकी हँसी मे सम्मिलित हो गया। उन्होने फिर हँसकर कहा, "कन्फूशियस के मतानुसार मैं धर्म के प्रति श्रद्धा का अधिकारी नही हू।" हम धीरे-धीरे पर्वत के शिखर से समुद्र के किनारे पर उतर आये। रजत शुभ्रफेन का किरीट धारण किये लहरो का दृश्य अत्यत लुभावना प्रतीत होता था। परन्तु उस हिम-शीतल जल मे स्नान करने का साहस मुझे न हुआ।

लेकिन मिस्टर रसेल एक बालक के समान बेधडक जल मे कूद पडे और तैरने का आनन्द लेने लगे। इसे देखकर थोडी देर पहले की उनकी एक आलो-चना मुझे याद आ गई—"बिना किसी स्वार्थ के वस्तुओ मे आनन्द का अनुभव करना स्वास्थ्य का लक्षण है। एक रहस्यवादी धार्मिक व्यक्ति इस प्रकार के आनन्द का अनुभव नही करता, धार्मिक व्यक्तियो के प्रति मेरी यह एक और आपत्ति है, क्योकि अपनी आत्मकेन्द्रित पृथकता द्वारा वे जीवन के साथ अपना सबध विच्छेद करने के लिए बाध्य होते है, और इससे जीवन नीरस व आनन्द रहित हो जाता है।"

"लेकिन जो व्यक्ति धार्मिक समाधि व प्रकाश को प्रेम करते है उन्हे आप यह कैसे कह सकते है कि उनके जीवन आपके जीवन की अपेक्षा नीरस है?"

"जब एक बार उनकी आदते परिपक्व हो जाती है, और वे अपने कट्टर सम्प्रदाय की छाया मे आश्रय ले लेते है, तब उनके लिए अन्य कोई मार्ग नही रह जाता। परन्तु जब कोई व्यक्ति छोटे बच्चो को अपने तत्वावधान मे लेता है, तब वह उनमे उन उचित मूल वृत्तियो को उत्साहित करके, जो कि सम्पूर्ण जीवन को समाविष्ट किए हुए है, उनका बहुत-कुछ उपकार कर सकता है, और उन्हे स्वकेन्द्रित, सकीर्ण व स्वार्थ-परायण बनने से रोक सकता है। यह तो तुम जानते ही हो कि बचपन के डाले हुए अभ्यास जल्दी से मिट नही सकते। यही कारण है कि मै नवयुवको की शिक्षा से रहस्यवाद को निकाल

देना चाहता हूँ। बालको को जीवन मे अधिक-से-अधिक रस लेने व आनन्द की उपलब्धि करने की शिक्षा देनी चाहिए।"

"जब मिस्टर रसेल तैरने का आनन्द ले रहे थे, मै समुद्र के रेतीले किनारे पर एक शिला-खण्ड पर बैठा हुआ श्रीमती रसेल से अनेक विषयो पर चर्चा कर रहा था। अचानक मैने उनसे कहा, "श्रीमती रसेल, आपने अपनी हाइ-पेशिया' पुस्तक मे लिखा है कि मनुष्य और स्त्री की प्रकृति मे जो अन्तर है, वह मौलिक रूप से वास्तव मे उससे बहुत कम है, जितना कि बढा-चढाकर उसे प्रकट किया जाता है। परन्तु मुझे इसकी सत्यता मे विश्वास नही होता, क्योकि, क्या आपका यह मत नही है कि स्त्रियो को मनुष्यो की अपेक्षा मौलिक रूप से प्रेम की अधिक आवश्यकता है।" "मेरी ऐसी धारणा नही है। यह ठीक है कि अभी तक स्त्रियो को प्रेम व मातृत्व से अधिक अन्य कोई वस्तु प्यारी नही थी। लेकिन इसका कारण समाज की वह व्यवस्था ही है जिसके कारण वे मनुष्यो के कार्यो मे रस लेने से वचित रखी गई है, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि यदि उन्हे भी पुरुषो के समान शिक्षा व अवसर दिया जाय, तो वे भी जीवन मे, विचार-जगत् मे तथा अन्य नि स्वार्थ कार्यो मे उसी तरह तत्परतापूर्वक रस न लेगी।"[1]

"क्या आप इससे सहमत नही है कि स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा बच्चो को बहुत चाहती है, क्योकि स्त्रियो को बालको के पैदा करने व पालन करने मे विशेष आनन्द आता है?"

"आजकल के तथ्य आपके इस कथन की पुष्टि नही करते। मै यह देख रही हू कि ऐसी स्त्रियो की सख्या, जो कि बच्चो को नही चाहती, प्रतिदिन तेजी के साथ बढ रही है। मुझे तो कभी-कभी यह चीज बडी परेशान करने लगती है।"

"लेकिन इसका क्या यह कारण नही है कि बहुत-सी स्त्रियों का स्वास्थ्य बहुत जल्दी-जल्दी अनेक सतान प्रसव करने के कारण नष्ट हो जाता है, इसीलिए

---

१ यह अब दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा है कि स्त्रियो का कोई अलग काम मनोविज्ञान नही है। यह एक ऐसा विचार है जिसे साधुओ व वैरागियो ने जन्म दिया था, यद्यपि पर्याप्त अरसे के बाद लोगो का विश्वास इससे हट सका है। मतभेद तो हमेशा रहते ही है, वे आगे भी बने रहेगे। जब तक स्त्री और पुरुष की शरीर-रचना मे समानता नही है, तब तक उनकी आत्मा मे भी समानता नही हो सकती, परन्तु मनो वैज्ञानिक क्षेत्र मे यह अन्तर कोई विशेष महत्त्व नही रखते। अध्याय सप्तम, 'काम मनोविज्ञान,' हैवलाक ऐलिस।

वे सन्तान के प्रति विरक्त होने लगती है।"

श्रीमती रसेल ने कहा, "इसमे भी काफी सत्य है। मैने गरीब श्रमिक लोगो मे प्राय यह देखा है कि उनकी मातायें बहुधा यह जानती तक भी नही कि एक रात का पूर्ण विश्राम या सुन्दर स्वास्थ्य क्या वस्तु है? यहाँ तक कि वे जीवन के आनन्द का क्या अर्थ है, इसे भी भूल जाती है। और इसीलिए वे प्राय बच्चो से घृणा करने लग जाती है। परन्तु यदि उनके एक या दो ही सन्तान हो तो वे उनके प्रति विरक्त न होकर और अधिक स्नेहासक्त ही होती। और अल्प सन्तान होने पर न केवल उनका अत्यन्त स्नेह ही बढ जाता, बल्कि पर्याप्त समय पाकर वे घर से बाहर के स्वास्थ्यप्रद व अच्छे कार्यो मे भी दिलचस्पी लेती।" और बातो के साथ-साथ उन्होने सन्तति-निरोध की उपयोगिता पर भी बहस की और सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य के बिना सभोग पापमय है इस विचार को सर्वथा बेहूदा व अग्राह्य ठहराया।

इस समय तक मिस्टर रसेल भी स्नान से निवृत्त होकर हमारे साथ सम्मिलित हो गये और श्रीमती रसेल के समीप बडे पत्थर पर बैठ गये।

श्रीमती रसेल ने कहा, "यदि मेरे पति मुझे प्रतिवर्ष एक नई सतान को जन्म देने के लिए बाध्य करे, तो मुझे सतान का शक्ल से भी घृणा हो जाय।"

मैने कहा, "मुझे समझ मे नही आता कि मनुष्य सतति-निरोध का इतना विरोध क्यो करते है, जबकि वे प्रतिदिन यह प्रत्यक्ष देखते है कि जल्दी-जल्दी गर्भ धारण द्वारा उनकी धर्मपत्नी का स्वास्थ्य सर्वथा नष्ट हो गया है, और उसके लिये उन्हे पश्चात्ताप व कष्ट का अनुभव भी होता है।"

मैने अपने एक रिश्तेदार का उल्लेख किया, जिसने कि डाक्टर के परामर्श के बावजूद अपनी पत्नी का स्वास्थ्य इसी प्रकार विनष्ट कर दिया है, और तब भी समाज उसे अपना एक प्रतिष्ठित सदस्य समझता है।

रसेल ने उत्साहित होकर कहा, "इसके लिए भी हमे धर्म को ही धन्यवाद देना चाहिए। यही कारण है कि मैं बार-बार यह कहता हूँ कि धर्म निर्बल मनुष्यो को पीडित करने के लिए एक निर्मम व हृदयशून्य साधन है, और दूसरी तरफ वह बहुत से ऐसे सशक्त पुरुषो को, जो कि समाज द्वारा अपराधी ठहराये जाकर निर्वासित कर देने योग्य है, सम्मान का अधिकारी ठहराता है।"

"क्या आपकी वास्तव मे यही धारणा है?"

"नि सदेह मेरा यही विश्वास है। क्या तुम्हे नही दीखता कि वह व्यक्ति, जो प्रतिवर्ष सतान-प्रसव द्वारा अपनी पत्नी का स्वास्थ्य नष्ट कर डालता है, वह एक निर्दय अपराधी है।"

"लेकिन क्या उसे कष्ट नही होता? क्या मेरे रिश्तेदार को कष्ट नही है?"

नहीं, हर्गिज नहीं ! यदि वह इसका विरोध करता है और कहता है कि वह वास्तव में दुःखी है, तो मैं उसके मुँह पर यह कहूँगा कि वह या तो झूठा है या मक्कार है, क्योंकि यह एक स्पष्ट सत्य है कि वह अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिये ही अपनी पत्नी को दुःख सहन करने के लिये मजबूर करता है और इस तरह उसके स्वास्थ्य का हनन करता है। इस प्रकार अपनी कामवृत्ति की चरितार्थता ही उसके लिए सबसे मुख्य है। और धर्म भी उसकी इस पाशविकता का समर्थन करता है, क्योंकि वह उसके बेहूदा सिद्धांतो व निरर्थक दम्भपूर्ण नैतिक नियमो का पालन करने का दावा करता है।"

"लेकिन क्या काम-वासना का यह अर्थ है कि वह अपनी पत्नी को प्रेम नही करता, या उसके दुःखों का अनुभव नही करता ?"

"वह केवलमात्र अपने-आपको ही प्यार करता है। यह बडी आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि समाज एक ऐसा कानून बना देता है कि यदि आपका वह रिश्तेदार अपनी पत्नी के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाकर एक सन्तान भी पैदा करता है, तो उसे धीरे-धीरे यन्त्रणा पहुँचाकर मृत्युदंड दे दिया जायगा। उस अवस्था में भी क्या वह अपनी पत्नी को प्रतिवर्ष सतान उत्पन्न करने के लिए मजबूर करने का साहस कर सकेगा ?"

मैं मौन रहा।

"लेकिन देखो। उसका यह कार्य अपनी पत्नी को धीरे-धीरे यन्त्रणा देकर मार डालने के समान ही है। क्या यह नही है ? और मनुष्य-समाज मे क्योंकर वह किसी दंड के भय के बिना इसे सम्पादित करने का साहस करता है ? वह सिर्फ इसीलिए क्योंकि धर्म उसका प्रशंसक है, और वह आत्मसतोष के साथ सर्वथा निर्दोष या पापकृत्य समझता है।"

"लेकिन इन दृष्टान्तों में धर्म ही वास्तव में दोषी है, इस बात पर मुझे विश्वास नही होता। सम्भव है कि अन्ध-विश्वासपूर्ण धर्म दोषी हो, परन्तु सच्चा धर्म दोषी नही है। उदाहरण के तौर पर रवीन्द्रनाथ सतति निरोध के विरोधी नही हैं, यद्यपि उन्हे किसी प्रकार भी अधार्मिक या नास्तिक नही कहा जा सकता।"

"ठीक ! लेकिन रवीन्द्रनाथ बहुत से कट्टर सम्प्रदायवादी पुरुषो की तरह किसी सम्प्रदायिक व धार्मिक सस्था से सबध नही रखते। अन्ततः धर्म भी तब तक कोई विशेष हानि नही पहुँचा सकता, जब तक कि उसके विचार किसी सामाजिक सगठन द्वारा प्रचारित या कार्यान्वित न किये जाय।[1] जब तक धर्म

[1] सामाजिक विकास या मनोविज्ञान में प्रतिपादित श्रीयुक्त अरविन्द के विचारों से इसकी तुलना कीजिये -

सम्प्रदाय व चर्च एक सगठित धार्मिक मत है। और धर्म का यदि

दो-चार प्रति जोडे के हिसाब से सन्तान पैदा करनी चाहिए। यद्यपि ऐसी व्यवस्था कर सकना कुछ हद तक कठिन है।" हम सब फिर हँसने लगे।

कुछ देर बाद मैंने कहा, "यह बडा आश्चर्य है कि महात्मा गाधी जैसे सहृदय व्यक्ति भी सिद्धात के तौर पर सतति-निग्रह के विरोधी है।"

रसेल ने कहा, "वह अवश्य विरुद्ध होंगे, क्योकि वे अत्यन्त धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति है। मैं ऐसे देशभक्त धार्मिक भारतीय नेताओ से, जो धर्म के आधार पर सतति-निग्रह के विरोधी है, और उसके द्वारा स्त्री जाति की गुलामी को कायम रखे हुए है, केवल यह प्रश्न पूछना चाहता हू कि उनका ध्येय एक स्वतत्र समाज की रचना करना है अथवा वे गुलामो के समाज की सृष्टि करना चाहते है? क्योकि वह जाति, जो अपनी स्त्रियो को अपने स्वार्थ के लिए गुलाम बनाकर रखती है, उसे यदि ब्रिटिश लोग गुलाम बनाये हुए है, तो उनके विरुद्ध शिकायत करने का उसे क्या अधिकार है? जब हम अपने अधीनस्थ व्यक्तियो पर अत्याचार करते है, तब यदि हमारे ऊपर शासन करनेवाले व्यक्ति भी हम पर उसी तरह अत्याचार करे तो हमे उनके विरुद्ध शोर मचाने व नाराजगी प्रगट करने का क्या हक रह जाता है?"

सूर्य की तरफ देखते हुए श्रीमती रसेल ने कहा, "बर्ट्रेण्ड, आओ घर चले, चाय को पहले ही बहुत देर हो गई है।"

हम सब खडे हुए। लौटते हुए रास्ते मे मैंने मिस्टर रसेल से पूछा, "क्या आपका विचार निकट भविष्य मे भारत जाने का है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे लिए शायद यह सभव न होगा, क्योकि मैंने अभी अपने ऊपर नये स्कूल को चलाने का उत्तरदायित्व लिया है, इसलिए मेरे लिए इच्छा रहते हुए भी अभी पर्याप्त काल तक भारत जाना अत्यत कठिन है।'

"लेकिन आप जाना ही क्यो चाहते है? अभी थोडी देर पहले आपने कहा था कि वर्तमान भारत की मनोवृत्ति मध्यकालीन यूरोप की मनोवृत्ति के समान है। क्या मध्ययुग को अपनी आँखो से देखने के लिए आप वहाँ जाना चाहते है?"

"तुम इसे इस प्रकार भी कह सकते हो। परन्तु मैं वास्तविकता को अपनी आखो से देखना चाहता हू ताकि मुझे भारत का सच्चा अनुभव हो सके, जो वहाँ जाए बिना होना कठिन है। लेकिन कैम्ब्रिज व ऑक्सफोर्ड मे शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय विद्यार्थियो के विश्वासो को देखकर वर्तमान भारत के बारे मे मेरा उत्साह कुछ शिथिल हो गया है।"

"हाँ, मैं मानता हू कि उनकी सकुचित देशभक्ति आपको कभी पसन्द नही हो सकती।"

"मुझे उनकी देशभक्ति की उतनी परवाह नही है, यद्यपि वैयक्तिक रूप से देशभक्ति का प्रचार करने की अपेक्षा मैं मर जाना अधिक पसन्द करता हूँ—लेकिन उनका प्राचीन रूढियो के प्रति आग्रह मुझे खटकता है। मै जानता हूँ कि प्राचीन रूढियाँ सब जगह ही अत्यन्त दूषित हे, और ऐसा कोई कारण नही दिखाई देता कि भारत मे भी वे ऐसी ही न होगी।"

उन्होने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "महात्मा गाधी ने रूस का निमत्रण उसके नास्तिक होने के काणर ठुकरा दिया है, इसे मै खूब समझता हूं।"

और पुन जब हम निकट भविष्य मे भारत की स्वतत्रता की सम्भावना के बारे मे चर्चा करने लगे तो उन्होने कहा, "मेरे विचार से इस प्रकार व्यवहार करके भारत बडी मूर्खता करेगा। यह कल्पना करना सर्वथा निरर्थक है कि वह नास्तिकों के साथ मिलकर कार्य नही कर सकता। इस समय नास्तिक रूस ही एक ऐसा देश है, जिसकी भारत मे दिलचस्पी है।"

"पर क्या वास्तव मे आपका यही विश्वास है कि रूस मदद करेगा?"

"हाँ! मेरा विश्वास है कि रूस अवश्य सहायता करेगा, क्योकि पश्चिम के विरुद्ध एशिया की मदद मे ही उसका स्वार्थ निहित है। चीन की तरफ देखो। क्या वह उसकी मदद नही कर रहा? लेकिन, उन्होने कुछ देर विचार करने के बाद कहा, "यह एक ही दिन मे सम्भव नही है। बल्कि मेरा विचार है कि शाति-काल मे भारत रूस की सहायता का पूरा लाभ नही उठा सकता।"

"तो कब उठा सकेगा?"

"एक और महायुद्ध अवश्यम्भावी हे। और उस समय जबकि ब्रिटेन इसमे खुद बुरी तरह उलझा हो, भारत को अपना अवसर देखना चाहिए। और मेरे ख्याल मे भारत इस समय से पूर्व स्वतत्र न हो सकेगा।"

जून २७,

अगले दिन जब मै अपने होटल मे दोपहर का भोजन कर रहा था कि रसेल आ गये और मेरे समीप बैठ गये।

मैंने कहा, "मिस्टर रसेल, मैं आपको एक बडी रोचक बात सुनाता हूँ। लन्दन मे मेरी पडोसिन व भारतीय दर्शनशास्त्र मे दिलचस्पी रखनेवाली एक अग्रेज महिला ने मुझे आपके विरुद्ध अभी-अभी सावधान किया है।"

मिस्टर रसेल ने हँसते हुए पूछा, "वह कौन भद्र महिला है? मैं आशा करता हूँ कि वह जरूर एक थियोसोफिस्ट महिला होगी। इस देश मे उनकी पर्याप्त सख्या है।"

"मै ठीक-ठीक नही कह सकता। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि वे एक अध्यात्मवादी है। वह मुझे एक दिन एक ऐसे स्थान पर ले गई थी जहाँ पर वे प्रेतात्माओ की फोटो लेते है।"

"हा, लेकिन सिद्ध-हस्त अन्वेषक जो वहाँ जाते है इसकी असलियत को शीघ्र ही जान लेते है।"

"पर जो भी हो, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि इसमें कुछ-न कुछ-सत्य अवश्य है।"

"हाँ, निश्चय ही उसमें कुछ-न-कुछ तो अवश्य है, लेकिन इतना नही जितना वे इसे बढाकर बतलाते है। कम-से-कम अब तक कोई ऐसी निर्णयात्मक साक्षी उपलब्ध नही है, जिससे कि मृत्यु के बाद चैतन्य की सत्ता स्वीकार की जा सके।"

उन्होने कहा, "मैं तुम्हे इस बारे मे एक मजेदार घटना सुनाता हूं। एक दफा मेरे एक अध्यात्मवादी मित्र ने मुझे बडे आडम्बरपूर्वक लिखा, कि ससार मे यदि कोई भी ऐसा प्रश्न आपके सामने है, जिसका कि आप उत्तर चाहते है तो वह अपने समाधि-सदेशो द्वारा उसका उत्तर आपको दे सकता है। मैंने 'शक्ति' के सम्बन्ध मे एक वैज्ञानिक प्रश्न उसे लिख भेजा। उसकी चतुर प्रेतात्माओ ने बडे आडम्बर के साथ ऐसी रहस्यमय निरर्थक बकवास मे उसका उत्तर देने की कृपा की, जिससे किसी के ज्ञान मे तिलमात्र भी वृद्धि सभव न थी। उत्तर मे मैंने उसे लिख भेजा कि आपकी आत्माये और किसी विषय मे चाहे कितनी भी पारदर्शी क्यो न हो परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि विज्ञान व भौतिक शास्त्र का उन्हे तिलमात्र भी ज्ञान नही है।"

"परन्तु क्या आप इस बात पर विश्वास नही करते कि मृत्यु के बाद हमारी चेतना किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान रहती है?"

"इसके पक्ष मे कोई भी साक्षी उपलब्ध नही है।"

मैंने प्रत्युत्तर मे कहा, "परन्तु इसके विपक्ष मे भी तो कोई साक्षी उपलब्ध नही है?"

"यह मै मानता हूँ। परन्तु जिस वस्तु के पक्ष मे कोई साक्षी उपलब्ध नही है, उस वस्तु मे विश्वास करना कदापि बुद्धिसगत नही है, और यह बहुत-कुछ उस व्यक्ति के विश्वास के समान है जोकि अपने घोडे पर सवार होकर हठपूर्वक यह आग्रह करता है कि जिस घोडे पर वह सवार है अवश्य वही विजयी होगा जबकि उसकी पराजय की भी उतनी ही सभावना विद्यमान है।"

"किन्तु क्या आप सचमुच यह विश्वास करते है कि यह सब सुन्दर सगठन व सफलताए जो कि हमारी शक्तियो के प्रगतिशील एकत्रीकरण द्वारा सभव हुई है, अन्त मे एक अर्थहीन विराट् शून्यता व नास्ति मे विलीन हो जाएँगी?"

'इसमे सदेह ही क्या है? एक फुटबाल की टीम दलबद्ध होकर अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक खेल दिखाती है, लेकिन फिर भी अन्ततोगत्वा उसे छिन्न-भिन्न व विनष्ट होना ही पडता है।'

"मैंने फिर आग्रहपूर्वक कहा "परन्तु जब इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नही है कि हमारे शरीर की मृत्यु के साथ ही हमारा चैतन्य भी नष्ट हो जाता है, जैसा कि टेनीसन ने अत्यन्त सुन्दर शब्दो मे कहा है, 'कि जब कोई सिद्ध करने योग्य वस्तु सिद्ध नही की जा सकती, और न ही उसे अप्रमाणित किया जा सकता है, तब क्यो न सदेह के प्रकाशमय पहलू को ही ग्रहण किया जाय' ?"

"कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है, यह ठीक है। लेकिन सभावना उसी दिशा मे अधिक प्रतीत होती है क्योकि आज तक देह की सहायता के बिना मन का प्रकाश कही भी सभव नही हुआ है। इसलिए युक्तिपूर्वक यह कहा जा सकता है कि यह भी शरीर का ही कार्य है।"

"तो आप 'इस सम्वेदन' की व्याख्या किस प्रकार करते है ?"

"यह भी दैहिक व्यापार ही हो सकता है—सभवत हम आज तक केवल यह आविष्कार नही कर पाये है कि किस माध्यम द्वारा बिना तार के तार की तरह, यह कार्य करता है। इसलिए मै कोई ऐसी दृढ साक्षी नही देखता जो इस बात को पुष्ट कर सके कि हम हमेशा जीवित रहते है।"

थोडी देर मौन रहने के बाद वे फिर कहने लगे, "इसके अतिरिक्त मुझे तो हमेशा जीवित रहने की इच्छा भी नही है।"

कुछ आश्चर्यान्वित होकर मैंने पूछा, "क्यो ? क्या जीवन आपको प्रिय नही लगता ?"

"यह मेरी मनोवृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। कभी-कभी मुझे जीवन प्रिय लगता है, परन्तु कभी-कभी नही। जिस प्रकार जब तुम्हे क्षुधा लगी होती है, तब तुम भोजन को देखकर प्रसन्न होते हो, लेकिन जब तुम्हारा पेट खूब छक जाता है, तब तुम उसी मे एक प्रकार की अरुचि अनुभव करने लगते हो। जीवन के बारे मे भी ठीक इसी प्रकार है ; कभी वह अच्छा मालूम होता है, कभी नही। परन्तु वास्तव मे यह एक सर्वथा असगत वस्तु है। वास्तविकता तो यह है कि हमे सर्वथा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस बात का कोई भी प्रमाण नही है कि सृष्टि रचना अपने कार्य मे हमारी इच्छा व अनिच्छा, रुचि व अरुचि का जरा-सा भी ख्याल करती है। इसलिए जीवन के सबध मे विचार करते समय, हमे अपनी इच्छा और अनिच्छा की धारणा को दूर करके ही उसकी घटनाओ पर विचार करना चाहिए। यही हमारे लिए असली वीरतापूर्ण उत्साहप्रद मार्ग है[1] और उन्होने अपना कथन जारी रखते हुए कहा "अन्तत हमने आज तक

---

१ "दार्शनिक विचार अपने विस्तृत निरीक्षण मे, ससार को शत्रु व मित्र, सहायक व विरोधी, अच्छा व बुरा आदि दो प्रतिद्वन्दी कैम्पो मे विभक्त

मत्य के पथ पर जो कुछ भी प्राप्ति की है, जीवन और प्रकृति को समझने मे जो कुछ भी सफलता मिली है, वह सब जीवन और उससे सबध रखने वाली वस्तुओ के निष्पक्ष भाव से विश्लेषण व परीक्षण द्वारा ही सभव हुई है। और इस प्रकार की निष्पक्ष व आवेगहीन अनसधित्साद्वारा ही हम इससे भी महत्तर व गभीर सत्य के निकट पहुचने की आशा कर सकते है।"

गम्भीरतापूर्वक वह कहते गये "और धर्म के प्रति मेरी विरक्ति का यह एक और कारण है, क्योकि धर्म हमे जीवन के प्रति प्रयत्नपूर्वक एक विपरीत दृष्टि से देखना सिखाता है। वह जीवन को व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा, कामना-वासना रुचि व अरुचि आदि धारणाओ द्वारा समझने का प्रयत्न करता है। इसी का यह फल है कि जितनी ही वृद्धि हुई है, मनुष्य की उतनी ही हानि हुई है।"

"क्या आपका यह अभिप्राय है कि धर्म के उद्‌भव से पहले मनुष्य की अवस्था इससे बेहतर थी।" मैंने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"हाँ, कई वातो मे बेहतर थी। असभ्य व बर्बर मनुष्य अपने परिवार, स्वजाति बाँधव और प्रकृति मे अधिक आनन्द लेता था, वह इस बात की परवाह न करता था कि प्रकृति उसकी इच्छाओ व आकाक्षाओ के अनुकूल कार्य करती है या नही ? यह धर्म ही है जिसने और दूसरो के प्रति उदासीन कर दिया है। इसने उसे और अधिक स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रित वना दिया।[1]

"लेकिन आप रहस्यवादियो मे निचली श्रेणी के व्यक्तियो के बारे मे ही ऐसा कह सकते है। उदाहरण के लिए बुद्ध को ही लीजिये। उसने कही भी मनुष्य को स्वार्थरत होने की शिक्षा नही दी है।"

नही करता—यह सवको निष्पक्ष भाव से देखता है। विशुद्ध दार्शनिक विचार यह सिद्ध करने की चेष्टा नही करता कि शेष ससार मनुष्य के सदृश है। ज्ञान की समस्त उपलब्धि आत्मा की ही अभिवृद्धि है, लेकिन यह अभिवृद्धि तभी ठीक तरह प्राप्त की जा सकती है, जबकि सीधे तौर से उसकी अभिलाषा न की जाय। यह तभी सभव है जबकि केवल सत्य ज्ञान प्राप्ति की ही इच्छा प्रवल हो, और जब कोई भी ऐसी इच्छाये जो उसके लक्ष्य को कभी विशेष रूप मे देखना चाहती है, उसे दूषित न कर पायें।

— 'दार्शनिक समस्याये' रसेल।

१ श्री अरविन्द के विचारो की इससे तुलना कीजिए (मुझे लिखे एक पत्र मे) —"किसी हद तक अब सारे धर्म फीके पड चुके हैं। प्रकाश मे प्रवेश करने के लिए आत्मा के लिए एक नये विस्तृत द्वार की, एक ऐसे द्वार की, जिसमे वर्तमान बुद्धि और हृदय उसका अनुसरण कर सके, आव-

उन्होने उत्तर दिया "मै तुम्हे पहले ही कह चुका हूँ कि धार्मिक ससार मे मैं केवल बुद्ध को ही पसद करता हूं। वास्तव मे मुझे उसके व्यक्तित्व मे कोई भी आपत्तिजनक वस्तु दिखाई नही देती। परन्तु उसके शिष्यो ने उसे जिस रूप मे चित्रित किया है उससे जरूर मेरा मतभेद है।"

"यदि आपको बुद्ध के उपदेशो मे कोई आपत्तिजनक वस्तु प्रतीत नही होती, तो उसके पुनर्जन्मवाद के बारे मे आपकी क्या सम्मति है?"

मिस्टर रसेल ने तत्परतापूर्वक उत्तर दिया "उसने इसका प्रचार नही किया, अलवत्ता, उसके शिष्यो ने उसके नाम पर ऐसा किया है। क्या उसने अपने अन्त समय मे, जबकि उसके शिष्यो ने उसकी मृत्यु के बाद उसकी आत्मा की अविनाशिता तथा पुनर्जन्म के लिए प्रार्थना की, तब अवज्ञापूर्वक हँसते हुए उनका उपहास न किया था?"

"अच्छा तो ईसा के वैयक्तिक जीवन के सबध मे आपको क्या आपत्ति है? उसके शिष्यवर्ग की उसके सवध मे की गई व्याख्याओ का ख्याल छोड दीजिए।"

"सबसे प्रथम उसका नरक व नरकाग्नि[1] आदि का युक्तिशून्य प्रचार और फिर दैहिक आनन्द के प्रति निरर्थक वैराग्य। उदाहरण के लिए क्या उसने नही कहा कि जो किसी स्त्री को काम वासना की दृष्टि से देखता है, वह पहले

श्यकता अनुभव की जा रही है।" जहाँ तक रहस्यवादियो का अन्य प्राणियो से पृथकता का सबध है, मैं आपके सम्मुख एक रहस्यवादी का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहा हूँ "पर यदि हमारी अपनी पूर्णरूप मे मुक्ति भी हो जाय तो भी अन्य प्राणियो के कष्ट व ससार की वेदना, ये ऐसी चीजे है जिनके प्रति कोई भी महान् आत्मा उदासीनतापूर्वक नही देख सकती। सब प्राणियो के साथ एक एकता है, जिसे हमारा अन्तर अनुभव करता है। और अन्य प्राणियो की मुक्ति भी अपनी मुक्ति के समान ही इसे प्रिय होनी चाहिए। —'दिव्य जीवन, श्री अरविन्द

१ मेरे विचार मे यह सिद्धान्त की नरकाग्नियाँ मनुष्य के पापो का दण्ड है, एक क्रूरता का सिद्धान्त है। यह, वह सिद्धान्त है जिसने ससार मे अत्याचार का सूत्रपात किया है, और ससार को निर्दय अत्याचार की अनेक पीढियाँ दिखाई है, और बाइबिल के ईसा को हमे दिया है। यदि तुम ईसा को उसी रूप मे गहण करते हो, जिस रूप मे कि उसके इतिहास लेखक उसे प्रकट करते है, तो तुम्हे उसे इसके लिए किसी हद तक अवश्य जिम्मेदार मानना होगा।

—"मैं इसाई क्यो नही हू?' रसेल

ही अपने हृदय मे व्यभिचार करने का अपराधी हो जाता है, कैसी अर्थशून्य बकवास है।"

उनकी इस आलोचना पर हम सब हँसने लगे। उन्होने कहा, "आओ सैर करने चले। जब बाहर सूर्य का प्रकाश उज्जवल हो उठता है, तब मुझसे घर मे बन्द नही रहा जाता।"

जब हम सैर के लिए चल पडे, मैंने कहा, "वैराग्य के बारे मे आपने अभी जो आपत्ति प्रकट की थी, क्या आपके विचार मे इसमे कुछ भी सच्चाई व बुद्धिमत्ता का अश नही है? क्या जीवन मे इसका कुछ भी मूल्य नही है?"

"किस प्रकार?"

"आजकल प्राय सभी विचारक यह मानते है कि विचार, कला व साहित्य के क्षेत्र मे मनुष्य की जितनी भी सुन्दर रचनाएँ है, वे उसकी ऊर्ध्वगत काम-शक्ति का ही परिणाम है। ऐसी अवस्था मे क्या यह कहना उचित न होगा कि यदि हमारे उच्च कलाकार अपनी सृजनात्मक शक्ति को अनियमित विषया-नन्द मे ही नष्ट कर डालते तो मनुष्य समाज की कितनी हानि होती?"

"हाँ! इसमे मैं भी पूर्णतया विश्वास करता हूँ, और इस बात से सहमत हूँ कि कला की उत्कृष्टतम कृतियाँ किसी सीमा तक यौन सयम या ब्रह्मचर्य पर अवलम्बित है। जिसका यह अभिप्राय है कि उत्कृष्ट कलाकारो को, कला की उत्कृष्टतम रचनाओ का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी काम शक्ति को ब्रह्मचर्य पालन द्वारा ऊर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करें। लेकिन अन्य क्षेत्रो की तरह इस क्षेत्र मे भी अति का त्याग आवश्यक है। यदि तुम उचित रूप से काम शक्ति का ऊर्ध्वगमन करते हो तब तो ठीक है, वरना यदि अत्यधिक दमन द्वारा अपनी तुम इन्द्रियो का जबर्दस्ती अवरोध करोगे तो तुम्हे उसका मूल्य चुकाना पडेगा। क्योकि काम दमन का बदला जरूर लेता है।" इतना कहकर उन्होने कटाक्षपूर्वक फिर कहना प्रारभ किया, "परन्तु वैराग्यवादी लोगो के मन मे वैराग्य का प्रचार करते समय इस काम शक्ति को ऊर्ध्वगामी करने का कोई विचार नही होता। किसी हालत मे भी ललित कलाओ व मनुष्य के समन्वित व्यक्तित्व के प्रति उनकी सद्भावना उनके वैराग्य प्रचार का कारण नही है। वे तो सिर्फ अपनी इच्छावश परम्परागत नैतिकता के कठोर व कट्टर शास्त्रो का प्रतिपादन करते है। और हमारी परम्परागत नैतिकता प्राय हमारा अपकार ही करती है, क्योकि उसकी जड मे कोई युक्तिसगत आधार नही होता, और वह एकदम कठोर व कट्टर होती है।"

"इससे आपका क्या अर्थ है?"

"जब किसी कलाकार को कला की सृष्टि करनी हो तब वह ऊर्ध्वगत काम शक्ति की सहायता ले सकता है, परन्तु उसके लिए यह तभी सभव है, जबकि

अपनी यौन प्रवृति का नियत्रण उसके लिए स्वाभाविक हो अर्थात् उसे आग्रह-वश यौन प्रवृत्ति के मार्ग मे कृत्रिम रुकावटे डालकर ऐसा न करना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से उसकी रचनात्मक मूल भावना वास्तव मे उद्बुद्ध नही हो सकती। जब स्वाभाविक रूप से ही सयम की आकाक्षा उदित हो, तभी वह सयम फलदायक हो सकता है और तभी कलाकार अपनी कला की रचना मे सफल हो सकता है। इसके विपरीत, यौवन प्रवृत्ति पर जबरदस्ती लादा हुआ दमन, अन्तत जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को विकृत बना देता है और उससे किसी सुन्दर कला का निर्माण सभव नही हो सकता।"

"परन्तु कोई व्यक्ति इस बात को कैसे जान सकता है कि कहाँ तक उसे अपनी इन्द्रिय-वासना की तृप्ति करनी चाहिए, और कहाँ तक उसका नियमन करना चाहिए ?"

"समाज मे पाँच आदमियो के बीच रहते हुए, मनुष्य को जितना आत्म-सयम करना पडता है, मेरे विचार मे उससे और अधिक वीरतापूर्ण सयम की उसे आवश्यकता नही है।"

"क्या आप अपने अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करने की कृपा करेंगे ?"

"समाज मे रहते हुए, नाना क्षेत्रो मे, जिन स्त्रियो द्वारा हम आकृष्ट होते है, उन सबको पा सकना हमारे लिए असभव है और इस प्रकार जिन्हे हम प्राप्त नही कर सकते, उनके लिए हमे आत्म-सयम करना ही पडता है। उस सयम के फलस्वरूप हमारे अन्दर पर्याप्त यौन शक्ति का सचय हो जाता है। कला सृष्टि के लिए, इससे और अधिक सयम की मुझे आवश्यकता प्रतीत नही होती।" उन्होने विनोदपूर्वक कहा।

मैंने चकराकर पूछा, "क्या उत्कृष्ट कोटि के समस्त कार्य कलापो के लिए यौन शक्ति का यह ऊर्ध्वकरण आवश्यक है ?"

उन्होने कुछ देर विचार के वाद उत्तर दिया, "मेरे विचार मे ललित कला की सृष्टि व ज्ञान सृष्टि मे इस वारे मे कुछ अन्तर है। अर्थात् वैज्ञानिको के बौद्धिक कार्य यौन तृप्ति के फलस्वरूप और भी अधिक अच्छी तरह सम्पन्न होते है। लेकिन ललित कला के सृष्टा कलाकार के पक्ष मे यौन सयम आवश्यक है।"

"परन्तु कलाकार को अपनी सृष्टि के लिए इतना अधिक मूल्य क्यो देना पडता है ? जवकि वैज्ञानिको को इतना मूल्य नही देना पडता ?"

मिस्टर रसल ने सस्मित स्वर मे उत्तर दिया, "ऐसा कौन अधिक मूल्य उसे देना पडता है ? एक दिन के लिए कवि, अपने प्रति अपनी प्रेमिका मे सभवत कुछ उदासीनता का भाव पाता है, परन्तु एक सुन्दर कविता की रचना करके वह शीघ्र ही उस पर पुन विजय प्राप्त कर लेता है। दूसरे दिन ही वह फिर प्रसन्न हो जाती हैं। क्या ऐसा नही होता।"

यह सुनकर हम सव हँसने लगे। और हास्य प्रवाह के रुकने पर वह फिर

कहने लगे, "मैं मामान्य कलाकार के बारे मे ही यह कह रहा हूं। मै उसकी तुलना उम नरमयूर के माथ करता हू, जोकि मयूरी के उससे विरक्त व उदासीन हो जाने पर उसे प्रसन्न करने के लिए अपने पखो को फैलाकर आडम्बर के साथ नृत्य करता है। यदि वह उससे विरक्त न होती, अथवा इस प्रकार नखरे न करनी होती, तो शायद वह कभी भी ऐसे नृत्य का अभिनय न कर पाता। इस प्रकार अपनी विरक्ति व हठ द्वारा वह अपने प्रेमी की आँखो मे अपने मूल्य को वढाती है, क्या ऐसा नही है ?"

इसके अनन्तर भिन्न-भिन्न युगो मे मनुष्य की बौद्धिक शक्ति के तारतम्य को लेकर चर्चा होने लगी। रसेल ने जन साधारण मे प्रचलित इस विचार से कि जीवजगत मे क्रम विकास से तात्पर्य, क्रमश उन्नततर जातियो के विकास से है, अपना विरोध प्रकट करते हुए कहा। "क्रम विकास से तात्पर्य सिर्फ उस परिवर्तन से है जो कि एक जाति को अपने आपको परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनकूल वनाने के लिए अपनाना पडता है। उदाहारण के लिए केचुआ एक ऊँचे दर्जे का विकसित प्राणी है, परन्तु हम इस तथ्य को साधारणतया नही समझते।"

"क्या आपके विचार मे आजकल के मनुष्य की औसत बुद्धि, उत्कृष्टता की दृष्टि से पहले युगो के मनुष्यो से अधिक विकसित नही है। तुलना के लिए ग्रीकयुग के मनुष्यो को लीजिये।"

"यदि ग्रीक लोगो के बारे मे तुम पूछते हो, तो मै कहूंगा कि ग्रीक लोगो की वुद्धि की तुलना मे आजकल के औसत मनुष्य की वुद्धि कोई क्षमता ही नही रखती।"

"आपके विचार मे हम उनसे हीनतर है ?"

"हां, निस्मदेह।"

"लेकिन हमारी सफलताये, हमारे कार्य कलाप—"

"ओह! तुम विवादग्रस्त विषय को उलझाओ नही। जगत व प्रकृति के मवध मे ग्रीक लोगो का जितना ज्ञान था, उसकी अपेक्षा हमारे ज्ञान भडार का कुल योग उमसे वहुत अधिक है, और इसलिए हमारी सफलताये व कीर्ति कलाप भी उनसे अधिक है। ठीक इसी प्रकार जैसे कि आइन्स्टाइन न्यूटन की अपेक्षा ऊँचे पहुच गये है, क्योकि वे न्यूटन के कधो पर खडे हो सकते थे।"

"तो आप आइन्स्टाइन को न्यूटन की अपेक्षा वडा नही मानते ?"

"स्वाभाविक क्षमता की दृष्टि मे मैं उन्हे न्यूटन के समकक्ष मानता हूं, और न्यूटन के वाद एक वही ऐसे वैज्ञानिक हुए है जिन्हे कि उसके समान कहा जा सकता है। परन्तु हम ग्रीकवासियों के सबध मे वात कर रहे थे। कल्पना कीजिए कि यदि वीस हजार ग्रीक वालकों को किन्ही शीतल यन्त्रो द्वारा सुरक्षित

रखा गया हो, और आज वे हठात् पुनर्जीवित होकर हम लोगो के बीच मे उपस्थित हो जाये, तो उनमे से उत्कृष्ट प्रतिभाशाली बालक, आज के हमारे सचित ज्ञान व उपकरणो की सहायता से, हमारे उत्कृष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियो मे स्वतन्त्रतापूर्वक सिर ऊँचा करके विचरण करेगे। इससे मेरा यह अभिप्राय नही है कि ग्रीक लोगो के समसामयिक अन्य देशवासी मनुष्य भी ग्रीक लोगो के समान ही प्रतिभाशाली थे। मेरी यह धारणा ग्रीस देशवासियो के लिए ही है, अन्य देशवासियो के लिए नही।"

"यदि इतने वर्षो मे भी मनुष्य की बुद्धि मे विशेष प्रगति नही हुई है, तो भविष्य मे ही मनुष्य की प्रगति की क्या विशेष आशा व सभावना हो सकती है?"

"आशा हो सकती है, यदि विज्ञान को और अधिक स्वाधीनता दी जाय।"

"विज्ञान द्वारा?"

"हाँ! यह केवल हमारी नस्ल को उन्नत करने का ही प्रश्न है। यदि हम वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा प्राप्त अपने ज्ञान को अपनी नस्ल के सुधार मे उपयोग कर सके तो हम आने वाले अपने उत्तराधिकारियो की नस्ल मे आश्चर्यजनक उन्नति कर सकते है। सक्षेप मे यह इस प्रकार सभव है —यदि विज्ञान को स्वाधीनता दी जाय, तो वैज्ञानिक लोग केवल उत्कृष्टतम मनुष्यो को ही गर्भाधान करने की व्यवस्था कर देंगे, और साधारण मनुष्यो को सभोग के अधिकार से वचित न करते हुए भी कृत्रिम साधनो द्वारा गर्भाधान से निवृत कर देगे। इस प्रकार विज्ञान की सहायता द्वारा हमारी चमत्कारिक सफलता व कीर्ति का कोई अत न होगा। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम अपने अध-विश्वासो को तिलाजलि देकर विज्ञान पर पूरा भरोसा रखे।"

"परन्तु क्या यह सभव है?"

"इस बारे मे अभी निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। युरोप मे कैथोलिक चर्च के अनुयायी गर्भ निरोध को धर्म या नीति के विरुद्ध कहकर उसकी निन्दा करते है। इसके विपरीत वैज्ञानिक लोग चुने हुए गर्भ निरोध द्वारा नस्ल की आश्चर्यजनक उन्ननि मे विश्वास करते है। गत पचास वर्षो के अन्दर हम लोगो की औसत बुद्धि मे विज्ञान का निरादर करने के कारण अवनति ही हुई है। उस कैथोलिक चर्च को धन्य है, जिसमे विश्वास के कारण अयोग्यतम मनुष्यो ने ही अधिकतम अयोग्य सतानो को जन्म दिया है, जबकि योग्य मनुष्यो ने धर्म व चर्च की निन्दा की अवहेलना करके सतति निग्रह के साधनो का आश्रय लेकर कम सतानो को जन्म दिया है। इस प्रकार यह विज्ञान और धर्म के वीच एक प्रकार की प्रतियोगिता चल रही हे, जबकि विज्ञान मनुष्य की नस्ल की उन्नति चाहता है, धर्म जाति के अध पतन का शोर मचाता है।"

"क्या आपके विचार मे अन्त मे विज्ञान विजयी हो सकेगा ?"

"युरोप मे विज्ञान की विजय की मुझे विशेष आशा नही दिखाई देती।" रसेल ने सदिग्ध स्वर मे कहा, "हमारी एकमात्र आशा अमेरिका पर निर्भर है, जिसने कि अपने राज्य मे वैज्ञानिक साधनो द्वारा अयोग्य मनुष्यो के बीज को निष्क्रिय करना प्रारभ कर दिया है। यह उचित दिशा मे एक महान कदम है।"

"किन्तु यदि युरोप अमेरिका का अनुसरण नही करता, तब क्या होगा ?"

"यदि अमेरिका अपने पथ पर बराबर अग्रसर होता जाय, तो युरोप के उसका अनुसरण न करने पर भी कुछ विशेष हानि नही है। क्योकि उस अवस्था मे वह बहुत जल्दी ही हम जैसे पतित अधोगामी युरोपियनो की अपेक्षा एक उन्नत श्रेणी के मनुष्यो की सृष्टि कर सकेगा, और हमारा बहुत शीघ्र ही सर्वनाश हो जायगा। इस प्रकार जब तक कोई भी राष्ट्र उचित दिशा मे उन्नति के पथ पर अग्रसर है, यह ठीक ही है।"

"इस प्रकार निरपेक्षभाव से अपनी जाति के भी सर्वनाश की कामना करना अवश्य ही प्रतिशोधात्मक निष्पक्ष चिन्तन है।" मैने हास्यपूर्वक कहा।

"जब तक मनुष्य निष्पक्ष होकर विचार नही करता तब तक उसके चिन्तन का वास्तव मे कोई मूल्य नही है। अब तक मनुष्य ने जो थोडे बहुत सुख व आनन्द की उपलब्धि की है, वह जीवन के प्रति उसके आवेगरहित व निरपेक्ष दर्शन का ही फल है।"

"यह कैसे ?"

"वास्तविक आनन्द उसी को प्राप्त होता है, जो उन्मत की भाँति उसके पीछे नही दौडता और बाह्य पदार्थो मे तद्‌गत स्वाभाविक आनन्द का अनुभव करता है। अर्थात् यदि रूसी किन्ही वस्तुओ को केवल अपने सुख की कामना की दृष्टि से प्यार करते हैं, और उनके अन्दर किसी प्रकार के स्वाभाविक रस का अनुभव नही करते, तब मृगतृष्णा के समान आनन्द हमसे अवश्य ही कोसो दूर भाग जावेगा।"

जून २८,

अगले दिन लगभग एक बजे मैं उनसे मिलने गया। इधर-उधर की कुछ बातचीत के बाद मैंने पूछा, "मिस्टर रसेल ! शान्तिवाद के भविष्य के सबध मे आपका क्या मत है ?"

"मुझे विशेष आशाप्रद नही दिखाई देता।"

"तो इसके लिए, इतने लम्बे-चौडे लेख क्यो लिखते है ?"

"मनुष्य हृदय से शान्ति प्राप्ति के प्रयत्न की सफलता के लिए इच्छुक है, इसीलिए बार-बार असफल होने पर भी वह आशा का सहारा नही छोडता। परन्तु मुझे भय है कि हमारी विरोधी शक्तियाँ अत्यत प्रबल है। गत महायुद्ध

ने मेरे भ्रम को दूर कर दिया है।"

"वह कैसे ?"

"महायुद्ध के समय यह कहा जाता था कि युद्ध के वर्तमान साधन इतने भीपण हो उठे हैं कि, अन्तत मनुष्य युद्ध के नाम से ही भयभीत होने लगेंगे। लेकिन यह मनुष्य की मनोवृत्ति को गलत समझने का ही परिणाम है। कारण, मनुष्य को पराजय का जितना ही अधिक भय होता है, शस्त्र सज्जा के साथ उसकी निष्ठुरता व क्रूरता व क्रूर हिंसक वृत्ति भी उतनी ही अधिक उद्दीप्त हो जाती है। मुझे यहाँ तक आशका होती है कि आगामी युद्ध मे हमारे उन्नत वैज्ञानिक आविष्कार हमे अतर्राष्ट्रीय विध्वस के लिए और भी उत्कृष्टतर साधनो से सुसज्जित कर देंगे। उदाहरण के तौर पर मनुष्य शत्रु पक्ष के निर्दोष बालक, वृद्ध व अबलाओ तक की हिंसा के लिए उनके बीच सक्रामक रोगो के कीटाणुओ को सक्रमित करने मे भी किसी प्रकार की हिचकिचाहट न करेगा।"

"कितनी भयानक कल्पना है !'

"अवश्य ही भयानक कल्पना है, लेकिन इससे बच निकलने का कोई मार्ग दिखाई नही देता।"

"क्य कोई उपाय ही नही है ?"

"यदि अमेरिका या अन्य किसी शक्तिशाली राष्ट्र का समस्त जगत पर एकाधिपत्य हो जाय, तब सम्पूर्ण ससार एक साम्राज्य के अन्तर्गत आ जाने से सभवत भिन्न-भिन्न देश एक झडे के नीचे परस्पर शान्ति से रह सके।" भोजन का समय हो गया था। और भोजन के पश्चात् मैं, रसेल, उनकी धर्मपत्नी, व उनके दोनो बालक पर्वत की ओर भ्रमण के लिए चल पडे। मार्ग मे मैंने रसल से प्रश्न किया "वेल्ज महोदय ने अपनी विलियम क्लिसोल्ड की दुनिया" नामक पुस्तक मे लिखा है कि आजकल के विचारशील विद्वानो ने मार्क्सवाद के सिद्धातो का सर्वथा खडन कर दिया है। क्या आपका भी यही विचार है ?"

रसेल ने विचापूर्वक उत्तर दिया "मार्क्सवाद को सम्पूर्णत अप्रमाणित नही ठहराया जा सकता। कारण, मार्क्स की नीति मे पर्याप्त सत्य विद्यमान है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।"

"उदाहरण के लिए ?"

मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि वर्तमान परिस्थितियो मे बडे-बडे उद्योगो के कर्ताधर्ता मालिको की सख्या क्रमश कम होती जाएगी। अर्थात् उत्पादक शक्ति धीरे-धीरे बहुसख्यक मनुष्यो के हाथो से निकलकर थोडे से मनुष्यो के हाथ मे आ जायेगी। उसका यह कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार उसके इतिहास को आर्थिक दृष्टि से अध्ययन व व्याख्या करने मे भी पर्याप्त सच्चाई है। यह ठीक है कि मनुष्य के इतिहास को केवल आर्थिक दृष्टि से अध्ययन करने

"ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के प्रति आपका कुलीन लोगो का-सा दृष्टि-कोण है ?"

"इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?"

"ऐसा प्रतीत होता है कि आप यह मानते है कि कुछ मुट्ठीभर व्यक्तियो के लिए ही सत्य उपलभ्य वस्तु है।"

रसेल ने कुछ उत्तेजित होकर उत्तर दिया "मै किसी भी विश्वास-विशेष या नीति-विशेष का पक्षपाती नही हूँ। मैं जीवन को केवल उसके यथार्थ रूप मे देखने का प्रयत्न करता हूँ, यही मेरा एकमात्र लक्ष्य है।"

"क्या आप अपने विचार को कुछ और स्पष्ट करने की कृपा करेंगे ?"

उन्होने भावावेश मे उत्तर दिया—"जीवन के सघर्ष मे अपनी मन कल्पित नैतिक धारणाओ को पृथक् रखकर व निष्पक्ष होकर क्या तुम इस सरल सत्य को नही देख सकते ? अपनी पूर्व निर्मित रुचियो व विश्वासो की रगीन ऐनक लगा-कर, उसी रग मे वस्तुओ का अध्ययन करने की चेष्टा क्यो करते हैं ? इसके विपरीत वस्तुओ का निष्पक्ष व नि स्पृहभाव से अध्ययन करने, तथा इस सरल सत्य को समझने का प्रयत्न वे क्यो नही करते कि सत्य का हमारी वैयक्तिक रुचियो व नैतिक धारणाओ से कोई सम्बन्ध नही है। दृष्टात के लिए मुद्रा को लीजिए। मुद्रा हमारे दैनिक जीवन मे पेचीदा तौर पर कार्य करती है, और हमारे समस्त जीवन को प्रभावित करती है। अब यदि मैं यह कहता हूँ कि ऐसे साधारण व्यक्ति के लिए जिसने मुद्रा के बारे मे कोई विशेप ज्ञान प्राप्त नही किया है, यह समझना असम्भव है कि मुद्रा किस प्रकार कार्य करती है, तो इससे मेरा यह अभिप्राय कभी न होगा कि उसे इस विषय का ज्ञान ही कभी प्राप्त न करना चाहिए, या वह कभी इसे प्राप्त ही न कर सकेगा। मेरा कथन एक तथ्य का सीधा-सादा वर्णन मात्र है, इससे अधिक कुछ नही। इसी प्रकार जब मैं यह कहता हूँ कि घोडे की गर्दन वृक्षो की ऊँची शाखाओ के पत्रो तक नही पहुँच सकती, लेकिन जिराफ की गरदन उन तक पहुँच सकती है, तो मेरा यह कथन भी एक तथ्य का निर्देश मात्र है, इससे मेरी यह इच्छा प्रकट नही होती कि घोडे की भी लम्बी गरदन होनी चाहिए। ठीक इसी प्रकार जब हम जीवन की घटनाओ का अध्ययन करते है, और उनमे व्याप्त साधारण नियमो की खोज या स्थापना करते है, तब हमे अपनी इच्छाओ व रुचियो को उसमे किसी तरह का दखल देने से रोकना चाहिए।[1] क्या तुम मेरे भाव को समझ रहे हो ?"

---

१ मानवीय चिंतन का समस्त प्रकृति मे किसी नैतिक प्रयोग की खोज का प्रयत्न, उन जानबूझ कर किये गये, दुराग्रहपूर्ण, आत्मभ्रान्ति के कार्यो मे से अन्यतम कार्य है, मानव-प्राणी के अपने आपको-अपने सीमित व्याव-

"हूँ।" मैं गुनगुनाया।

और थोडी देर बाद जब हम समुद्र के सम्मुख एक पहाडी पर एक-दूसरे से सटकर बैठ गये, तो रसल ने कहा, "मैं अभी बातचीत मे कुछ उत्तेजित हो गया था, उसके लिये क्षमा करना।"

उत्तर मे मैंने कहा, "मिस्टर रसेल मुझे इसका रचमात्र भी क्षोभ नही है, सम्भवत मैं ही कुछ असावधान था। आपकी तो यह अत्यन्त उदारता है कि आपने मेरे अनेक प्रश्नो का धैर्यपूर्वक उत्तर दिया है, और जहाँ मैंने आपको समझने मे कुछ गलती की है, वहाँ आप मुझसे ही क्षमा की याचना करते है।"

रसेल ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "प्रश्नो से मैं जरा भी विचलित या उत्तेजित नही होता। लेकिन मेरा यह एक मुख्य लक्ष्य रहा है कि जीवन पर विचार करते समय, हम निष्पक्ष भाव से ही उस पर विचार कर सके, अथवा बाह्य वस्तुओ की परीक्षा करते समय अपनी नैतिक धारणाओ द्वारा उसे तिलमात्र भी प्रभावित न होने दे। वैज्ञानिक मनोवृत्ति का यही एकमात्र सार है।"

प्रभावित होकर मैंने कहा, "मिस्टर रसेल, मैं आपका अभिप्राय ठीक तरह समझ रहा हूँ, परन्तु मैंने आपसे जो यह प्रश्न किया था कि क्या आप दार्शनिक रूप से बुद्धि के प्रजातन्त्र की अपेक्षा उसकी कुलीनता मे अधिक विश्वास रखते है, उसके मूल मे यह कारण था कि एक समय मैं टॉलस्टॉय और उनके शिष्य महात्मा गाधी के इस विचार से बहुत प्रभावित हुआ था कि कला व विचार के क्षेत्र मे मनुष्य की उच्चतम रचनाये वही है जो जनसाधारण के हृदय को स्पर्श कर सके, परन्तु कुछ समय से मेरे मन मे इसकी सत्यता के बारे मे सदेह पैदा हो गया है।"

रसेल ने सामने की तरफ देखते हुए उत्तर दिया, "टॉलस्टॉयवाद के सम्बन्ध मे मनोविश्लेषण द्वारा कुछ अत्यन्त मनोरजक नूतन परिणामो की उपलब्धि हुई है। यह रूसी महात्मा एक अत्यन्त अहकारी व्यक्ति थे, जैसा कि उनकी फोटो से स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु दुर्भाग्य से वह जितने अहकारी थे, उतने सुसस्कृत न थे। इसलिए उनके इस अहकार व आत्म-प्रेम ने उन्हे अज्ञात रूप से एक ऐसी दार्शनिक कल्पना करने के लिये बाध्य किया कि जिसके आधार पर वे जिन वस्तुओ को स्वय न जानते व समझ सकते थे, उनसे वह अपने-आपको ऊँचा समझ सके। टॉलस्टॉयवाद का यही मनोवैज्ञानिक सार है। उसने अपने अज्ञान को भी एक गुण मे परिवर्तित करने की चेष्टा की है।"

हारिक मानवीय स्वरूप का—सब पदार्थों मे अध्ययन करने व उनको अपने वैयक्तिक रूप से विकसित दृष्टिकोण से निर्णय करने के दयनीय प्रयत्नो मे से अन्यतम प्रयत्न है, जो कि उसे यथार्थ ज्ञान और पूर्ण दर्शन की प्राप्ति से बलपूर्वक रोकता है।" "दिव्य जीवन"—श्री अरविन्द

"मनोविश्लेपक फ्रायड के सम्बन्ध मे आपकी क्या सम्मति है ?"

"मैं उन्हे एक महान् व्यक्ति मानता हूँ, यद्यपि मै उनकी सब बातो से सहमत नही हूँ।"

"किस बात मे आपका उनसे मतभेद है ?"

"उदाहरण के लिए उसकी इस बात से मैं सहमत नही हूँ कि जीवन की सब प्रवृत्तियों के मूल मे कामवासना निहित है। दृष्टात के तौर पर मेरी सम्मति मे ज्ञान-प्रेम यौन-प्रवृत्ति के ऊर्ध्वीकरण का फल नही है, यद्यपि ललित कलाओ की रचना के बारे मे उसका यह कथन सत्य है। ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा के मूल मे मेरे विचार से यौन-प्रवृत्ति के ऊर्ध्वीकरण की अपेक्षा शक्ति-प्रेम का ऊर्ध्वीकरण ही कारण है।"

'यह कैसे ?"

"क्योंकि ज्ञान से शक्ति की उपलब्धि होती है। अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्यो व प्रकृति का नियन्त्रण करने की क्षमता का नाम ही शक्ति है, और ज्ञान द्वारा इस योग्यता की वृद्धि होती है।"

तदुपरान्त रसेल हिमशीतल जल मे स्नान करने के लिये चले गये और मै श्रीमती रसेल के साथ वार्तालाप करता रहा।

मैंने उनसे पूछा, "रूस के बारे मे आपका मिस्टर रसेल से कुछ मतभेद है ?"

उन्होने उत्तर दिया, "नही। मौलिक प्रश्नो पर हमारा कोई मतभेद नही है। यह सम्भव है कि मै उनकी उपेक्षा रूस को कुछ अधिक पसन्द करती हूँ।"

"मैंने सुना है कि ससार मे रूस की महिलाओ के समान स्वतन्त्रता और किसी देश की महिलाओ को प्राप्त नही है। क्या यह बात सत्य है ?"

उन्होने कुछ विचार के बाद उत्तर दिया—"नही। मेरे विचार मे आज इगलैड व अमेरिका की स्त्रियाँ रूस की स्त्रियो की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। यद्यपि यह ठीक है कि इसका कारण रूसी कानून की त्रुटि नही है, वल्कि रूसियो की अशिक्षा है। वरना बोल्शेविक रूस का कानून ससार के अन्य देशो की अपेक्षा कही अधिक अग्रगामी है।"

'वह किस प्रकार है ?"

"रूस मे प्रत्येक स्त्री या पुरुष को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह जिस समय भी चाहे विवाह-बन्धन को समाप्त करके परस्पर एक-दूसरे को तलाक दे सकते है।"

"उस अवस्था मे उनकी सन्तान की क्या व्यवस्था होती है ?"

"मेरे विचार से इस बारे मे माता-पिता के बीच किसी प्रकार का समझौता हो जाता है।"

"लेकिन बाल्यावस्था मे माता-पिता के सयुक्त स्नेह से वचित होकर सन्तान

पर क्या उसका बुरा प्रभाव नही पडता ?"

श्रीमती रसेल ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा "क्यो ? क्या आपके विचार मे बाल्यकाल मे प्राय सब बालक-बालिकाये अपने माता-पिता का पूर्ण स्नेह व उन्ही द्वारा शिक्षा प्राप्त करते है ? विशेषत श्रमिकवर्ग मे तो यह एक साधारण बात है। इस सम्बन्ध मे मुझे एक श्रमिक के रोते हुए बालक की कहानी याद है। जब उससे पूछा गया कि वह क्यो रो रहा है, तो उसने उत्तर दिया कि उसे उस आदमी ने मारा है जो कि रविवार के दिन उसकी माता के साथ सोता है। गरीब बालक ने यह इसलिये कहा था, क्योकि उसने रविवार के सिवाय अन्य किसी दिन अपने पिता को देखा ही न था।"

इस समय तक मिस्टर रसेल भी स्नान से निवृत्त होकर हम लोगो के समीप ही आकर बैठ गये और इगलैड के विवाह-कानून के सम्बन्ध मे चर्चा होने लगी।

श्रीमती रसेल ने कहा "यह कैसा वेहूदा कानून है कि यदि दोनो पक्ष ही व्यभिचार के अपराधी हो तो उन्हे परस्पर विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त नही हो सकता। यही नही, विवाह-विच्छेद के अभियोग की कार्यवाही अदालत मे जारी रहते हुए, यदि पति पत्नी एक बार भी मित्रभाव से आपस मे मिल लेते है, तो भी कानून उन्हे विवाह-विच्छेद के अधिकार से वचित कर देता है।"

रसेल ने बीच मे ही टोकते हुए कहा, "परन्तु तुम्हे नही मालूम कि अदालत को धर्म का पवित्र सरक्षक समझा जाता है। अदालत को धर्म की रक्षा के लिये यह निश्चय करना होता है कि एक पक्ष ने दूसरे पक्ष के विरुद्ध इतना जघन्य पाप किया है, कि दूसरा पक्ष उसके पाप के कारण उससे अत्यन्त कुपित है। लेकिन उनका यह क्रोध तभी उचित व धर्मानुकूल समझा जायगा, जबकि वह स्वय सर्वथा निर्दोष व पापरहित हो। और तभी कानून उनके विवाह-विच्छेद को धर्म या न्यायसगत ठहरायेगा। लेकिन यदि दोनो पक्ष ही दोषी व पापी पाये जायेगे, तो वह उन्हे विवाह-विच्छेद की स्वतन्त्रता नही देगा— चाहे इसके कारण उन दोनो के जीवन कितने ही दु खमय क्यो न हो जाये। और सोचिए यदि कानून उनके जीवन मे इस प्रकार निरर्थक दखल न दे, तो उनके जीवन कितने सुखमय हो सकते है ?"

मैने कहा "वैल्ज ने भी अपने 'विलियम क्लिसोल्ड की दुनिया' नामक उपन्यास मे इगलिश विवाह-कानून की इसी प्रकार कटु शब्दो मे आलोचना की है। उक्त उपन्यास मे न मालूम किसलिये विवाह-विच्छेद-अधिकारी ने अपने-आपको उन दम्पतियो के मार्ग मे एक मुसीबत के रूप मे खडा कर लिया है जिनका एकमात्र अपराध यही था कि वे अपने जीवन को परस्पर सुखमय बनाना चाहते थे ?"

श्रीमती रसेल के चेहरे पर लाली की लहर दौड गई।

उन्होने व्यग्यपूर्वक कहा, "इस विषय मे कानून की अन्धता और भी अधिक हास्यास्पद है। यदि कोई वादी प्रतिवादी के विरुद्ध एक बार तलाक प्राप्त करने मे असफल हो जाता है, तो दुबारा अत्यन्त पुष्ट साक्षी मिलने पर भी वह उसके विरुद्ध पुन नालिश नही कर सकता।"

मैंने आश्चर्यपूर्वक कहा, "मैंने तो ऐसा कभी नही सुना है।"

मिस्टर रसेल ने कहा, "नही सुना ? लेकिन यदि तुम हमारे विचित्र कानून का वह शरारत-भरा नुक्ता जानते, जिसके अनुसार एक अपराध के लिए किसी भी अपराधी को दो बार दड नही दिया जा सकता, तो तुम्हे इतना आश्चर्य न होता। इस बारे मे एक कहानी प्रचलित है कि एक मनुष्य को किसी व्यक्ति की हत्या के अपराध मे, जो कि वास्तव मे मारा नही गया था, आजन्म कारावास का दड दिया गया। बीस साल कारावास का दड भुगतने के बाद, जब वह मुक्त कर दिया गया, तो वह जेल से छूटकर सीधा उस व्यक्ति के घर गया (जिसकी हत्या के अपराध मे उसे दडित किया गया था) और उसका बध कर डाला। कानून को कोई मार्ग दिखाई न दिया कि वह उस हत्यारे के विरुद्ध क्या कानूनी कार्यवाही करे, कारण, एक ही अपराध के लिए किसी को दो बार दण्ड नही दिया जा सकता।" यह कहानी सुनकर हम सब हँसने लगे।

तत्पश्चात् हम चायपान के लिए घर लौट आये, वहाँ एक अमेरिकन महिला रसेल की प्रतीक्षा कर रही थी। यह महिला 'शिक्षा' पर रसेल की पुस्तक पढ-कर इतनी प्रभावित हुई थी कि अपने पुत्र की शिक्षा के बारे मे उनसे परामर्श लेने के लिए लन्दन से सीधी उनके पास आयी थी। उसने अमेरिका के स्कूलो की, जिन्हे कि वह ससार मे सबसे अधिक निर्दोष व आश्चर्यजनक सस्था समझती थी, बडी प्रशसा की। लेकिन यह एक अत्यन्त आश्चर्यमय बात थी, जैसाकि उसकी बाद की बातचीत से प्रकट हुआ कि वह स्वदेश से इतनी दूर केवल अपने छोटे बालक को किसी अग्रेजी स्कूल मे भरती कराने के उद्देश्य से ही इगलैड आयी थी। रसेल उसकी यह बात सुनकर भावपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखने लगे।

मैंने उनसे पूछा—" 'बर्नार्ड शॉ' के बारे मे आपकी क्या सम्मति है ?"

मैंने यह प्रश्न जानबूझकर, अमेरिकन महिला के अमेरिकन स्कूलो के प्रेम को देखकर, और रसेल की यह आलोचना सुनकर कि नया ससार शत-प्रतिशत अमेरिका के अनुसरण मे विश्वास करता है, पूछा था। परन्तु अमेरिका ने अभी तक भी शॉ को जन्म नही दिया है।

"ओह ! वह अद्वितीय पुरुष है। इस ससार मे ऐसे विरले ही मनुष्य है, जिनके स्वभाव मे यश और प्रतिष्ठा कोई विकार पैदा नही करते। 'शॉ' एक ऐसे ही महान् व्यक्ति है। अपनी ख्याति व यश के प्रति उनकी उदासीनता एक आनन्ददायक वस्तु है। ऐसे सत्यवादी, निर्भय व व्यग्यप्रिय व्यक्ति का साहचर्य एक

स्फूर्तिदायक वस्तु है।"

"और गाल्जवर्दी ?"

"वह एक उत्कृष्ट कलाकार है, परन्तु कर्मक्षेत्र मे एक महत्त्वशील व्यक्ति नही है।"

"ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो कर्मक्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण है ?'

"वैल्ज एक ऐसे ही महापुरुष है, यद्यपि वे एक महान् कलाकार नही है।"

"लेकिन रोलाँ महोदय ने जो यह कहा है कि 'कोई भी चरित्रहीन व्यक्ति महान् कलाकार नही हो सकता,' यह कहाँ तक ठीक है ?"

"उनका यह कथन सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। दोस्तोवस्की एक उत्कृप्ट कलाकार था। लेकिन साइबेरिया मे निर्वास की दशा मे उसने अधिकारीवर्ग की खुशामद करके अत्यन्त चरित्रहीनता का परिचय दिया है। वह वास्तव मे कमीना और कायर था।"

"क्या आप उपन्यास पढते है ?"

"हाँ, कभी-कभी जब खाली समय मिल जाता है, यद्यपि ऐसा बहुत कम ही होता है।"

"आपका अधिक समय शायद लिखने मे ही व्यतीत होता है ?"

"अवश्य ! बल्कि मुझे प्राय लिखने के लिए अपने ग्राम्य-निवास मे एकान्त की खोज करनी पडती है।"

"यह तो आपके लेखो से स्पप्ट है कि आप एक सिद्धहस्त लेखक है, परन्तु क्या आपको अपने लेख मे सशोधन की भी आवश्यकता होती है ? '

"ओह ! नही। मैं एक दफे लिखने बैठ जाता हूँ और समाप्त होते ही प्रेस मे भेज देता हूँ।"

"आपकी शैली—इसमे शब्दो की मितव्ययिता व सयम—मुझे बहुत पसन्द है। क्या इसके लिए आपने कोई विशेष प्रयत्न किया है ?"

"हाँ, मैंने अपने बाल्यकाल मे एक विचार को किस प्रकार थोडे से-थोडे शब्दो मे प्रकट किया जा सकता है, इसका अभ्यास करने की पर्याप्त चेष्टा की है, और इससे मुझे बहुत लाभ हुआ है।"

बात-वात मे भारत का प्रसग चल पडा।

श्रीमती रसेल ने पूछा—"ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवासी अग्रेजो के बहुत विरुद्ध हैं।"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, वे वस्तुत उनसे रुप्ट है, विशेषत जब से उन्होने आर्डिनेन्स द्वारा सैकडो व्यक्तियो को बिना किसी मुकदमे के अनिश्चित काल के लिए जेलो मे डाल दिया है। उन्हे यह भी नही मालूम है कि उनके विरुद्ध क्या अभियोग है, और वे कौन व्यक्ति हैं जिन्होने उनके विरुद्ध किसी प्रकार की सूचनाये

दी है ?"

रसेल ने व्यग्य के साथ कहा—"और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इसके लिए बोल्शेविको को दोषी ठहराती है ?"

मैंने कहा—"यह वस्तुत एक असहनीय स्थिति है। अब प्राय अधिकतर भारतवासी सभी अग्रेजो को धोखेबाज व मक्कार समझने लगे हैं।"

रसेल ने कहा—"और मेरे ख्याल मे तुम्हारी यह धारणा सर्वथा सत्य है, क्योकि ऐसे बहुत ही कम अग्रेज है जो कि ऐसे नही है।"

मैंने कहा—"कम-से-कम जब तक वे हमे वर्तमान दिखावटी सुधारो की जगह कोई और वास्तविक शासन-सुधार नही देते, तब तक उनकी सच्चाई मे विश्वास पुन स्थापित नही हो सकता।"

उन्होने कहा—"अग्रेज जो भी सुधार तुम्हे उदारतापूर्वक देना चाहते है, वे कभी भी दिखावे व आडम्बर के सिवाय और कुछ नही हो सकते। वे बिना मुसीबत मे फँसे तुम्हे इससे अधिक और कुछ नही दे सकते। मै तो आज सभी सरकारो का विरोधी हूँ। मेरी सम्मति मे आज कोई भी सरकार श्रेष्ठ कहलाने योग्य नही है। और मेरा विश्वास है कि यदि आज इगलैड पर तुम्हारा आधिपत्य होता, तो तुम भी हमारे साथ इससे बेहतर व्यवहार न करते।"

"इस बारे मे मैं आपसे सहमत हूँ।"

और फिर कुछ चिन्तापूर्वक वे कहने लगे—"इतिहास का मेरा अध्ययन इस बात का साक्षी है कि तलवार के जोर के बिना कोई भी राष्ट्र किसी विदेशी राष्ट्र को अपनी सभ्यता ग्रहण नही करा सकता। रोम ने इगलैड व फ्रास को अपनी सभ्यता ग्रहण कराने के लिए तलवार के बल पर ही मजबूर किया था, और अब हम यही सबक भारत मे दोहरा रहे हैं। यह ठीक है कि यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है, लेकिन अपनी सभ्यता को किसी दूसरी जाति मे फैलाने का इसके सिवाय और कोई साधन भी नही है।"

"तो इस प्रकार परतन्त्रता क्या आवश्यक वस्तु है ?"

रसेल ने उत्तर दिया—"क्योकि पराधीनता की अवस्था मे ही किसी देश के निवासी विदेशी सभ्यता के लिए आदर प्रदर्शित कर सकते हैं। यह अत्यन्त सदिग्ध है कि किसी अन्य उपाय द्वारा भी इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।"

"किन्तु जापान ने किस प्रकार जानबूझकर विदेशी सभ्यता को अपना लिया है ? उसे किसी देश ने इसके लिए मजबूर नही किया था।"

"वह भी मजबूर किया गया था। सत्य यही है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे तुम भी जानते होगे कि एक समय उसने अपने बन्दरगाह अमेरिका व इगलैड के जहाजो के लिए बन्द कर दिये थे। इन दोनो देशो ने शस्त्र के बल पर उसे खोलने के लिए बाध्य किया। वह अपने इस अपमान व अत्याचार से विक्षुब्ध

हो उठा और सौभाग्य या दुर्भाग्यवश उसने उनका सिर्फ शाब्दिक विरोध प्रकट करने व उनके विरुद्ध शिकायत करने मे कोई कसर न छोडी। साथ ही उसने बहुत जल्दी ही हमारे विज्ञान की शरण ली, हमारी राजनीतिक चालबाजियो को सीख लिया, और अन्त मे पूर्णरूप से हमारे युद्धवाद का आश्रय लिया। और यह सब उसने ऐसी अविश्वसनीय तत्परता व निष्ठा के साथ किया कि एक पीढी मे ही उसने अपने द्वीप साम्राज्य का समस्त रूप ही बदल डाला।"

अमेरिकन महिला ने बीच मे टोककर कहा—"परन्तु जापानियो की निर्मम निष्ठुरता व क्रूरता, क्या आप उसे भूल सकते है?"

रसेल ने उत्तर दिया—"लेकिन श्रीमतीजी! यह सबक भी उसने हमारी व आपकी पुस्तक से ही सीखा है। क्या आप ईमानदारी से सोचती है कि यदि शिष्य शैतानियत मे गुरु को मात न कर देता, तो आप या हम उसे जो आदर आज प्रदान करते है उसका शतांश भी प्रदान कर सकते?" और फिर मुझे सम्बोधित करते हुए कहने लगे—"मिस्टर राय! चाहे जैसे भी हो, जापान ने इतने अल्पकाल मे जो सफलता प्राप्त की है, इतिहास मे उसका और कोई उदाहरण नही है। जरा सोचो, जापान के राजनीतिज्ञो व विचारको ने आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व अपनी जाति को जिस विशुद्ध सामरिक जाति मे परिवर्तित करने की बृहत् कल्पना की थी, उसे अर्ध-शताब्दी मे ही उन्होने किस प्रकार अक्षरश सत्य करके दिखला दिया है। मानवीय इतिहास मे उनकी यह कीर्ति अभूतपूर्व व अद्वितीय है।"

तुम हो नित्य नवीन सनातन
यौवन के कवि, करो वर्षण ।
वसुधा पर दिव्य अनन्त जीवन
करो जीर्ण जरा, खिला प्रेम सुमन ।

—रवीन्द्रनाथ

टैगौर के रूप मे भारत युरोप के सन्मुख एक नवीन दिव्य प्रतीक को उपस्थित करता है। यह शूली नही, अपितु कमल है।

—जोहन बोजर

रूपान्तरण

एबार दु ख आमार असीम पाथार पार होलो जे पार होलो ।
पोमार पाये एसे ठेक्लो शेषे सकल सुखेर सार होलो ।।
एतदिन नयन धारा
बये छे बाधन हारा,
केन बय पाइनि जे तार कूल किनारा,
आज गाथ्ल के सेइ अश्रुमाला तोमार गलार हार होलो ।
तोमार साजेर तारा डाक्ल अमाय जखन अन्धकार होलो ।।
बिरहेर व्यथा खानि
खुजे तो पायणि वाणी,
एतोदिन नीरव छिलो सरम मानि ।
आज परश पेये उठ्लो गेये तोमार वीणार तार होलो ।।

—रवीन्द्रनाथ की कविता दिलीपकुमार राय द्वारा अनूदित

गायको को आदर की दृष्टि से नही देखा जाता, इसलिए मेरे सब शुभचिन्तक मेरे इस विचार को लोग पागलपन ही समझेंगे। परन्तु कवि ने अपने वैयक्तिक समर्थन द्वारा मुझे प्रोत्साहित किया, जिससे मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ।

१९२२ में युरोप से लौट आने के बाद मैं उन्हे कई दफा इधर-उधर मिला, परन्तु हम परस्पर कभी न मिलनेवाली समानान्तर विचारधाराओ के ससार मे निमग्न से प्रतीत होते थे। सन् १९२५ मे जब मेरी उनसे सगीत के सम्बन्ध मे मनोरञ्जक व लाभप्रद चर्चा हुई, तब पहलीबार विचारजगत् मे मेरा उनसे पुनर्मिलन हुआ। इस चर्चा का विस्तृत विवरण मैंने उनसे सशोधित कराकर, उनकी आज्ञा से बँगला मे प्रकाशित कराया था, लेकिन उसका विषय अत्यन्त जटिल होने के कारण साधारण जनगम्य नही था, इसलिए मैंने उसका यहाँ अनुवाद नही दिया है। परन्तु मैं उनके साथ और भी गभीर वार्त्तालाप के सुअवसर की खोज मे था। परन्तु वह सुअवसर मुझे एक दिन अचानक ही इस प्रकार मिल गया कि श्रीमती महलानवीस, जिन पर कवि की अत्यन्त कृपादृष्टि थी, और जिनके उस समय कवि स्वय अतिथि थे, उन्होने उसी अवसर पर मुझे भी अपने यहाँ आमन्त्रित किया। उनके सुन्दर व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कवि कई-कई घण्टे तक बड़ी सुन्दरता से वार्त्तालाप मे व्यस्त रहते थे। इसमे से कुछ वार्त्तालाप 'विश्वभारती' मे प्रकाशित हो चुके है, परन्तु क्योकि वे कवि ने स्वय ही लिखे हैं, इसलिए मैं उनका वर्तमान पुस्तक मे अनुवाद नही दे रहा हूँ। कुछ वर्ष बाद मुझे उनके साथ और भी घनिष्ठ वार्त्तालाप का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उनका विवरण लिपिबद्ध करके उन्हे सुनाया और उनसे उसके प्रकाशन की अनुमति मागी, जो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कर दी। उनके विचारो की मेरी प्रतिलिपि से वे बहुत प्रसन्न हुए, और अपने २६ जून, १९३८ के स्वीकृति-सूचक पत्र मे इस प्रकार लिखा —

'मेरे साथ तुम्हारी बातचीत का जो वर्णन तुम प्रकाशित करना चाहते हो, उसमे मेरे कथित विचारो द्वारा जो विचार तुम्हारे मन मे स्वय उदित हुए हैं, उनका भी पर्याप्त विवरण है, यह कहने से उस रचना का मूल्य कम नही होता, बल्कि और अधिक बढ़ जाता है। मैंने जो कुछ कहा था, उसकी अक्षरश यान्त्रिक प्रतिलिपि एक असम्पूर्ण वस्तु होती, परन्तु उसके साथ तुम्हारे मन मे जो विचार उदित हुए है उन्होंने उसे एक जीती-जागती व सम्पूर्ण वस्तु बना दिया है। दूसरे शब्दो मे, तुमने जो विवरण दिया है, वह एक प्रतिलिपि नही, अपितु एक नवीन रचना है। तुम इस तथ्य को स्पष्ट रूप मे प्रकट करते हुए इसका प्रकाशन कर सकते हो, इससे पाठको का और भी अधिक मनोरञ्जन होगा।"[1]

---

[1] इस पत्र [illegible] का यह अनुवाद है, यह पहले ही 'तीर्थंकर' मे प्रकाशित हो चुका है।

१९२७ नवसवत्सर का दिन था। कवि ने क्रिस्मस की छुट्टियाँ अपने ग्राम्य निवास शान्तिनिकेतन मे व्यतीत करने के विचार से मुझे व प्रसिद्ध गायक कवि अतुलप्रसाद सेन को भी वही आमन्त्रित किया था। हम दोनो की इस सहयात्रा का अनुभव कभी न भूलने वाली वस्तु है। कवि का मनोभाव उस समय अत्यन्त ओजस्वी तथा उदार था। और अतुलप्रसाद उन गिने-चुने सर्वप्रिय उत्कृष्टतम-व्यक्तियो मे से थे, जिन्हे बगाल की भूमि ने अब तक जन्म दिया है। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर व मोहक था। कुछ वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हो गया, और हजारो नर-नारी जो उनके श्रुति-मधुर सगीत के लिए उन्हे प्यार करते थे, उनके वियोग से शोकातुर हो गये। उन्होने पहले ही दिन जो भजन कवि को सुनाया था, उसी से मैं प्रारम्भ करता हूँ। यद्यपि अनुवाद मे इसका सरल व रहस्यपूर्ण सौन्दर्य बहुत-कुछ विलुप्त हो गया है, तथापि आशा करता हूँ कि शायद उसका कोई अश अब भी विद्यमान हो।

मूल कविता इस प्रकार है —

आमारे ऐ आन्धारे एमन करे चालाय के गो,
. आमि देखते नारि, धरते नारि, बुझते नारि किछुइ ले गो।
नयने नाहि भाति
मने हय चिर बाति,
मने हय तुमिइ आमार चि साथी,
एक बार ज्वालिये बाति, छुचिये राति, नयन भरे देखा दे गो।
कादपे काटार क्लेशे
कठिन एइ पथेर शेषे
ना जानि निये जावे कौन विदेशे।
एक बार भाल वेसे, का छे एसे, काने काने बेल दे गो।
रयेछिस यदि साथे
दारुण एइ आन्धार राति,
क्लान्त मोरे चालिये ने जा होते हाते
हस्त आमार होलो ओ शिथिल तुइ आमारे छाडिस ने गो।

—अतुलप्रसाद सेन

हम कवि के साथ जलपान के लिए बैठे। प्रभात का समय था। बाल-रवि की सुनहरी किरणे बँगले के बाहर हिलते हुए पल्लवो के नृत्य के साथ, वृक्षो व लताओ को प्रकाश के सुन्दर गीत गाने के लिए मुखरित कर रही थी। कभी पकड मे न आने वाली आनन्द की आत्मा स्वय उपस्थित होकर हमे अपना प्रसाद देती अनुभव होती थी।

मैंने कवि से कहा, "मेरे हृदय मे कई बार आपसे यह विवादास्पद प्रश्न

पूछने की इच्छा हुई है कि हमारे चैतन्य तथा मृत्यु के अनन्तर उसकी विद्यमानता के बारे मे आपके क्या विचार है ? आपका वैयक्तिक अनुभव क्या साक्षी देता है ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मुझे ऐसा विश्वास होता है कि मृत्यु द्वारा विच्छेद के बाद हमारा चैतन्य एकदम नास्ति मे परिणत नही हो जाता, ऐसा होना असभव है। परन्तु साथ ही मेरे विचार मे मृत्यु के बाद जीवित रहने का यह भी अर्थ नही है कि हमारा वर्तमान चैतन्य अपने वर्तमान विशुद्ध व सरल रूप मे ही तब भी बना रहता है।'

अतुलप्रसाद ने उत्सुकतापूर्वक प्रश्न किया, "तब यह और किस रूप मे जीवित रहता है ?"

कवि ने विचारपूर्वक उत्तर दिया—"मैं किस प्रकार इसका वर्णन करूँ ? हाँ, जिस प्रकार हमारे जीवन मे कोई आकस्मिक विषम आघात पहुँचने पर, यद्यपि वस्तुओ का बाह्य स्वरूप वही बना रहता है, लेकिन फिर भी हमे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो कोई महान् क्रान्ति हमारे अन्दर व बाहर घटित हुई है—जिसने ऊपर से नीचे तक सब वस्तुओ को ही परिवर्तित कर दिया है। बहुत-कुछ इसी के समान यह भी होता है, ऐसा मैं अनुभव करता हूँ। दूसरे शब्दो मे, आघात के कारण हमारे दर्शन, चिन्तन, मनोभाव, हृदय की पिपासा, आशा व इच्छा आदि सब के स्वरूप मे परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार यदि जीवन के भूचाल हमारे अन्दर इतना अन्तर पैदा कर देते हैं, तो मृत्यु के भूचाल द्वारा इससे कही अधिक उथल-पुथल क्यो न होगी ?"

मैंने पूछा—"यह भेद क्रिया मे किस तरह प्रकट होता है ?"

कवि ने कहा—"शब्दो द्वारा इसकी व्याख्या कुछ कठिन है। परन्तु फिर भी मोटे तौर पर इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि मृत्यु के बाद विद्यमान रहनेवाला तुम्हारा चैतन्य तुम्हारे निकटतर इष्ट सम्बन्धियो के साथ कोई निकटता व स्नेह-सम्बन्ध का अनुभव नही करता। मेरे विचारो मे यह इसीलिए है क्योकि यह अत्यन्त असभव प्रतीत होता है कि हमारा मृत्यु के बाद का चैतन्य हमारे वर्तमान चैतन्य से कोई समान लय रखता हो।"

"असम्भव ? किस प्रकार ?" मैंने पूछा।

कवि ने कहा—"मैं एक उपमा देता हूँ—अण्डे के अन्दर विद्यमान पक्षी के जीवन की उसके बाहर के जीवन के साथ तुलना करो, इन दोनो स्थितियो के बीच क्या आकाश-पाताल का अन्तर नही है ? जबकि एक सीमित प्रसुप्त-चैतन्य है, जो कि अभी अविकसित है परन्तु सचेत अभिव्यक्ति के लिए इच्छुक है, वहाँ दूसरी अपेक्षाकृत स्वतन्त्र अपनी परिस्थितियो से परिचित, और पखो की अभिव्यक्ति के कारण एक अश तक पूर्ण चैतन्य है। मृत्यु के बाद मेरे विचार से हमारे चैतन्य के किसी तत्त्व व बनावट मे—इसी प्रकार कोई मौलिक परिवर्तन हो जाता है।

मैने कहा—"मैने अपने तन्त्रशास्त्रो मे भी इससे मिलता-जुलता ही विचार पढा है। जिसका भाव यह है कि हमारे चैतन्य के प्रगतिशील विकास के साथ-साथ हमारे प्रेम आदि सवेदनात्मक भावो के आत्मप्रकाश का रूप भी धीरे-धीरे परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् हमारे चैतन्य की प्रगति की एक मजिल मे, हमारी प्रेम आदि तृष्णाये जिस रूप मे प्रकट होती है, प्रगति की दूसरी मजिल मे वे ठीक उसी रूप मे आत्मप्रकाशन नही चाहती।"

कवि ने सहमति प्रदर्शित करते हुए कहा—"सर्वथा सत्य है। और इससे जो लोग मुझ पर प्राय यह दोषारोपण करते हैं कि मेरे सवेदनात्मक भावो की अभिव्यक्तियाँ जनसाधारण से भिन्न हैं उसका भी समाधान हो जाता है। वे यह अनुभव नही करते कि यदि ऐसा न होता, तो और चाहे जो कुछ भी सभव होता, परन्तु मै रवीन्द्रनाथ कभी न हो पाता, अर्थात् यदि मैं भी जनसाधारण की भाँति भावतरगो द्वारा आसानी से अभिभूत हो जाता तो मैं काव्यकला का स्रष्टा कवि कभी न हो पाता। यह एक अहकार की बात नही है। मैंने बार-बार स्पष्ट रूप से यह अनुभव किया है कि सृष्टि के महान् रचयिता को रवीन्द्रनाथ के नमूने के द्वारा एक विशेष प्रकार की प्रगति वाञ्छित है। यही कारण है कि उसने दो भिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वो का बोझ मेरे सिर पर रख दिया है। उसने मुझे दुःख व कष्ट के समुद्र मे धकेल दिया है, परन्तु फिर भी मुझे उनसे दबने नही दिया है। उसने मुझ पर अनेक महत्त्वपूर्ण परीक्षण किये है, लेकिन उनके परिणामस्वरूप न मुझे विनष्ट ही होने दिया है, और न किसी बन्धन मे ही बाँधा है, ताकि मेरे अन्दर की जीवन-चेष्टाएँ अब भी स्वतन्त्र रूप से जारी रह सके।'

अतुलप्रसाद ने आलोचना की—"नेपोलियन भी इसी प्रकार का भाग्यवादी सुना जाता है ?"

कवि ने विरोध प्रदर्शित करते हुए कहा—"मै उक्त श्रेणी के भाग्यवादियो मे नही हूँ। कारण, मेरा दृढ विश्वास है कि एक सीमा के अन्दर बुद्धिमत्तापूर्वक या मूर्खतापूर्वक अच्छा या बुरा कार्य करने मे हम स्वतन्त्र है। लेकिन फिर भी एक अदृश्य हाथ, एक पथदर्शक देवता, एक जलमग्न गतिदायक यन्त्र के समान मेरी आत्मा को बराबर आगे धकेल रहा है। क्या तुमने ही कल यह गीत न गाया था ?

'आमार ए आन्धारे एमन करे चालाय के गो,
आमि देखते नारि, धरते नारि, बुझते नारि किछुइ जे गो।'

और या यह सब केवल एक रहस्यमय कल्पना मात्र है ?" उन्होंने मेरी तरफ देखते हुए कहा।

मैंने उत्तर दिया — हा, मै अनुभव करता हूँ कि मुझे भी अधकार मे प्रकाश के स्फुलिंग दिखायी देते है। क्या हम सभी कभी-कभी इस प्रकार का अनुभव नही करते कि एक अदृश्य नियामक शक्ति, हमारे चारो ओर विद्यमान है, यद्यपि हम

उनका प्रत्यक्ष स्पर्श या दर्शन नही कर पाते। यही वह शक्ति हो सकती है, जिसका आप अन्तर्दृष्टि से दर्शन करते हैं। किन्तु साधारण मनुष्य के सम्बन्ध मे भी क्या यह उसी प्रकार लागू नही होता ?"

कवि ने कहा—"लागू होता है, परन्तु कुछ भिन्नता के साथ। मैं एक और उपमा द्वारा अपने अभिप्राय को स्पष्ट करता हूँ।"

"कल्पना करो कि एक बाँसुरी बनानेवाला कई बाँसुरियाँ बनाता है। स्वभावत प्रत्येक बाँसुरी की लकडी भिन्न-भिन्न है। लेकिन तुम देखोगे कि कुछ बाँसुरियाँ औरो की अपेक्षा बहुत अच्छी है। किसी भी कारण से वे पूर्ण तान के साथ गम्भीर स्वर पैदा करती है। बाँसुरी बनानेवाला अपनी सभी बाँसुरियो को बजाता है, परन्तु वह उन अद्भुत बाँसुरियो को बजाना अधिक पसन्द करता है। यही दशा मनुष्यो के साथ है। मनुष्य सृष्टि का महान् रचयिता, अनुभव, अभिज्ञता व योग्यता के भिन्न-भिन्न तत्त्वो के साथ, भिन्न-भिन्न साँचो मे व्यक्तियो का निर्माण करता है। परन्तु फिर भी कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा उत्कृष्टतर निकलते है। यदि तुम इनका सूक्ष्म अध्ययन करो तो तुम्हे इनमे सृष्टिकर्त्ता के विशेष नमूने की झलक दिखायी देगी, उसका एक विशेष प्रयोजन दिखायी देगा। परन्तु इसे स्थूल रूप मे ही ग्रहण मत करो, क्योकि ऐसा करने से तुम मेरे ठीक भाव को न समझकर मुझे एक अहकारी व्यक्ति समझने लगोगे व मुझसे घृणा करने लगोगे। विश्वास करो, मै आत्म-प्रशसा नही करता, अपितु इसके विपरीत मैं पूर्ण नम्रता के साथ ही यह निवेदन करता हूँ। क्योकि क्या इससे मेरा अभिप्राय नही है कि यह अनुकूल परिस्थितियो का एक अनुकूल मिश्रण ही है, जिसमे कि यह सम्भव हुआ है। इसमे किसी व्यक्ति-विशेष की वैयक्तिक सफलता व कीर्ति के आत्मसन्तोष व अहकार की कोई गन्ध नही है।"

अतुल दा ने कहा—"आप इतने सकुचित क्यो होते है ? आप जब दस मनुष्यो के साथ कन्धा मिलाकर चलते है तो ऐसा कौन पाषाण-अन्ध है जिसे यह दिखाई नही देता कि आपका स्कन्ध व मस्तिष्क उनसे कही ऊँचा है ?'

रवि ने कहा—'अतुल, इस आश्वासन के लिए धन्यवाद! बात यह है, मैं बचपन मे ही अकेला रहकर, जिस प्रकार एकान्त मे ही इतना बडा हुआ हूँ, उससे मैं अपने-आपको बिलकुल नगण्य समझने लगा हूँ, और मेरे मन मे एक प्रकार की ऐसी सकोचशीलता, भीरुता व लज्जाशीलता बद्धमूल हो गयी है कि जिसके प्रभाव से मैं अभी तक भी मुक्त नही हो सका हूँ।"

मैंने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा—"नगण्य ? यह कैसे सम्भव है ?"

रवि ने उत्तर दिया—"हाँ! मेरा बाल्यकाल किस अवज्ञा के बीच व्यतीत हुआ है, यह तुम्हे मालूम नही है। उस समय सब निखट्टू व निकम्मा कहकर मेरा तिरस्कार करते थे।"

अतुल दा ने हँसकर कहा—"ऐसा नही हो सकता ?"

कवि ने मेरी तरफ दृष्टि-निक्षेप करते हुए उत्तर दिया—"अतुल, विश्वास करो, मैं तनिक भी अतिशयोक्ति नही कर रहा हूँ। अपने दु ख की कथा कहाँ तक सुनाऊँ ? क्या तुम इस पर विश्वास कर सकोगे कि मुझे अपने चेहरे के बारे मे भी काफी दिन बाद इगलैंड जाने पर मेरी एक भतीजी के कथन पर पहले-पहल यह विश्वास हो सका कि मैं सर्वथा रूपहीन नही हूँ।'

"आपकी भतीजी ?"

कवि ने कौतुकोज्ज्वल नेत्र से देखते हुए कहा—"नही तो और क्या ? उसे भी उसकी कुछ विदेशी सहेलियो ने यह बात कही थी। दु ख तो यह है कि उन्होने भी मुझसे अपना प्रशसात्मक भाव प्रकट करने का साहस नही किया। बहुत सभव है कि स्वभावत लज्जाशील युवतियो ने मुझे लज्जा मे उन्हे भी मात करते हुए देख कर स्वयँ मुझसे कुछ कहने मे लज्जा अनुभव की हो।"

अतुलप्रसाद यह सुनकर अट्टहास करने लगे, और मै भी उसके प्रभाव से अछूता न रह सका। हास्य थमने पर मैने कहा—"अपनी यह कथा जरा विस्तार से कहने की कृपा करेंगे ?"

"मै क्या कहूँगा ?"

"जहाँ तक आप कहना उचित समझे। जब आपके रूप पर मुग्ध होकर उक्त युवतियो ने आपके रूप की प्रशसा की, व आपके सौन्दर्य की वेदी पर दीप जलाये तो आपको कैसा रोमाचकारी आनन्द प्राप्त हुआ ?"

"सत्य कहता हूँ, मुझे तो प्रारम्भ मे इस बात की सत्यता पर ही विश्वास नही हुआ। परन्तु जब मेरी रूपचर्चा का मधुरनाद प्रबल हो उठा, तो मैं केवल यही निर्णय कर सका कि सौन्दर्य के सम्बन्ध मे पाश्चात्य मापदण्ड हमारे माप-दण्ड से इतना भिन्न है कि मेरे समान व्यक्ति उसे समझ ही नही सकता।"

मैंने उत्सुकतापूर्वक कहा—"कृपया और आगे कहिये। हमारे जैसे व्यक्तियो के लिये इस क्षेत्र मे आपके कार्यो को आपको श्रीमुख से सुनना कितना आनन्द-दायक है ?"

कवि ने कहा—"जब करने योग्य कोई कार्य किया ही नही, तब कहने योग्य ही क्या रह जाता है ? निश्चय जानो, मै उस समय इतना लज्जाशील व सकोची था कि तरुणी दल मे इस प्रकार अपनी प्रशसा की कानाफूसी सुनकर भी प्रणय-लीला का आनन्द न ले सका। मेरी लज्जा व सकोच यहाँ तक बढा हुआ था- कि मेरी चपल भतीजी, प्राय यह कहकर मेरा तिरस्कार करती थी कि मै थोडा सा भी प्रणय-प्रदर्शन क्यो नही कर सकता ? और बहुधा वह मौका देने के लिए मुझे अपनी किसी रूपवती सखी के समीप अप्रत्याशित रूप से अकेला छोडकर,

किसी काम के बहाने बाहर भाग जाती थी, और मै बडे असमजस मे पड जाता था।"

अतुलप्रसाद ने हँसकर कहा—"कितना मजेदार है, और तब आप क्या करते थे ?"

कवि ने उदास स्वर मे कहा—"ओह ! तुम मुझसे ऐसे प्रश्न करके मुझे शर्मिन्दा क्यो करते हो ? जबकि सिवाय गूंगा बने रहने के मै और कुछ भी न कर पाता था।"

"समाधि की तरह?" अतुल दा ने पूछा।

"ठीक उसी तरह" कवि ने कहा। "और तुम जानते हो, यह किसलिए ? क्योकि मुझे मानसिक वयस्कता वास्तव मे देर से प्राप्त हुई थी। इसका एक उदाहरण है —

'इग्लैण्ड मे मेरी प्रथम यात्रा के अवसर पर मै एक डाक्टर का अतिथि था, जिनकी दो रूपवती कन्याये थी। अब जब कभी मै उन दोनो की चेष्टाओ को स्मरण करता हूँ, तो मुझे इस बात मे जरा भी सन्देह प्रतीत नही होता कि वे दोनो मेरे प्रति आसक्त थी। परन्तु मुझे खेद है कि उस समय इस सत्य को स्वीकार करने का साहस ही मुझमे न था।"

हम हँसते हुए लोट-पोट हो गये।

परन्तु उन्होंने हमारे हास्य मे सहयोग देते हुए कहा—"आज तुम इस बात पर हँसते हो, परन्तु कम-से-कम मेरे लिए उस समय यह हँसी का विषय नही था। एक-दो और घटनाओं द्वारा मेरी वयस्क मनोदशा के बारे मे तुम्हे पर्याप्त प्रकाश मिल जाएगा और मेरा अभिप्राय भी तुम्हे स्पष्ट हो जाएगा।"

कवि ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा—"मैंने उन दिनो शृगार रस के उपन्यासो व भावुकता-प्रधान नाटको का अध्ययन प्रारम्भ किया ही था। और स्वप्न-कल्पना मे मैंने अपने-आपको चाहे जैसे भी वीर व साहसिक नायक के रूप मे क्यो न कल्पित किया हो, परन्तु मेरे जैसे नगण्य व लज्जाशील व्यक्ति के वास्तविक जीवन मे भी कभी रोमास या प्रेमलीला का अभिनय हो सकता है, यह मेरी कल्पना से सैकडो कोस दूर की वस्तु थी।"

"उस समय मेरी आयु अट्ठारह वर्ष की थी जब मुझे बम्बई के एक मराठी परिवार मे भेजने का निश्चय हुआ जहाँ मुझे अग्रेजी बोलनी थी। घर से दूर रहने का मेरा प्रथम अवसर था। स्वय मेरी जाने की कोई इच्छा न थी, परन्तु फिर भी मुझे जाना ही पडा।"

कवि ने जारी रखा—"नायिका मधुर षोडश वर्ष मे प्रविष्ट हो चुकी थी, और वह उच्च शिक्षित होने के साथ-साथ, मोहक, चतुर, सकोचशून्य और ।"

"जिसे सस्कृत मे आह्लादिनी कहते है,' मैने कहा।

"हाँ, ठीक वैसी ही।" कवि ने कहा—"जिसका ठीक-ठीक भाव मोहक व आनन्ददायक दोनो शब्दो के अर्थो के मिश्रण से व्यक्त होता है।"

"इसमे कोई सन्देह नही कि उसके प्रशसको की सख्या कम न थी, उसके प्रलोभन व आकर्षण का एक यह भी कारण था कि वह इतनी छोटी आयु मे ही विलायत हो आयी थी। यह ध्यान रखने योग्य है कि उस समय १८८० के लगभग महिलाओ के लिए विलायत यात्रा इतनी सरल न थी, जितनी की शिक्षा के प्रभाव के कारण आजकल हो गयी है।"

थोडी देर रुककर कवि ने फिर प्रारम्भ किया—"वह बिना किसी विशेष प्रयोजन के ही प्राय मुझसे मिलने के लिए आया करती थी, और किसी-न-किसी बहाने मेरे चारो तरफ चक्कर लगाती रहती थी। मुझे उदास देखकर वह मुझे सान्त्वना देने की चेष्टा करती थी, और जब मैं प्रसन्न होता था तब चुपचाप पीछे से आकर मेरी आँखें मीचकर मेरे साथ खेल करती थी।"

"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अब मुझे यह बोध होने लगा था कि कुछ होने योग्य हो रहा है। परन्तु अफसोस! उस होने योग्य वस्तु को प्रोत्साहन देने के लिए मेरे अन्दर न तो कोई प्रेरणा थी और न तत्परता ही थी।"

"एक दिन सन्ध्या समय वह अचानक ही मेरे कक्ष मे घुस आयी।" कवि ने आगे कहा—"निर्मल चाँदनी रात थी। शीतल मन्द हवा बह रही थी। कैसा सुहावना दृश्य था!"

"—परन्तु मैं वहाँ न था। कल्पना के पखो पर बैठा मै अपने घर की ओर चला जा रहा था, बगाल की दृश्यावलि, कलकत्ते की कलकल रव करती हुई गगा मुझे अपनी ओर खीच रही थी। एक शब्द मे, मैं घर की याद मे बेचैन था।"

उसने कहा—"तुम्हारी अक्ल कहाँ चर रही है? क्या आकाश-पाताल की सोच रहे हो?"

कवि ने कहा—"मैं उसके व्यवहार से परिचित था परन्तु उस सध्या के समय उसके चारो तरफ के वायुमण्डल मे एक विशेष प्रकार का कम्पन था, जिसने मुझे अजीब परेशानी मे डाल दिया। और जैसे ही उसने मुझे उपर्युक्त उपालम्भ दिया, वैसे ही वह मेरी खाट पर मेरे पास ही बैठ गई।"

"मैं घबरा उठा—कुछ सोच न सका कि क्या उत्तर दूँ?—एकदम चुप—हमेशा मे भी अधिक लज्जित व असमजस मे पडा हुआ।"

"तुम स्वय कल्पना कर सकते हो कि मेरी घबराहट के कारण वह भी शान्ति अनुभव न कर रही थी। परन्तु उसने एक नई तरकीब सोची और कहने लगी—'आओ, देखें रस्साकशी मे कौन जीतता है?' यह कहकर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही, उसने अपना फैला हुआ हाथ रस्से की जगह मेरे हाथ मे दे दिया।"

"विश्वास करो, मुझे इसका कुछ भी अर्थ मालूम नही हुआ कि नाना प्रकार के खेलो मे से उसने रस्साकशी का खेल ही क्यो पसन्द किया है ? तब भी नही, जबकि हमने परस्पर खीचना आरम्भ कर दिया, और वह अकस्मात् एकदम अपनी पराजय स्वीकार करते हुए अर्थभरी कोमलता के साथ मेरी गोदी मे आ गिरी। परन्तु मुझे निश्चय है कि मेरी इस निर्मम उदासीनता को देखकर उसने भविष्य के सम्बन्ध मे मुझसे सब आशाएँ त्याग दी होगी।"

"अन्त मे उसने एक और युक्ति सोची, उसने मुझे दस्ताना चोरी की कला का अर्थ समझाया।"

उसने कहा—"रवी ! यदि कोई व्यक्ति किसी युवती कुमारी का दस्ताना चुरा लेता है तो उसे उस युवती का चुम्बन करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।"

"वह एक आराम-कुर्सी पर लेटी हुई थी। थोडी ही देर मे वह प्रगाढ निद्रा मे मग्न हो गई। और जब उसकी निद्रा भग हुई, तो वह बडी उत्सुकता के साथ पास ही रखे हुए अपने दस्तानो की तरफ देखने लगी। वैसे ही उसकी दृष्टि के सम्मुख रखे हुए थे। किसी ने भी उन्हे चुराया न था।"

कथा सुनकर हम हँसी न रोक सके।

परन्तु हमारी हँसी के रुकने तक, कवि के चेहरे का भाव एकदम बदल गया। उसकी वाणी की उग्रता, विनोदशीलता एव नयनो की चमक एकदम विलुप्त हो गई। जैसे-जैसे वे अपनी युवावस्था के धुँधले मार्ग मे विचरण करने लगे, एक कोमल हसरत-भरे भावो की आभा से उनका मुखमण्डल आच्छन्न हो गया, और सहानुभूतिपूर्ण शब्दो मे उन्होने कहा—"मैं आजतक उसे भूला नही हूँ और न मैं आज तक उसके आकर्षण को कोई हल्का नाम देकर उसकी स्मृति का अपमान कर सकता हूँ। उसके बाद भी मैंने अपने जीवन मे अनेक ऊँच-नीच देखे है। दैवीय विधान की अनेक प्रकार की अघटित घटनाओ मे से होकर मुझे गुजरना पडा है। परन्तु एक बात मैं अभिमानपूर्वक कह सकता हूँ कि मैंने आज तक किसी भी नारी के प्रेम को अवज्ञा की दृष्टि से नही देखा है, चाहे उसने किसी भी भाव से मुझे क्यो न प्रेम किया हो ! अपितु इसके लिए मै हमेशा अपने-आपको उसका कृतज्ञ अनुभव करता हूँ। कारण, नारी-प्रेम को चाहे वह किसी भी रूप मे क्यो न हो, मैं एक उपहार के रूप मे ग्रहण करता हूँ। मेरा यह अनेक बार का अनुभव है कि नारी-प्रेम अपने सभी रूपो मे, हमारी आत्मा के अन्दर पुष्पो की बहार की एक ऐसी विरासत, व स्वप्नो की एक ऐसी सृष्टि छोड जाता है, जो कि उसकी स्निग्धता की वर्षा के बिना शायद कभी विकसित न हो पाते। उसकी यह पुष्पो की भेट समय पाकर मुरझा सकती है, परन्तु उनकी सुगन्ध की विरासत कभी नष्ट नही होती।"

उनके इस कथन ने हमारे मर्मस्थल को कितना स्पर्श किया, इसका मै वर्णन नही कर सकता। बहुत कम ऐसे अवसर होते है, जबकि साधारण वार्त्तालाप मे आत्मा की गहराई प्रकट होती है—और बहुत कम अवसरो पर ही ज्ञान की गहनता अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से अलकृत होती है। और कितनी ही बार इसके बाद भी मुझे, हमारे प्रारम्भिक मनोभावो की स्तुति मे लिखी कवि की निम्न-लिखित पक्तियो का स्मरण हुआ है, जिन्हे उसने स्वय ही कितनी सुन्दरता से गाया है —

पादप निगडित अग्निशिख, पुष्पहार बरसाय।
बन्ध रहित होकर वही, चिताभस्म बन जाय॥

भाग्य ने मेरा साथ दिया। मुझे उनसे एकान्त मे मिलने का अवसर प्राप्त हो गया। बोलपुर आश्रम मे सन्ध्या का सुहावना समय था। दिन के अवसान मे चारो ओर का दृश्य छिपते हुए सूर्य की सुनहरी आभा से प्रदीप्त हो रहा था। गिरगिट के समान प्रतिक्षण रग बदलते हुए मेघो की तरफ कवि मुग्ध दृष्टि से निहार रहे थे। ऐसे समय एक मधुमक्षिका उनके रजतशुभ्र केशो के चारो ओर मँडरा रही थी। सूर्यास्त के आकाश के सन्मुख वे अत्यन्त आकर्षक दिखाई दे रहे थे। अचानक मैंने देखा कि उनके नेत्र स्वागत-भरी निगाहो से मेरी तरफ निहार रहे है, और उनकी मनोदशा गिरगिट की भाँति एकदम बदल गयी।

उन्होने कहा—"तुम्हारे आश्चर्यजक धैर्य ने विवाद के लिए एक सुअवसर प्रदान किया है। प्रश्नो के तीरो की बौछार करो।"

मैंने कहा—"आपका चेहरा इस समय अत्यन्त मनोहारी प्रतीत हो रहा है। इसके अतिरिक्त मेरी मनोदशा भी इस समय युद्ध मे प्रवृत्त होने की नही है।"

उन्होने मन्द स्मितपूर्वक उत्तर दिया—"आओ, आओ, शान्तिप्रियता तुम्हे शोभा नही देती। परन्तु यहाँ मत ठहरो। अधकार प्रतिक्षण बढता चला जा रहा है। आओ अध्ययन-कक्ष मे चलें।"

मैंने पूछा—"आधुनिक नारी-समाज के समानता के आन्दोलन के बारे मे आपका क्या मत है? मेरा अभिप्राय—उनके सामाजिक अधिकार व उत्तर-दायित्व के क्षेत्र से है?"

कवि ने कहा—"इस प्रश्न के उत्तर मे तुम्हे बार-बार दुहराई गई विवेचना द्वारा ही सतुष्ट होना होगा। कारण, मेरी सर्वदा यह धारणा रही है कि नारी वास्तव मे मनुष्य की प्रतिद्विन्द्विनी नही है, अपितु उसकी पूरक है। मेरे इस कथन मे प्राचीनता की गंध मालूम दे सकती है, परन्तु एक अस्वीकरणीय अनुभव काल की छाप से और अधिक समृद्ध ही होता है। इसलिए मैं फिर वही बात

दोहराता हूँ कि मनुष्य का प्रतिद्वन्द्वी बनकर, हर क्षेत्र मे उसके साथ मुकाबला करने व उसकी कीर्ति को अपने लिए प्राप्त करने के प्रयत्न मे, नारी अन्तत कोई लाभ नही उठा सकती। क्योकि यदि वह उन वस्तुओ को प्राप्त करने की व्यर्थ चेप्टा करती है, जोकि जीवन को सुन्दर नही बनाती, तो उससे उसकी आत्मा को वास्तविक सन्तोष उपलब्ध नही हो सकता। सौन्दर्य ही उसका मसार है, और उसी पर उसे शासन करना चाहिए। उसका यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अपने साथी के प्रति अपनी निष्ठा को स्मरण रखे, क्योकि उसका वह साथी प्राय यह भूल जाता है कि हमारी पौरुपीय सभ्यता, अपने अन्दर, अनेक विस्फोटक शक्तियो को आश्रय दिये हुए है। नारी को उनमे वृद्धि करके इस अस्थिरता को और अधिक तीव्र न बनाना चाहिए। हमारी विक्षिप्त-सभ्यता के आँधी-तूफान से घिरे हुए जहाज का अपने सतुलित व्यक्तित्व के चमत्कारिक स्पर्श द्वारा तुला के समान सतुलन स्थापित करना ही उसका कर्तव्य है। अन्यथा यह तेजी से सर्वनाश की ओर अग्रसर हो जाएगा।"

"क्या इसका यही अर्थ नही है कि उसे मनुष्यो के समान अधिकारो से वचित रखना चाहिए?"

"नही। यह अर्थ नही है। मेरा अभिप्राय केवल यह है कि उसे यह न भूलना चाहिए कि उसके जीवन का एक विशेष लक्ष्य है, और वह अपने साथी की प्रति-मूर्ति बनना नही है। नि सन्देह अपने साथी को सहयोग देना, उसके सुख-दु खो मे हिस्सा बँटाना, और उसका प्रदर्शन करना भी उसके कार्य है, लेकिन साथ ही उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि सहयोग का अर्थ अवानुकरण नही है। वह तभी सर्वोत्तम रूप से सहयोग दे सकती है, जबकि वह वही सहायता प्रदान करे, जो उसी द्वारा उपलब्ध हो सकती है। दूसरे शब्दो मे, उसे समाज मे दूसरो का स्थान लेने का प्रयत्न छोडकर अपना उचित स्थान ग्रहण करना चाहिए। अपनी प्रकृति के प्रति सच्चा रहकर ही वह उसे प्राप्त कर सकती है।"

"परन्तु पुरुष के कार्यो मे हिस्सा लेने की उसकी आकाक्षा उचित क्यो नही है?"

"क्योकि उसकी प्रकृति इसके योग्य नही है। मनुष्य की कठोर व दुर्बल चेप्टाओ के क्षेत्र मे वह कभी शक्ति अनुभव नही कर सकती, क्योकि 'यहाँ वह किसी सुन्दर उपमा की खोज मे, जिसकी कि उनके पास कभी कमी नही रहती क्षणभर रुके, और फिर कहने लगे 'क्योकि नारी प्रकृति वृक्ष की जडो के समान निष्क्रिय रूप से, अदृश्य तथा आन्तर्भौम रूप से अन्दर-अन्दर अपना कार्य करती है, जबकि मनुष्य की पूर्णता वृक्ष की शाखाओ के समान वृद्धि, साहस व क्रिया-शीलता द्वारा उसके अपने विस्तार मे है। लेकिन मनुष्य की चेप्टाओ को हमारी सभ्यता मे स्थायी रूप से फलदायक होने के लिए उसकी जडो का मजबूती से

पृथ्वी में स्थिर रहना आवश्यक है, अन्यथा उसका ऊपरी विस्तार अपना बोझ सँभालने मे असमर्थ हो जाएगा। नारी ही उस स्थिर भूमि का कार्य करती है और उसके व्यक्तित्व की छिपी हुई गहरी जडो का पोषण करती है।"

"परन्तु क्षमा कीजिये। क्या यह दूसरे शब्दो मे इसी बात को दोहराना नही है कि पुरुष और स्त्री के बीच एक मौलिक अन्तर है ?"

"निस्सन्देह ! क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि इस अन्तर के बिना सृष्टि की यह अनादि-लीला प्रारम्भ हो सकती थी ? नही। यह अकल्पनीय है। यदि नारी पुरुष की प्रतिमूर्ति मात्र होती और उसके भी वही कर्तव्य होते जो पुरुष के हैं, तो जिस रूप मे हम जीवन को देख रहे हैं, उस रूप मे उसका अस्तित्व कभी का विलुप्त हो गया होता। परन्तु सौभाग्यवश, नारी, पुरुष की प्रतिमूर्ति नही है, अपितु जीवन-यात्रा मे उसकी सहयात्रिणी है, और इसी कारण यह अनादि लीला अबाध रूप से चल रही है।"

"और यही वजह है कि प्रकृति ने नारी को नम्रता, सयम, आत्मत्याग आदि उन गुणो से विभूषित किया है जिनका पुरुष मे, अभाव है। पुरुष सृष्टि की अशान्त दुनिया को यही गुण स्थिरता प्रदान करते है। नारी प्रकृति स्पन्दनशील जीवन की एक अक्षय निधि है, वह उदीयमान शक्ति की सहायता करती है, और क्लान्त व परिश्रान्त आत्मा को शान्ति प्रदान करती है। उसके बिना जीवन निरर्थक प्रमोदो व क्षणिक उत्तेजनाओ तथा एकदम उभर आने वाली दौरे की-सी आत्म-कालिक शक्ति के नीरस चक्र के सिवाय और कुछ न होता—जोकि अपने पीछे शराब के नशे के समान अथाह प्रतिक्रिया पैदा करती है।"

"कुछ ऐसे भी व्यक्ति है, जिनकी यह धारणा है कि नारी केवल निम्न श्रेणी की ही सृष्टि कर सकती है, और इसलिए जीवन के उच्चतर क्षेत्र मे उसका दर्जा मनुष्य से नीचे ही रह सकता है।"

"मैं नारी के लिए ऐसी अपमानजनक बात कभी स्वीकार नही कर सकता। मैं, जीवन मे उसकी देन को बहुत मूल्यवान् समझता हूँ। और वह क्यो, यह भी तुम्हे बतलाता हूँ :—

'मै अनुभव करता हूँ कि जिस प्रकार शरीरिक क्षेत्र मे नर का बीज पृष्ठभूमि मे रहकर कार्य करता है, जबकि नारी उसे अपने अन्दर धारण करती है, और उसे जीवन प्रदान करती है, इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र मे नारी की प्रेरणा मनुष्य की अवचेतना मे पहले अपना बीज वपन करती है, ताकि उसकी सृजनात्मक मूल वृत्तियाँ फलवती हो सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नारी का कार्य-क्षत्र जीवन मे केवल शारीरिक धरातल तक ही सीमित नही है। पुरुष को अपने मानसिक विकास के लिए नारी की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि जीवन-दान के लिए स्वय नारी को पुरुष की है। बात केवल इतनी ही है कि चूंकि मानसिक

क्षेत्र मे वह अदृश्य रूप से पर्दे के पीछे कार्य करती है, इसलिए हम उसकी देन को प्रत्यक्ष रूप से नही देख पाते। लेकिन यह हमारी कल्पना-शून्यता का ही दोष है।"

इससे कवि की 'कृतज्ञ' नामक कविता मुझे स्मरण हो आयी —

तबु जानि, एक दिन तुमि देखा दिये छिले बे ले
गानेर फसल मोर ए जीवने उठे छिलो फे ले,
आजो नाइ शेष, रविर आलोक हे ते एक दिन
ध्वनिया तुले छेता' र मर्मवाणी, बाजाये हे वीण
तोमार आखिर आलो। तोमार परश नाहि आर
किन्तु कि परश-मणि रेखे गेछे अन्तरे आमार,—
विश्वेर अमृत-छवि आजि ओ तोदे खा देय मोरे
क्षणे क्षणे,—अकारण आनन्देर सुधापात्र भेरे
आमारे कराय पान।

कुछ देर मौन रहने के बाद मैने कहाँ—"तो आपके कथन का यह अभिप्राय है कि नारी की आत्म-सिद्धि का मार्ग पुरुष के मार्ग से भिन्न है ?"

कवि ने उत्तर दिया—"हाँ, बिलकुल यही है। स्मरण रखने योग्य मुख्य बात यह है कि प्रकृति ने नारी को कभी भी पुरुष के मार्ग पर चलने व उसके ही नारो को चिल्लाने के लिए नही बनाया है। नदी के कूल उसके प्रवाह का प्रयोजन पूरा करने के लिए नही होते। और उन दोनो मे विभिन्नता रहने के कारण ही नदी का प्रवाह जारी रहता है। यदि वे दोनो आत्मसात् हो जाए व उनकी विभिन्नता नष्ट हो जाए तो वह केवल दलदल के सिवाय और कुछ भी न रह जाए।"

"तब तो दोनो वर्गो की आवश्यकताएँ भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए ?"

"निस्सन्देह।"

"किस प्रकार ?"

"एक बात तो यह है कि नारी की अपेक्षा पुरुप अमानवीय गुणो को अधिक आसानी से ग्रहण कर लेता है—वह बहुत आसानी से व्यक्ति-निष्ठा से शून्य व समाज-विरोधी तक हो सकता है। नारी स्वभावत ही व्यक्ति के प्रति निष्ठावान् व मानवीय गुणो का आदर करने वाली होती है। सक्षेप मे, पुरुष मानवीय प्राणियो को अपने लिए उनकी उपयोगिता के कारण स्वीकार करता है, परन्तु नारी उनके मानवीय गुणो के कारण। यही कारण है कि पुरुष की अपेक्षा नारी मानव प्राणी को कही अधिक वास्तविक वस्तु समझती है, और इसीलिए पुरुष को उसके द्वारा न केवल उत्तेजना, अपितु नवीन उत्साह व नवजीवन की उपलब्धि होती है। आह्लादिनी के गुण स्पष्टार्थो मे उसके स्वाभाविक गुण है, और उमके आकर्पण व मौन्दर्य का रहस्य भी इसी मे निहित है। यह गुण उसके

लिए चिड़िया के लिए चपलता और पर्वतीय हिम के लिए धवलता के समान ही स्वाभाविक हैं।"

उन्होने आगे कहा—"यह अकारण ही नही है कि मनुष्य अपने दैनिक जीवन की एकरस चेष्टाओ के चक्र से ऊबकर विश्रान्ति के लिए उसकी ओर झुकता है और चुम्बक से लोहे के समान उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। उसका आह्लादिनी गुण—अर्थात् उसका सौन्दर्य, उसका आकर्षण व उसकी मधुरता, सब हमारे जीवन की सत्ता के लिए आवश्यक है, और यह केवल कवि-कल्पना ही नही है, परन्तु हमारे दैनिक जीवन का एक निर्विवाद अनुभव है।"

ध्यानमग्न अवस्था मे वह कहते गये—"और यही कारण है कि यद्यपि नारी की अपेक्षा, जिसे घोसला बनाने की अधिक आवश्यकता है, पुरुष को मौलिक रूप से स्वतन्त्रता व अवकाश—मुक्ति—की अधिक आवश्यकता है—तथापि वह केवल खाली अवकाश मे ही अपनी पूर्णसिद्धि प्राप्त नही कर सकता। मैंने तुमसे एक बार उस पूर्णता और सिद्धि का वर्णन किया था, जो केवल एक सुजाता द्वारा ही बुद्ध को व मार्था या मेरी द्वारा ही ईसा को प्राप्त हो सकती थी। मानवीय प्रयत्न के इतिहास मे यह सदा इसी प्रकार होता चला आया है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण रहता है, यहाँ तक कि शिव की तपस्या भी गुप्त रूप से पार्वती की सेवा के लिए बेचैन थी।"

"यह बात मेरी समझ मे भी आती है। परन्तु आपका यह कथन कि नारी की अपेक्षा मनुष्य को मौलिक रूप से स्वतन्त्रता की अधिक आवश्यकता है, मेरी समझ मे नही आता। क्या दोनो को ही इसकी समान रूप से आवश्यकता नही है ?"

"मेरा यह अभिप्राय नही है कि नारी को इसकी आवश्यकता नही है। मेरे कथन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि पुरुष की अपेक्षा नारी का झुकाव भावुकता व सासारिकता की ओर अधिक है। इसी को दूसरे रूप मे इस तरह भी कहा जा सकता है कि नारीत्व की पूर्णता जहाँ प्रेम व गृहस्थ द्वारा प्राप्त होती है, वहाँ पुरुष को अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए और अधिक स्वतन्त्रता व अपेक्षाकृत अनासक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य अन्तत अनन्त की खोज के लिए प्रयत्नशील है। वह घर की चारदीवारी मे बँधकर नही रह सकता।"

"परन्तु स्त्रियो मे भी तो ऐसी आकाक्षाएँ होती है ?"

"निस्सन्देह, प्रत्येक सिद्धि, चाहे वह कितनी भी आशिक क्यो न हो, उसमे अनन्त का कुछ-न-कुछ प्रतिबिम्ब अवश्य रहता है। जैसे प्रत्येक सुख मे, चाहे वह कितना ही क्षणभगुर क्यो न हो, शाश्वत आनन्द की एक किरण विद्यमान रहती है। यह कल्पना मत करो कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि नारी पुरुष के समान मानवीय प्राणी नही है, और इसलिए मानव की अनन्त सम्बन्धी

आकांक्षाओ मे उसका कोई सम्बन्ध नही है। उसकी मुक्ति भी अनन्त की दिशा मे प्रगति पर ही निर्भर है—यह एक निर्भ्रान्त सत्य है। परन्तु उसका अपने लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग पुरुष से भिन्न है, केवल यही मेरे कथन का तात्पर्य है। उसे भी अनन्त व सनातन की उपलब्धि करनी है—परन्तु पुरुष के समान मुक्ति—विस्तार व अनासक्ति द्वारा नही—अपितु बन्धन व आसक्ति द्वारा।"

उन्होंने अपना कथन जारी रखते हुए आगे कहा—"क्योंकि प्रकृति ने वास्तव मे नारी के मुकाबले मे पुरुष की उपेक्षा की है, और अपना ध्यान नारी के निर्माण मे अधिक केन्द्रित किया है। परन्तु पुरुष ने भी इसका उत्तर उसी तरह दिया है, यानी वह प्राय प्रकृति की उपेक्षा करता है और कभी-कभी उसके विरुद्ध विद्रोह तक भी कर डालता है। परन्तु नारी ऐसा नही करती, अर्थात् वह अपने साथी पुरुष के समान उसी आज़ादी से बिना किसी दण्ड-भय के प्रकृति के विरुद्ध आचरण नही कर सकती।"

"क्षमा कीजिये, मैं आपके अभिप्राय को अभी भी स्पष्टतया नही समझ सका हूँ।"

कवि ने कहा—"मैं एक दृष्टान्त द्वारा अपने कथन को स्पष्ट करता हूँ—जिस प्रेरणा ने बुद्ध को अनन्त की खोज के लिए अपनी पत्नी गोपा के त्याग के लिए प्रेरित किया, वह प्रेरणा पुरुष के लिए सत्य प्रेरणा है, परन्तु नारी के लिए नही।"

"क्या आपका यह तात्पर्य है कि गोपा उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुद्ध का परित्याग न कर सकती थी ?"

"हाँ।"

"परन्तु क्यो ?"

"क्योकि गोपा एक नारी थी। उसकी प्रकृति बुद्ध के समान त्याग के लिए न तो इतनी भटक ही सकती थी, और न ही सर्वस्व त्याग की शून्यता से वह फल-फूल ही सकती थी।"

'परन्तु क्या ऐसी नारियाँ नही हैं, जिनकी प्रकृति ?'

"निस्सन्देह ऐसी नारियाँ भी हैं। परन्तु प्रकारान्तर से इसका इतना ही अर्थ है कि कुछ ऐसी भी नारियाँ हैं, जिनकी प्रकृति वास्तव मे पुरुष-प्रकृति है, ठीक ऐसे ही, जैसे कुछ ऐसे भी पुरुष होते हैं, जिनकी प्रकृति सर्वथ नारी-प्रकृति होती है। परन्तु इस प्रकार के व्यक्ति अपने वर्ग के ठीक प्रतिनिधि नही कहे जा सकते। अपितु वे एक प्रकार के अस्वाभाविक अपवाद ही कहे जा सकते हैं—और इससे मेरे कथन की असत्यता प्रमाणित नही होती, क्योकि, नारी-प्रकृति पुरुष और पुरुष-प्रकृति नारी, इस प्रकार की अनियमितता प्रकृति मे दृष्टिगोचर होती ही है।"

' परन्तु आपके इस कथन का, कि 'बुद्ध पुरुष होने के कारण गोपा का अपेक्षाकृत सुगमता से त्याग कर सकते थे, 'ठीक-ठीक क्या अर्थ है ? क्या प्रकार आने पर स्त्रियाँ भी इसी प्रकार विचलित हुए बिना पुरुष का त्याग नही कर सकती ? पुरुष के लिए ही यह सुगमकर क्यो है ? क्या पुरुष को नारी की उतनी ही आवश्यकता नही है, जितनी नारी को पुरुष की है ? या आपका यह अभिप्राय है कि पुरुष के लिए प्रेम कोई आवश्यक वस्तु नही है ?"

"नही, ठीक ऐसा नही है,' कवि ने कुछ सोचने के बाद कहा—'क्योकि यह सत्य को एक प्रकार से मिथ्या रूप मे प्रकट करने के समान है, और इससे वर्तमान सभ्यता की उस एकागी प्रवृत्ति का ही पक्षपोषण होता है, जो सौन्दर्य और माधुर्य का एकान्त बहिष्कार करके कार्य, कार्य-कुशलता व सगठन के वर्तमान सिद्धान्तो को ही एकमात्र मुख्यता देती है। वह यह नही देखती कि इनके अन्दर जो भी आनन्द की मात्रा है, वह उपर्युक्त सौन्दर्य व माधुरी के ही कारण है। मैंने इस बात पर हमेशा खेद प्रकट किया है कि हमारी वर्तमान सभ्यता का आकर्षण-केन्द्र, सौन्दर्य की अपेक्षा इस शुष्कता की ओर अधिक झुक गया है, और इसीलिए बार-बार मैंने बलपूर्वक यह कहा है कि ससार के लिए यह शुभ लक्षण नही है। और मैं बहुधा इस बात पर जोर देता हूँ कि हमारी नारियो को बाह्य क्षेत्र मे आकर और हमारी रचनात्मक सभ्यता मे अधिकाधिक भाग व दिलचस्पी लेकर इस विनष्ट सतुलन को पुन स्थापित करना चाहिए। इसलिए मेरा यह अभिप्राय कभी नही हो सकता कि नारी पुरुष के लिए वस्तुत अनावश्यक वस्तु है। यह स्पष्ट है कि बुद्ध के लिए प्रारम्भ से ही गोपा का प्रेम एक महत्त्वहीन वस्तु नही था। पुरुष को भी अपनी पूर्णता के लिए प्रेम की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी नारी को—यह सर्वथा निर्विवाद है। अन्तर केवल यह है कि बुद्ध का गोपा के प्रति प्रेम उनके अपने अभ्युत्थान के लिए एक आवश्यक साधन था, न कि गोपा के प्रेम के समान उसका सर्वस्व था। दूसरे शब्दो मे, इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि सवेदनात्मक भावुकता व प्रेमासक्ति, जहाँ नारी की रचना का मेरु-दण्ड है, वहाँ पुरुष के लिए यह उसकी जीवन-यात्रा मे एक पथप्रदर्शक आलोक व ज्योति स्तम्भ का कार्य करती है, इस प्रकाश को हम एक आश्चर्यजनक प्रकाश कह सकते हैं, परन्तु नारी के समान यह उसकी सत्ता का सर्वस्व व एकमात्र लक्ष्य नही कहा जा सकता। तुम मेरा अभिप्राय समझ रहे हो ?"

मेरी आपत्ति की पूर्व कल्पना करते हुए उन्होने फिर कहना प्रारम्भ किया, "लेकिन इस कथन मे किसी अवज्ञा या अपमान का भाव निहित नही है। इसका सीधा-सादा यही अर्थ है कि नारी की रचना ही पुरुष से भिन्न है, बस इतना ही। और वास्तव मे ठीक इसी कारण से कि नारी की रचना ही पुरुष से भिन्न है, यह सृष्टि विविध प्रकार से अपनी निर्माण-क्रीडा करती है। यदि वह वास्तव मे पुरुष

की केवल प्रतिमूर्ति होती, तो अभिव्यक्ति और सौन्दर्य का समस्त स्पन्दन एकदम विलुप्त हो जाता। वास्तव मे सृष्टि-रचना के प्रवाह को निरन्तर प्रवाहित रखने के लिए ही प्रकृति ने नारी को पुरुष की प्रतिध्वनि मात्र नही बनाया है। भिन्न-भिन्न रूपो मे ही उनकी सृष्टि हुई है, और अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उन्हे भिन्न-भिन्न रूपो मे ही रहना होगा।"

उन्होने अपना कथन जारी रखते हुए कहा—"इससे मुझे उस घटना की याद आ जाती है, जो तुमने एक प्रतिष्ठित विवाहित महिला के घर से भाग जाने के बारे मे मुझसे कही थी, यद्यपि इससे उसे अपने सर्वनाश का ही सामना करना पडा। तुम्हे इस बात पर आश्चर्य था कि तुम्हारे एक बुद्धिमान मित्र को इससे कोई आश्चर्यजनक बात नही दिखायी दी, बल्कि उसने केवल यही कहा कि ऐसी स्थिति मे वह अपने प्रेमी के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने मे भी कोई हिचकिचाहट न करती जिसका केवल यही अर्थ था कि उसके लिए अपने प्रेम की आवश्यकता के सामने और सब विचार तुच्छ थे। और तुमने यह सोचा कि शायद वह बहुत आगे बढ गया है ? है न ?"

मैने कहा--"मै स्वीकार करता हूँ कि मैं उस समय इतना निश्चित नही था। कारण, मेरा यही विचार था कि चूँकि समाज मे दण्ड-रूपी कीमत अदा करते समय नारी को ही अधिक कीमत चुकानी पडती है, इसलिए उसे ही अधिक हिचक होनी चाहिए थी। पुरुष तो प्राय अपने सम्मिलित समाज-विद्रोह के दण्ड का कुल भारत अबला नारी के ऊपर डालकर स्वय बिना किसी लाछन के मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए मैं यह सोचता था कि ऐसी स्थिति मे प्रेम के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने से पूर्व उक्त महिला को क्यो न अनेक बार सोचना चाहिए था।"

कवि ने कहा—"इसमे आश्चर्य की कोई भी बात नही है। क्योकि नारी जब वास्तव मे प्रेम करती है, तो वह अपनी पूर्ण आत्मा द्वारा प्रेम करती है, वह अपनी जीवन-सत्ता के प्रत्येक तन्तु से प्रेम को चिपट जाती है। यही कारण है कि सकट उपस्थित होने पर, वह अत्यन्त सुगमता के साथ अपना सर्वस्व त्याग कर बिना किसी हिचकिचाहट के अन्त तक प्रेम का मार्ग अपनाने को तैयार हो जाती है।"

"तो भी क्या आप यह नही सोचते कि ऐसी स्थिति मे एक नारी को बाद मे ऐसा कदम उठाने के लिए पश्चात्ताप भी हो सकता है—विशेषत जबकि उसके प्रति सामाजिक शासन अत्यन्त क्रूर व निर्दय है ?"

"तब तक नही, जब तक कि जिस पुरुष से वह प्रेम करती है, उसका प्रेम ठडा नही पड जाता।"

"क्या समय बीतने के साथ—यह सम्भव नही है ?"

"मेरा विचार है कि यदि प्रेम के कारण उसे अपने जीवन के लक्ष्य का त्याग करना पडता है, तो यह बहुत सम्भव है कि अन्त मे उसे यह अनुभव हो कि प्रेम

उसकी क्षतिपूर्ति नही कर सकता, विशेषत जब तक कि वह स्वय नारी-प्रकृति पुरुष न हो।"

"परन्तु, क्षमा कीजिए ।"

उन्होने बीच मे ही रोकते हुए कहा—"सुनो, मैं और स्पष्ट करता हूँ, क्योकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हे अब भी नारी व पुरुष की मौलिक प्रकृति मे जो भेदक रेखा है, उसे समझने मे कठिनाई प्रतीत हो रही है।"

कुछ देर ठहरकर उन्होने धीरे-धीरे कहना प्रारम्भ किया—"मेरी अपनी ऐसी धारणा है कि मनुष्य मौलिक रूप मे एक जिज्ञासु है—अर्थात् एक अन्वेषक है, वह अनन्त की उपलब्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है, इसे तुम मुक्ति, परब्रह्म, निर्वाण व अन्य ऐसे किसी भी शब्द से पुकार सकते हो। इसलिए कोई भी ऐसा अनुभव, जो उसे बाँधकर रखता है, खूँटे के साथ जकडे रखता है, वह चाहे कितना भी महान् क्यो न हो, उसे पूर्णता प्रदान नही कर सकता। प्रेम एक महान् अनुभव हो सकता है, एक दिव्य आलोक सिद्ध हो सकता है, परन्तु तभी जब वह इस शर्त को पूरा कर सके। तुम मेरा अभिप्राय समझ रहे हो ?"

मैंने सिर झुकाकर अपनी स्वीकृति प्रकट की।

उन्होने अपना कथन जारी रखते हुए कहा—"नारी की मुक्ति का मार्ग इससे भिन्न है। उसके लिए प्रेम केवल एक दिव्य आलोक नही है, अपितु उसके जीवन की केन्द्रीय धुरी है—उसकी जीवन सत्ता का-एकमात्र प्रयोजन है। यही कारण है कि वह अपने साथी के विपरीत, केवल प्रेम द्वारा ही जीवन मे अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकती है।"

उन्होने आगे कहा—"परिणामत यदि कोई पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध यह दावा करता है कि नारी के समान वह भी प्रेम से ही सन्तुष्ट रह सकता है, तो उसका यह दावा या तो क्षणिक मोहावेग द्वारा, या केवल वाहवाही लूटने की भावना द्वारा ही प्रेरित हो सकता है। और दोनो ही अवस्थाओ मे अन्तत उसकी प्रकृति उससे वदला लिए विना न रहेगी।"

थोडी देर मौन रहने के बाद उन्होने फिर कहना आरम्भ किया, "यही कारण है कि अनेक भद्र व्यक्तियो ने इस भ्रान्त धारणा के वशीभूत होकर कि पुरुष भी नारी के समान प्रेम के लिए सर्वस्व अर्पण कर सकता है, अपने जीवन का सर्वनाश कर लिया है। दुर्भाग्य से पुरुप के लिए यह सत्य नही है, क्योकि वह जीवन के सब लक्ष्यो को छोडकर केवल प्रेम से ही सन्तुष्ट नही रह सकता, जबकि नारी के लिए यह सम्भव है।"

मैंने प्रश्न किया—"तो ऐसे अवसर पर एक नारी के व्यवहार के लिए क्या पथ-प्रदर्शक होना चाहिए ?"

"तुम्हारा अभिप्राय शायद उस अवस्था से है जब सामाजिक बहिष्कार एक

पुरुष को उसका सम्पूर्ण जीवन नष्ट करने के लिए बाध्य करता है ?"

"हाँ।"

"तुम जानते हो कि तमाम विश्व मे नारी के कठोर भाग्य के लिए मै कितना दु ख अनुभव करता हूँ। इसलिए मै दु खपूर्वक यह कहने के लिए विवश हूँ कि ऐसी परिस्थितियो मे नारी को, यदि वह वस्तुत उस पुरुष से प्रेम करती है, जोकि उसके प्रेम के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए उद्यत है, सर्वस्व त्याग के मार्ग से उसकी रक्षा करनी चाहिए। उसे उसको अपने प्रेम के घोसले मे आबद्ध रहने के लिए कभी आग्रह न करना चाहिए, उसे इस तथ्य से कभी आँखे न मूँदनी चाहिये कि ऐसी स्थिति मे अपने प्रणयी को घोसले मे आबद्ध कर रखने के लिए वह उससे जिस कीमत की आशा करती है, वह अन्त मे उसकी शक्ति से बाहर है। और इसका कारण वही है जो मैं तुम्हे अभी बतला चुका हूँ कि नर-पक्षी मादा-पक्षी के समान घोसले मे कैद रहकर अपने कटे हुए पखो के लिए पर्याप्त प्रतिदान नही पा सकता। सक्षेप मे, एक नारी, प्रेम मे अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकती है, परन्तु पुरुष ऐसा नही कर सकता।"

"परन्तु जब एक नारी अपने प्रेमी के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देती है, तो उससे यह आशा करना कि वह अपने प्रेमी से भी वैसे ही आत्म-बलिदान की प्रत्याशा न करे, क्या यह उसके साथ एक प्रकार का अन्याय नही है ?"

कवि ने कहा--"मेरे विचार से यह कोई अन्याय नही है। तुम्हे यह न भूलना चाहिए कि यद्यपि नारी का प्रेम अपने उद्वेग मे प्राय. भौतिक तत्त्वो की तरह अदम्य शक्तिशाली होता है, अर्थात् वह अपनी अग्रगति के परिणामो की नही सोचता, तथापि वह अन्त मे बिना सकोच के जो आत्मसमर्पण कर देती है, वह केवल प्रेम के लिए नही, उसकी सम्पूर्ण पूर्णता मातृत्व मे ही है।"

"आपके इस कथन मे तो प्राचीनता की गन्ध है।'

"क्या तुम यह सोचते हो कि फैशन रूपी महिला के समान सत्य रूपी कन्या भी निरन्तर नवीनतम फैशनो की छाया के पीछे भागती रहती है ?" कवि ने व्यग्यपूर्वक कहा।

मैंने क्षमायाचना के तौर पर कहा—"यह केवल मेरी आशका व भयमात्र है। इसके अतिरिक्त मुझे अभी यह भी ख्याल आया कि आपका उपर्युक्त कथन नीत्शे की बहुत पुरानी, घृणासूचक स्थापना से कितना मिलता-जुलता है।" नारी के लिए पुरुष अपनी उद्देश्य-सिद्धि का एक साधन मात्र है, उसका लक्ष्य सदा सन्तान है।'

"परन्तु मेरे उपर्युक्त कथन मे घृणा की कोई गन्ध नही है। मै नारी के लिए सन्तान की माता होने मे उसकी कोई हीनता या अपमान नही देखता। इसके विपरीत मैं उस मातृत्व को श्रद्धानत हो प्रणाम करता हूँ जिसके लिए नारी को

इतना त्याग करना पडता है। मेरा तो केवल यही तात्पर्य है कि चूँकि नारी की पूर्णता केवल मातृत्व मे ही निहित है—इसलिए अपने सहचर से जब यह पूर्णता प्राप्त कर लेती है, तब उसका पूर्ण आत्मसतोष हो जाता है। नीत्शे के कुटिल आक्षेप के साथ इसकी कोई तुलना नही है।"

"परन्तु बहुत-सी स्त्रियाँ, जो मातृत्व की इच्छा नही रखती, उनके विषय मे आप क्या कहेगे ?"

कवि ने उत्तर दिया—"यहाँ एक बात हमेशा ध्यान मे रखने योग्य है। वह अज्ञात सार्वभौम शक्ति, जिसकी धुरी पर यह समस्त सृष्टि व उत्पत्ति का ससार घूम रहा है, वह अपना कार्य प्राय गुप्त व अन्तर्भौम रूप से ही करती है। यही वह शक्ति है, जो हमारे सच्चे मनोभावो व इच्छाओ का असली प्रतिनिधित्व करती है। वह प्रतीयमान मनोभाव जो हमारे चैतन्य के ऊपरी स्तर पर आते रहते हैं, वे हमारे सच्चे प्रतिनिधि नही है। इसलिए यदि कोई नारी यह कहती है कि विवाह से उसका उद्देश्य केवल उसकी मानसिक व शारीरिक सतुष्टि मात्र है, मातृत्व नही, तो मैं केवल यही कहूँगा कि या तो उसका मस्तिष्क विकृत है, अथवा वह अभी अपनी मौलिक आवश्यकता से अनभिज्ञ है। क्योकि हमारी ऊपरी इच्छाएँ हमारी वास्तविक आवश्यकता का प्राय मिथ्या निर्देश करती है, परन्तु वह गुप्त प्रेरणा-शक्ति कभी ऐसा नही करती। उसे अपनी आवश्यकता का पूरा-पूरा बोध है, जबकि हमारा चैतन्य भी कभी-कभी उसे नही देख पाता। और यह गुप्त प्रेरणा-शक्ति यह बतलाती है कि मातृत्व के बिना नारी की पूर्णता असम्भव है।"

कुछ देर तक मौन रहने के बाद मैंने सकोचपूर्वक कहा—"मेरे मित्र ने वर्तमान अवस्था मे मुझसे आपके परामर्श की याचना की है। उसकी स्थिति बड़ी सकटमय हो गयी है, यह आपसे छिपा नही है।"

कवि ने कहा—"ऐसे विषय मे परामर्श देना और भी कठिन है, परन्तु जब तक समाज अपनी वर्तमान स्थिति मे कायम है, तब तक उसके लिए अपने निराश प्रेम को उच्च विचारो मे परिणत करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नही है।"

कुछ देर मौन रहने के बाद उन्होने आगे कहा—"मैं उसे सलाह दूँगा कि वह इस दुखान्त प्रेम को अपने जीवन मे एक महान् अनुभव समझे व अपनी जीवन-यात्रा मे अपने लिए एक अमूल्य आलोक समझे, और इसके कारण उसे इस समय जो दुख उठाना पड रहा है, उसे अपने जीवन का सबसे महान् उपहार समझकर ग्रहण करे। क्योकि हमारे समस्त महान् अनुभव दो सहगामी चीजो से प्राप्त होते हैं, जैसा कि गेटे ने कहा है—'एक ग्रहण द्वारा और एक त्याग द्वारा।"

उन्होने स्वप्नाविष्ट-सा होकर फिर कहना प्रारम्भ किया—"परिग्रह की मूल प्रवृत्ति से ऊपर उठाना भी आत्मा की एक सनातन आकाक्षा है। स्थूल भौतिक तृप्ति की दृष्टि से हम जो कुछ पाते हैं, वह हम खो देते है। इसीलिए आत्मा

तपस्या द्वारा परिग्रह के प्रलोभन से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है। और जितना ही अधिक पवित्रतर कोई आनन्द होता है, उतना ही अधिक उसमे अपरिग्रह का पुट होता है। त्याग, अनासक्ति—मुक्ति व कैवल्य की अपील का शाश्वत रहस्य इसी मे निहित है। इससे मेरा तात्पर्य उस तथाकथित दिखावटी बाह्य मुक्ति व त्याग से नही है, जिसे कट्टरपथी, सकीर्ण त्यागवादी अपना ध्येय कहकर बखानते है। मेरा तात्पर्य उस आन्तरिक मुक्ति से है जो अपने आनन्दानुभव से बद्ध हुए विना आनन्द का अनुभव करती है।"

उनके उपर्युक्त कथन से उनकी 'साधना' पुस्तक मे वर्णित निम्नलिखित पक्तियाँ स्मरण हो आयी —

"मानव के इतिहास मे हम हर जगह यह देखते है कि त्याग की भावना मानवीय आत्मा की गम्भीरतम वास्तविकता है। जब आत्मा किसी वस्तु के बारे मे यह कहती है कि मुझे उसकी आवश्यकता नही है, क्योकि मैं उससे ऊपर उठ गया हूँ, तब वह अपने अन्दर विद्यमान उत्कृष्टतम सत्य को ही व्यक्त करता है। जब एक बालिका का जीवन गुडियो से ऊपर उठ जाता है, तब वह उन्हे दूर फेक देती है। परिग्रह की क्रिया द्वारा ही यह स्पष्ट है कि हम उन वस्तुओ से, जिनका कि हम परिग्रह करते है, उच्चत्तर हैं। यह हमारे लिए महान् दुर्भाग्य की बात है कि हम उन वस्तुओ से बँधे रहे, जो हमसे कही क्षुद्रतर है'—जब मनुष्य अपने परिग्रहगत वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेता है, तभी वास्तव मे उसका तत्वसम्बन्धी भ्रम दूर हो जाता है, और तब वह यह जान लेता है कि उसकी आत्मा उन वस्तुओ से कही अधिक ऊँची है, और वह उनके बन्धनो से मुक्त हो जाता है ।"

"हमारे प्रत्येक गम्भीर प्रेम मे, उन्होने पुन कहना प्रारम्भ किया—'यह प्राप्ति और त्याग दोनो समान्तर चलते रहते है। हमारे एक वैष्णव भजन मे प्रेमी अपनी प्रेमिका को सम्बोधित करके कहता है—'मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं जन्म से ही तुम्हारे मुख के सौन्दर्य को बराबर निहारता रहा हूँ, परन्तु मेरे नेत्रो की प्यास बुझने मे नही आती, मैने हजारो वर्षो से तुम्हे अपने हृदयालिंगन मे बाँध रखा है, परन्तु फिर भी तृप्ति नही होती।"

"इसलिए मैं हृदय से यही चाहता हूँ कि तुम्हारे मित्र को चाहे अपनी प्रणयिनी का अत्यधिक वियोग भी क्यो न सहन करना पडे, परन्तु उसे अपने इस अनुभव के लिए कभी दु ख का अनुभव न करना चाहिए। एक दिखावटी वैरागी के समान, जो भौतिक परिग्रह को प्रेम का उच्चतम उपहार न बताकर उसकी निंदा करता है, उसे भी उसी श्रेणी के वैरागियो मे अपनी गिनती न करानी चाहिए। उच्चतम प्रेम को इन सब पार्थिव तृप्तियो से ऊँचे उठना चाहिए। यह प्रेम आजीवन वियोग के दु ख की भी, आत्मिक क्षेत्र मे मिलन की प्रगाढ प्रसन्नता

मे परिणत कर देता है, और बाह्य निराशा के परिणामस्वरूप हमे जो कष्ट उठाना पडता है, उसी के द्वारा वह हमारी रचनात्मक प्रवृत्तियो को उत्तेजित करता है। यह केवल वाक्-चातुर्य ही नही, यह मनुष्य के उन स्थायी अनुभवो मे से एक अनुभव है, जिसकी प्रत्येक युग के कवियो, पैगम्बरो व वीरो के अनुभव ने पुष्टि की है। यही कारण है कि यह प्राय: अनिवार्य है—और निर्माणकारी आत्माओ के लिए तो विशेष रूप से ही अनिवार्य है—कि वे प्रेम के इस अनुभव को गहरी वेदना, व अत्याचार का भारी मूल्य चुकाकर भी प्राप्त करे। क्योकि मनुष्य जिस सीमा तक प्रेम के आलोक मे आत्मविकास के मार्ग मे अग्रसर होता है, उसी सीमा तक वह प्रेम मे पूर्णता प्राप्त करता है, वह अपनी हृदय-भूमि मे इस प्रेम के बीज के अकुरण द्वारा कला-रचना, आनन्द व आत्मानुभव के पुष्पो की सृष्टि करता है, और अन्तत रहस्य व अज्ञेयता का जो आवरण उसकी आँखो की दृष्टि को ढके हुए है, वह इस प्रेम यष्टिका के जादू-भरे स्पर्श से ऊपर उठ जाता है।"

वह कहते गये—"हम जीवन मे तब तक किसी वस्तु का पूर्ण अनुभव प्राप्त नही कर सकते, जब तक वह हमारे जीवन का एक अश नही बन जाती, हम तब तक किसी वस्तु को अपना नही बना सकते, जब तक उसका मूल्य न अदा करे। प्रेमानुभूति के लिए भी यह मूल्य किसी-न-किसी रूप मे, और बहुधा स्थायी कष्ट व यातनाओ के रूप मे चुकाना पडता है। यदि हम इस मूल्य की अदायगी मे किसी प्रकार का पशो-पेश करते है, तो हम प्रेम की अनुभूति प्राप्त नही कर सकते, और न उसे अपने असली व्यक्तित्व की पूँजी के रूप मे परिवर्तित कर सकते हैं। केवल दान-रूप मे प्राप्ति द्वारा या हमारी याचना करने पर मिल जाने से ही हम किसी वस्तु के ग्रहण के अधिकारी नही हो सकते। हमारे अन्दर उसकी प्राप्ति की योग्यता, उसे अर्जन करने का उद्योग, और उसका उचित मूल्य चुकाने की क्षमता, चाहे वह अपने जीवन का रक्त देकर ही क्यो न प्राप्त हो, आवश्यक है। तभी हमारा ग्रहण वास्तविक ग्रहण है, तभी हमे प्रेम स्वीकार कर सकता है और अपने उपहारो को हमे दे सकता है।"

जैसे ही उनके स्वर की मधुर गुंजन बाहर बहती हुई शीतल समीर की मर्मर ध्वनि मे विलीन हो गई, वैसे ही उनकी एक अचिर-निर्मित कविता के निम्न-लिखित पद मेरे मन मे घूमने लगे —

क्षमा करो यदि भूले थाकि
तबु जानि एक दिन तुमि मोरे निये छिले डाकि,
हृदि-माझे, अमि ताइ आमार भाग्येरे क्षमा करि,
जतो दु खे जतो शोके दिन मोर दिये छे से भरि,
सब भुले गिये। पिपासार जल-पात्र निये छे से,
मुख हे ते, कत बार छलना के रे छे हेसे हेसे,

मेगे छे विश्वास, अकस्मात्, डुबाए छे भरा तरी
तीरेर सम्मुखे निये ऐसे,--सब ता'र क्षमा करि,
आज तुमि आर नाइ, दूर हते गछो तुमि दूरे,
विधुर हए छे सन्ध्या मुछे-यावा तोमार सिन्दूरे,
सगीहीन ए जीवन शून्य घरे हये छे श्री-हीन,
सब मानि,—सब चैये मानि तुमि छिले एक दिन।

आधुनिक युग पर

१० जून, १९३८

१९३८ की ग्रीष्म ऋतु मे मैं अपने पिताजी के एक मित्र की कन्या श्रीमती अश्रुकरगा अतिथि होकर हिमालय पर्वत के कालिम्पौग स्थान पर गया। कवि भी उन दिनो वही थे। कई दिन की लगातार मूसलाधार वर्षा के अनन्तर एक सुनहरे प्रभात मे हम उनके दर्शन करने के लिए गये। कवि ने अपनी नैसर्गिक सहानुभूति के साथ हमारा हार्दिक स्वागत किया। उनसे उस समय जो वार्त्तालाप हुआ उसकी प्रतिलिपि अगले दिन प्रात मैंने उनके सम्मुख प्रस्तुत की। उन्होंने उसमे एक-दो स्थान पर कुछ सशोधन करते हुए उक्त विवरण की विश्वसनीयता के लिए मेरी प्रशसा करते हुए मुझे अत्यन्त गौरवान्वित किया। इसके अतिरिक्त और भी कई अवसर मुझे उनसे वार्त्तालाप करने के प्राप्त हुए। परन्तु मैं उन सबका विवरण यहाँ न देकर केवल एक उसी का विवरण दे रहा हूँ, जिससे मुझे आशा है, उन लोगो का पर्याप्त मनोरजन होगा, जिनके हृदय मे आधुनिकता, विज्ञान और प्रगति के बारे मे कोई भ्रम नही है।

कवि ने उक्त अवसर पर आल्डस हक्सले की पुस्तक 'उद्देश्य और साधन' की बहुत प्रशसा की, और जब मैंने उसमे से निम्न उद्धरण उपस्थित किया, तो उन्होने उससे पूर्ण सहमति प्रकट की। उन विज्ञान-भक्तो प्रति हक्सले का यह एक विद्रूप कटाक्ष था जिनका यह विचित्र विश्वास है कि, "वास्तविक सत्ता से अपनी इच्छानुसार निकाले हुए निष्कर्ष का वैज्ञानिक चित्र ही, पूर्ण वास्तविक सत्ता का चित्र है, और इस ससार का न कोई प्रयोजन है और न इसकी कोई कीमत है।"

कवि ने हक्सले की समालोचना मे हार्दिक आनन्द का अनुभव किया—"हम आजकल विज्ञान की प्राथमिक सफलताओ से उत्पन्न आनन्ददायी मादकता के युग मे नही रह रहे है, अपितु उसके बाद के एक विकट प्रात काल मे से गुजर रहे है, जबकि स्पष्ट हो गया है कि विज्ञान ने अब तक जो भी सफलता प्राप्त की है, वह केवल अनुन्नत व कुत्सित लक्ष्यो की सिद्धि के लिए हमारे साधनो को उन्नत बनाने तक ही सीमित है।' उसने अपने 'विश्वास' शीर्षक अध्याय मे लिखा है—'हमारा बहुत-सा अज्ञान निराकरण योग्य अज्ञान है। हम इसलिए अज्ञान मे

रहते है, क्योकि हम जानने की इच्छा ही नही करते। हमारी इच्छा ही इस बात का निर्णय करती है, कि किन विषयो के ज्ञान के लिए हम अपनी बुद्धि का किस प्रकार उपयोग करें। वे व्यक्ति, जो सृष्टि रचना मे किसी प्रयोजन का अवलोकन नही करते, प्राय: किसी-न-किसी स्वार्थ-विशेष से प्रेरित होकर ही ऐसा कहते हैं।'

कवि ने इससे अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए कहा, "यह निस्सन्देह सत्य है। और अधिकतर वैज्ञानिक लोग भी आजकल प्राय यह स्वीकार लरने लगे हैं कि उन क्षेत्रो मे जो वैज्ञानिक अनुभव व परीक्षण के वाहर है, वैज्ञानिक तथ्यो की सत्यता प्रमाणित नही की जा सकती।"

ऐसे ही एक प्रसग मे श्री अरविन्द ने मेरे एक मित्र को जो पत्र लिखा था, उसका उद्धरण मैंने उनके सम्मुख रखा—"महाशय—या अन्य किसी वैज्ञानिक को यह कैसे विदित है कि जीवन का अस्तित्व दैवात् या आकस्मिक रूप से ही हो गया है, तथा विश्व ब्रह्माण्ड मे अन्य किसी स्थान पर जीवन का अस्तित्त्व नही है, अथवा विश्व मे जहाँ-कही भी जीवन का अस्तित्त्व है, वह इन्ही परिस्थितियो मे व इसी रूप मे सभव है जैसाकि हमारी पृथ्वी पर है, इसके विपरीत परिस्थिति मे उसकी सत्ता असभव है। यह सब केवल मानसिक कल्पनाएँ है, जिनमे कोई निर्णयात्मकता नही है। यदि समस्त विश्व ब्रह्माण्ड को ही एक आकस्मिक घटना मान लिया जाय, एक ऐसी वस्तु मान लिया जाय, जिसकी उत्पत्ति व जिसका शासन अकस्मात् द्वारा होता है, तब जीवन को भी आकस्मिक वस्तु कहा जा सकता है। इस प्रकार की कल्पना मे समय नष्ट करना उचित नही है जोकि पानी के बुलबुले के समान है।"

कवि ने भी इससे अपनी सहमति प्रकट की, और साथ ही कहा—'परन्तु वर्तमान वैज्ञानिको मे विधेयात्मक स्थापनाओ के विरुद्ध विद्रोह की मात्रा निरन्तर प्रबलतर होती जा रही है।' उन्होने कहा कि 'हाल ही मे एक वैज्ञानिक ने अपनी पुस्तक मे खेदपूर्वक यह स्वीकार किया है कि समस्त नियम मनुष्य-रचित नियम हैं, और उसने यह निर्देश किया है कि विज्ञान के क्षेत्र मे विचार व धारणाओ मे अभी हाल मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुका है—क्योकि वैज्ञानिक विचार अत्यन्त वेग के साथ प्रगति कर रहा है।'

मैंने कहा— यदि आप थकावट अनुभव न करते हो तो मैं आप से कुछ और प्रश्न करना चाहता ।'

कवि ने अश्रुकणा को सम्वोधित करते हुए कहा—'देखो, देखो, क्या तुमने भी इस बात का ख्याल किया है कि कभी-कभी दिलीप भी मेरे प्रति एक प्रकार की दया व वेदना का अनुभव करता है ?'

उसने कहा—'हाँ, मैंने किया है, और इस चतमकार पर मुझे वडा आश्चर्य है।' हम सब हंसने लगे।

जब हँसी बन्द हुई, तब मैंने कहा—"'प्रान्तिक' मे आपकी कविताओ मे मानवीय आदर्शवाद के प्रति आपकी गभीर वेदना को देखकर मुझे हर्ष होता है। यह देखकर, कि अब भी ऐसे व्यक्ति विद्यमान है, जिनकी आध्यात्मिक मूल्यो के प्रति निष्ठा व भक्ति अक्षुण्ण है, और उनमे से कम-से-कम एक ऐसा भक्त भी है जो अपनी आन्तरिक प्रेरणा के प्रति सच्चे कवि के समान उनकी स्तुति मे गा सकता है, मुझे बडी स्फूर्ति का अनुभव होता है। परन्तु मुझे यही आश्चर्य है कि मानवीय गृध्रता से उत्पन्न होने वाली युद्ध की भीषण बुराइयो का कोई उपचार आपने क्यो नही सुझाया है ?"

कवि ने उत्तर दिया—"मैं इन घटनाओ को आजकल एक प्रकार की उदासीन दृष्टि से देखता हूँ। मै देखता हूँ कि जीवन-लीला के इस विशाल क्रीड़ा-क्षेत्र मे इन्द्रियधारी जीवो ने जिन उपायो को अपनी वृद्धि व रक्षा के लिए एक समय अनुकूल समझा, उन्हे ही उस समय उन्होने ग्रहण कर लिया। परन्तु उसके पश्चात् युग-परिवर्तन के साथ-साथ इन उपायो मे भी परिवर्तन हो गया, और यह परिवर्तन इतना उग्र व क्रान्तिकारी हुआ, कि जो परिस्थितियाँ किसी समय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती थी वही उसकी घातक हो गयी। उसका अवश्यभावी परिणाम उन प्राणियो के सर्वनाश के रूप मे प्रकट हुआ। उदाहरण के लिए, विपुलकाय मैमथ का दृष्टात ले लो। यह सहज ही मे कल्पना की जा सकती है कि आरम्भ से ही वह इतने दीर्घकाय न थे। किन्तु किसी भी कारण से उनके पश्चाद्वर्ती सस्करणो मे मास व मेद की वृद्धि द्वारा आकार व परिधि मे फूलने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई और धीरे-धीरे यहाँ तक स्थिति आ गई कि उन्होने मेद की वृद्धि द्वारा जो महान् स्थूलता प्राप्त कर ली थी, उसको कायम रखने के लिए पर्याप्त आहार की प्राप्ति सभव न रही। तब उन्होने नख-दन्तो द्वारा अपने सजातीयो पर ही प्रहार करना आरम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप उस युग के कुरुक्षेत्र मे मैमथवश का ही सर्वनाश हो गया। उसके अनन्तर विधाता ने मन नामक एक नई शक्ति का आविष्कार किया। तुम देख सकते हो कि मेद, नख व दन्तो का युग अब समाप्त हो गया है।"

"इस प्रकार मन के युग का अभ्युदय हुआ। परन्तु मन भी उसी प्रकार दिन-प्रतिदिन विशाल रूप धारण करने लगा। मैमथ की आकार-वृद्धि के समान इसके आयतन मे भी विस्मयजनक वृद्धि हो गयी, और धीरे-धीरे यह प्रकट होने लगा कि यह मानसिक मैमथ भी अपनी आकार-वृद्धि की तरह अपने नख-दन्तो को विकसित कर सकता है। यथार्थ बात यह है कि प्रत्येक नवशक्ति, जब तक उसका विकास औचित्य व समता की सीमा का उल्लघन नही करता, बराबर वृद्धि करती रहती है परन्तु जब वह सीमा से आगे बढ़ जाती है, तो सर्वनाश के गढे मे तेजी के साथ गिरने लगती है, क्योकि उस समय वही उपाय, जो किसी समय उसकी रक्षा के

साधन प्रतीत होते थे, उसके जानी दुश्मन बनकर उसके विरुद्ध खडे हो जाते है।

"हमारे इस वर्तमान युग मे इन मानसिक प्राणियो ने किसके साथ मित्रता का गठबन्धन जोडा है? अपवित्र गृध्रता व लालच की सेनाओ के साथ! मनुष्य ने मायाविनी इच्छा के वशीभूत होकर इस लोभ को अपनाया है और मन ने इस युक्ति से इसका समर्थन किया है कि इच्छा ही हमारी मूल सचालिका है और लोभ ही हमारा पतवार है। इसी का यह परिणाम है कि जीवन-क्रीडा के चक्र मे विध्वस-पर्व ने गहन गर्त से निकलकर सृष्टि-पर्व के शीर्ष पर अपना आसन जमा लिया है। इसके लिए दु ख करने का क्या कारण है, जबकि सृष्टि का नियम ही ऐसा दिखाई देता है? लेकिन इससे तुम्हे एक नया पाठ मिलता है, तुम यह जान सकते हो कि मन भी औरो के समान ही मूढ है! मनुष्य को यह बोध होने लगा है कि जिस प्रकार निरवधि मासवृद्धि को आश्रय देने पर प्रागैतिहासिक मैमथ का सर्वनाश हुआ है, उसी प्रकार मन की दूषित वासनाओ को भी निरन्तर प्रश्रय देने पर इसका भी वही परिणाम अवश्यभावी है। कारण, मन भी मायाजाल की सृष्टि करता है, और उसका भी अपना माया का ससार है। इसलिए प्राचीन ऋषियो ने वेदो के ज्ञान द्वारा इस अनुभव की घोषणा की थी कि मन द्वारा उस परम सत्य और ज्ञान की उपलब्धि असम्भव है, उसके लिए हमे आत्मा का ही नेतृत्व व पथप्रदर्शन प्राप्त करना होगा। मन रोग के इलाज करने का दावा कर सकता है, परन्तु उसकी निवृत्ति नही कर सकता, क्योकि लोभ का रोग भूत इसकी उपचार-शक्ति से बाहर है। क्या तुम नही देखते कि मन के प्रलोभनो मे फँसकर हम किस नरककुण्ड मे जा धँसे है? एक सीमा तक मासवृद्धि फलती-फूलती रही और उस समय तक मैमथ का जयकार भी चलता रहा। परन्तु अन्त मे वह उसी के विरुद्ध सशस्त्र होकर खडा हो गया। मन के साथ भी अविकल रूप से वही घटना घटित हुई। वह भी एक सीमा तक खूब फला-फूला, उसने अनेक नवीन रचनाएँ की, अन्वेषण किये, नाना प्रकार के उपहार दिये, यह सब-कुछ हुआ। परन्तु अभिमान के दुर्वह भार से आक्रान्त होकर जब उसने अपने-आपको ब्रह्माण्ड का एकमात्र नियन्ता व सत्य का एकाकी निर्णायक होने का दावा किया, तब आत्मा रूपी अन्तर्देवता मूकभाव से उसकी मूर्खता पर मुस्कराने लगा। परन्तु गर्वित मन बेधडक हो और भी द्रुतवेग से आगे बढा, एकता व समता के साम्राज्य मे उडने के लिए नही—अपितु लोभ व गृध्रता के गहन गर्त मे गिरने के लिए। उसका क्या परिणाम हुआ, यह तुम देख रहे हो। आज मनुष्यो को मानवता अपील नही करती, क्योकि मन ने बीच मे दखल देकर उन्हे इस तर्क द्वारा मोहित कर दिया कि यह सब आदर्शवाद असभ्य युग के भग्नावशेष है। लोभ देवता का यह उपदेश मनुष्यो को सब प्रकार से प्रलुब्ध करनेवाला था, और उससे प्रभावित होकर मनुष्यो ने अपनी वासना-भूमि मे विष का वपन कर दिया। फलत. नाना प्रकार

के दु स्वप्नो से लदे हुए मृत्युदाता विष-वृक्षो की फसल पैदा हुई। ऐसा होने पर, क्या यह कोई ग्राश्चर्य की बात है कि मनुष्य अपने ही जाति-बन्धुग्रो को अपना सबसे बडा शत्रु समझकर उनसे डरता है ? तुम प्रत्यक्ष देख सकते हो कि वह किस प्रकार असहाय होकर ग्रात्महत्या के ग्रगाध गर्त मे असहायावस्था मे लुढक रहा है ! मन ने लोभ के पक्ष मे युक्तियाँ देकर मनुष्य को अपने पखो पर उडाकर शक्ति के स्वर्ग मे ग्रधिरूढ करने का सुख-स्वप्न दिखाया था, परन्तु देखो, वास्तव मे उसने उसे भय व अत्याचार के किस अध गर्त मे जा फँसाया है। मनुष्य ग्राज पृथ्वी को खोद रहा है, भयानक गैस-टोपियो का निर्माण कर रहा है, और लाखो व करोडो रुपया पानी की तरह विनाश के शस्त्रो पर खर्च कर रहा है। परन्तु किसलिए ? क्योकि उसे स्वजाति-बन्धुग्रो से ही युद्ध करना है। एक युग था जब वह वन्य पशुग्रो से ग्रात्मरक्षा के लिए शस्त्रास्त्रो का निर्माण करता था, परन्तु ग्राज उसे उनके निर्माण मे सैकडो गुणा अधिक उन्नति करनी पड रही है, कारण, अब उसका शत्रु उसका अपना ही जाति-बन्धु, सभ्य कहा जाने वाला मनुष्य है। रोग निस्सन्देह घातक है। यही कारण है कि तुम्हारे दुःख मे हिस्सा लेते हुए भी, तुम्हारे उस ग्राश्चर्य मे मै साथी नही हूँ, जो तुम्हे मनुष्यो के असहाय अबलाग्रो व बालको पर बम गिराने पर होता है। जब तुमने विष के बीज बोए है, तो अमृत-फल की ग्राशा कैसे कर सकते हो। तुमने फूलो की अपेक्षा काँटो को पसन्द किया है, इसलिए अब इस ऊर्ध्व क्रन्दन से क्या लाभ है कि अबलाग्रो, असहाय बालको निरस्त्र वृद्धो को युद्ध के प्रहारो से मुक्त किया जाय ? तुम एक विचित्र तर्क का ग्राश्रय लेते हो। क्योकि प्रेम के पौधे को उखाडकर, जो इस विनष्ट होती हुई सभ्यता का एकमात्र ग्राश्रय-स्थल है, लोभ की विनाशकारी प्रचण्ड ज्वाला को प्रश्रय देते हो, और फिर शान्ति की शीतल छाया व करुणा के वरदहस्त के लिए शोर मचाते हो ! जब तुम जान-बूझकर विनाश की होली खेलते हो तो बालको व अबलाग्रो के लिए करुणा की असामयिक दुहाई क्या अर्थ रखती है ? यह तो हम सबके सामूहिक कर्मो का फल है, तब केवल वे ही उससे मुक्ति के अधिकारी कैसे हो सकते हैं ?"

मैने कहा—"ग्रापके इन विचारो को सुनकर गत महायुद्ध मे 'शॉ' ने जो उद्गार प्रकट किये थे वह स्मरण हो ग्राते है। उन्होने डमडम बुलैट, गैस व पनडुब्बी के प्रयोग के विरुद्ध उठाए गए ग्रान्दोलन की मजाक उडाते हुए ग्रावेश-पूर्वक कहा था कि जब तुमने पैशाचिको के अस्त्र ग्रहण किये है, तब तुम पूर्ण पिशाच का रूप धारण करके अवनति के ग्रतल तल मे गिर पडो। तभी शायद यह सभव हो कि तुम अपनी पैशाचिकता को देखकर स्वय भय से काँप उठो। उनका यह कथन शायद अतिशयोक्तिपूर्ण नही है। परन्तु फिर भी ग्राप इसे ग्राशा या मुक्ति का सन्देश नही कह सकते। सृष्टि के ग्रादिकाल से जो चिरन्तन प्रश्न

चला आ रहा है, 'क' पन्था ?' (स्वर्ग तक पहुँचने का कौन-सा मार्ग है ?) वह, अब भी वैसा ही बना हुआ है।"

कवि ने कहा—"इसका चिरन्तन उत्तर भी सृष्टि के आदि से बराबर दिया चला जा रहा है, और वह है—'मा गृध' लोभ मत कर, अथवा जिसे गीता मे इस प्रकार कहा गया है—'स्वल्पमस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' अर्थात् आत्म-प्रकाश की एक किरण भी हमे भयानक रात्रि के भय से बचा सकती है। परन्तु जब मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की वाणी को सुनना नही चाहते, तब क्या किया जा सकता है ? यदि तुब वास्तव मे मुक्त होना चाहते हो तो और कोई वाणी तुम्हारा पथ-प्रदर्शन नही कर सकती। 'नान्य पन्था विद्यते अयनाय।"

"सामानता के बारे मे आपकी क्या धारणा है ?"

"एक बडा सुन्दर आदर्श है। लेकिन जब इसके मसीहा उच्च स्वर से यह घोषणा करते है कि क्रूर असहिष्णुता व घृणा द्वारा ही साम्यवाद का आदर्श स्थापित किया जा सकता है, और वही प्रेम का मार्ग है—तब इसके प्रति मन मे उतनी आस्था नही रहती।"

"परन्तु फिर इस रोग की औषधि क्या है ? आप जान सके है ?"

"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, हाँ। और वह यह है कि वैयक्तिक रूप से एकाकी सत्य पथ का अनुसरण करते चले जाओ। यदि अन्य मनुष्य आकर तुम्हारा साथ देते है तो अच्छा है, परन्तु यदि कोई तुम्हारा साथ नही देता, तो अकेले ही सत्य-रूपी तीर्थयात्रा के पथ पर बढे चलो।"

"आप इसके लिए सगठन नही करेंगे ?"

"नही।" कवि ने आग्रहपूर्वक कहा—"अमेरिका मे भी वहाँ के निवासियो ने मुझसे यही प्रश्न किया था। मैंने उत्तर दिया था कि सगठन के नारे मे मेरी आस्था नही है। आल्ड्स हक्सले ने ठीक ही कहा है कि मिथ्या के कानून द्वारा सत्य की प्रतिष्ठा नही हो सकती। और यदि तुम दलबन्दी व व्यूह-रचना करते हो तो किसी-न-किसी रूप मे तुम्हे मिथ्या को प्रश्रय देना ही होगा, जिसका परिणाम प्रहार व प्रतिप्रहार के अतिरिक्त अन्य कुछ न होगा। सक्षेप मे दलबन्दी के संगठन के पीछे जो शक्ति है, वही सदिग्ध व मिथ्या है, क्या तुम खोखली भूमि पर किसी दृढ इमारत का निर्माण कर सकते हो ?"

"नही।" कवि ने अपने स्वर की तीव्रता को कायम रखते हुए कहा—"कम-से-कम मैं मिथ्या के साथ किसी प्रकार के भी गठबन्धन के विरुद्ध हूँ। लोभ के पाश से अपने-आपको मुक्त करने का मैंने दृढसकल्प किया है, और जब मैं उससे मुक्त हो जाऊँगा, तो स्वत ही भय से भी मेरी मुक्ति हो जाएगी। मैं प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर लूँगा, परन्तु दूसरो की हिंसा न करूँगा, और मिथ्या के साथ सभी घनिष्ठता स्थापित न करूँगा। यदि ऐसा करने के कारण मुझे अकेला

भी रहना पडे, तो मैं उस एकान्तवास को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लूंगा। परन्तु किसी भी सुविधा या सहूलियत के बहाने से उस मिथ्या के साथ गठबन्धन न करूँगा, जो प्रत्येक दलगत सस्था की जड मे, चाहे उस सस्था का नाम कितना ही मनोहारी व आकर्षक क्यो न हो, विद्यमान रहती है।

"और युगयुगान्तर से इसी पथ द्वारा, इस विश्व मे उच्चतम सत्य का प्रसार होता आया है। वे उच्च आत्माएँ, जिन्होने सत्य के स्रोत के उद्गम स्थान को पा लिया है, पर्वत-शिखर के समान व आलोक-स्तम्भ के सदृश एकाकी खडी होकर अपने सविकल्प-अविकल्प अनुभवो की घोषणा करती आयी है। उनमे से प्रत्येक यह कहती है—'तुम सुनो या न सुनो, परन्तु जो सत्य मैने पाया है वह शाश्वत सत्य है—वह सत्य है जिसका न कोई आदि है, न कोई अन्त है—और जिसका मूलमत्र प्रेम है।' ऐसे ही व्यक्तियो के जादू-भरे शब्दो ने प्रत्येक युग मे हजारो प्राणियो को मोह-निद्रा से जगाया है, और उनमे जागृति पैदा की है। परन्तु इसके बाद ज्यो ही उनके अनुयायियो ने सम्प्रदायो व सस्थाओ के रूप मे अपना सगठन किया, वे उस रक्षक सत्य को खो बैठे और पुन पथ-भ्रष्ट हो गए। इसी प्रकार, देखो, आजकल भी विश्व के प्राय समस्त देशो मे कुछ व्यक्ति प्रकाश के केन्द्र-स्वरूप बनकर साहसपूर्वक यह घोषणा कर रहे है कि वे एकाकी होते हुए भी किसी से भय नही करते। तुम उन्हे घृणा की दृष्टि से देख सकते हो, उन्हे मार सकते हो, परन्तु वे कभी घूँसे का उत्तर लात से नही देगे। कारण, वे अपने हृदयतल मे आसीन अन्तरात्मा की वाणी का अखण्ड निष्ठा के साथ अनुसरण करते है।"

उनके उपर्युक्त कथन को सुनकर मुझे कवि का ही एक गीत याद हो आया—

तम दिखावे प्रलय का भय, किन्तु छोडूंगा नही पथ,
गरजते हो मेघ घर्घर पर न हूंगा भीत किंचित्।
जब कभी मेरा हृदय, अवसाद से आवृत हुआ है,
विजय-दुन्दुभिनाद तेरा देव! श्रुतिगोचर हुआ है।

—वागीश्वर विद्यालंकार द्वारा अनूदित

वह, जो स्वर्ग यहाँ लायेगा,
पार्थिव तनु उसे धरना होगा।
भूत-प्रकृति का भार वहन कर,
कटक पथ पर चलना होगा।

एवविध त्वा सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
पे ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ।।

—श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धे (१८-२८)

अर्थ—वे व्यक्ति जो गुरुरूपी सूर्य का पूजन करते है, उसके आशीर्वाद से ज्ञान-चक्षु की प्राप्ति कर लेते है। और वे समस्त लोको मे अपनी आत्मा का और तुझ मे समस्त लोको का दर्शन करते हुए ससार रूपी माया के समुद्र को तैर जाते है।

यदि हमे वस्तुएँ अदिव्य दिखाई देती है, यदि हम इस या उस घटना को दिव्य सत्ता की प्रकृति से असम्बद्ध कहकर बिना सोचे-समझे उसकी निन्दा करते है, तो इसका कारण यह है कि हम ससार मे ईश्वरीय भाव और प्रयोजन से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। चूँकि हम केवल कुछ अवयवो और अशो को ही देखते है, इसलिए उन्हे ही समूचा मानकर उनका निर्णय करते है। वाह्य घटनाओ के विषय मे भी हम उनका गुप्त रहस्य जाने बिना ऐसा ही करते है।· लेकिन साथ ही पाप और अपूर्णता की हमारी वर्तमान अनुभूति, उनके विरुद्ध हमारी चेतना का विद्रोह भी एक आवश्यक मूल्याकन है, क्योकि यदि हमे पहले उनका मुकावला करना है, और उन्हे सहना है, तो हमारे लिए अन्तिम आदेश है कि हम उन्हे विनष्ट कर दे, उन पर विजय प्राप्त करें और जीवन व प्रकृति को रूपान्तरित कर दे · किन्तु यदि हमारी व्यक्तिगत मुक्ति भी पूर्ण हो जाती है, तो अभी दूसरो के कष्ट है, विश्व-वेदना है, जिनके प्रति कोई भी महान् आत्मा उदासीन नही रह सकती, सब प्राणियो के साथ हमारी एक एकता है, जिसे हमारे अन्त स्थित कोई वस्तु अनुभव करती है, और इसलिए दूसरो की मुक्ति भी अपनी मुक्ति के लिए अभिलषित व

अनिवार्य अनुभव की जानी चाहिए।

शीघ्रातिशीघ्र उन स्वर्गो को लौट जाना जहाँ पूर्ण प्रकाश और आनन्द सदा वास करते है, अथवा अतिसर्गीय परमानन्द मे पुन:निवृत्ति ही सृष्टि-चक्र का लक्ष्य नही है और न ही ज्ञान को खोजते हुए परन्तु कभी भी उसे पूर्णतया प्राप्त न करते हुए अज्ञान की असन्तोषजनक लीक मे चक्कर काटना ही उसका लक्ष्य है—उस दशा मे अज्ञान या तो सर्वज्ञ सत्ता की एक अव्याख्यातव्य भयकर भूल है, अथवा समान रूप से अव्याख्यातव्य एक कष्टदायक व निष्प्रयोजन आवश्यकता है—आत्मा के आनन्द को अतिसर्गीय अवस्थाओ के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओ मे भी अनुभव करना, सर्गीय अवस्था मे अनुभव करना, और आत्मिक खोज के आनन्द की ओर सघर्ष करते हुए, उन विरोधो मे भी, जो शरीरधारी भौतिक सत्ता के लिए अनिवार्य है, आनन्द और प्रकाश के मार्ग को पाना ही, युग-श्रृ खला मे मानव जाति के परिश्रम व मानव-शरीर मे आत्मा के जन्म का वास्तविक लक्ष्य प्रतीत होता है। अज्ञान एक आवश्यक, यद्यपि बिलकुल गौण शर्त है, जो सार्वभौम ज्ञान ने अपने ऊपर आरोपित की है, ताकि गति सभव हो सके—यह उसकी भयकर भूल व पतन नही—वरन् एक सप्रयोजन अवतरण है, एक अभिशाप नही वरन् एक दिव्य अवसर है। ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक जगत मे उत्पन्न आत्मा को अपनी विविधता से तीव्रतम सक्षिप्त रूप मे सर्वानन्द सत्ता की उपलब्धि व अभिव्यक्ति और उस अनन्त सत्ता की सभावना की प्राप्ति जो अन्य अवस्थाओ मे सम्भव नही है, तथा भौतिक तत्व से दिव्यता के मदिर का निर्माण, यह कार्य सौपा गया है।

'दिव्य जीवन'—श्री अरविन्द

यह पूछा जा सकता है, 'इसका क्या उपयोग है ? क्यो न इसका (रहस्यवाद का) अन्त हो जाना चाहिए ? इसके जीवित रहने से क्या लाभ है ?' इन प्रश्नो का उत्तर यही है कि जहाँ 'स्वप्न-दर्शन' नही है वहाँ लोग नष्ट हो जाते है, और यदि वे व्यक्ति जो पृथ्वी के आधार-स्तम्भ है, अपना स्वाभाविक गुण छोड देते है, तो इस पृथ्वी को नीरोग व स्वस्थ रखने के लिए अन्य कोई वस्तु शेष नही रह जाती, कोई वस्तु इसे सम्पूर्ण विनाश से नही रोक सकती। रहस्यवादी योगी वह माध्यम है, जिनके द्वारा अज्ञान और माया से पूर्ण हमारे मानवीय जगत् मे वास्तविक सत्ता का थोडा-सा ज्ञान छनकर आ जाता है। एक पूर्णतया अरहस्यवादी व अनाध्यात्मिक ससार सर्वथा अधा और पागल है।

—आल्डुस हक्सले

यदि वह (आदर्शवादी) सर्वोच्च के अतिरिक्त किसी भी अन्य आदर्श की सेवा करता है—चाहे वह कलाकार का सौन्दर्य का आदर्श हो, या वैज्ञानिक का

सत्य का आदर्श हो, या वह मानव हितवादिता का आदर्श हो, जिसे कि आजकल की भाषा मे अच्छाई का आदर्श कहते है—तो वह ईश्वर की उपासना नही कर रहा है, वह अपने ही एक वर्धित अश की उपासना कर रहा है। वह पूर्णतया भक्त हो सकता है, परन्तु अन्तिम सूक्ष्म विश्लेषण से यह पता लगता है कि उसकी भक्ति अपने व्यक्तित्व के ही एक पहलू की ओर निर्दिष्ट रहती है। उसकी दृश्य नि स्वार्थता वस्तुत उसकी अहकार से मुक्ति नही है, वरन् दासता का ही दूसरा रूप है। इसका यह अर्थ है कि जब वैज्ञानिक मुक्तिदाता के रूप मे प्रकट होता है, तो विज्ञान उस वैज्ञानिक के लिए भी हानिकारक सिद्ध हो सकता है। और यही बात कला, विद्वत्ता और मानव हितवाद के बारे मे भी ठीक इसी प्रकार लागू होती है।

—आल्ड्स हक्सले

नमस्कार

अरविन्द, रवोन्द्रेर लहो नमस्कार!
हे बन्धु, हे देशबन्धु, स्वदेश आत्मार
वाणी-मूर्ति तुमि। तोमा लागि लहे मान,
नहे धन, नहे सुख, कोनो क्षुद्र दान
चाहो नाइ, कोनो क्षुद्र कृपा, भिक्षा लागि
बाडाओनि आतुर अजलि। आछो जागि
परिपूर्णतार तरे सर्व बाधाहीन,
जार लागि नर-देव चिर रात्रि दिन
तपोमग्न, जार लागि कवि वज्ररवे
गेयेछेन महागीत, महावीर सबे
गियेछेन, सकटयात्राय, जार काछे
आराम लज्जित शिर नत करियाछे,
मृत्यु भूलियाछे भय, सेई विधातार
श्रेष्ठदान-आपनार पूर्ण अधिकार—
चेयेछो देशेर हे ये अकुठ आशाय,
सत्येर गौरव दृप्त प्रदीप्त भाषाय,
अखड विश्वासे। तोमार प्रार्थना आजि
विधाता के सुनेछेन? तार उठे वाजि
जयशखतार? तोमार दक्षिण करे
ताइ कि दिलेन आज कठोर आदरे
दुखेर दारुण दीप, आलोक जाहार

ज्वलियाछे, बिद्ध करि देशेरे आधार
ध्रुवतारकार मत ? जय, तव जय !
के आदि फेलिबे अश्रु, के करिबे भय
सत्येरे करिबे सर्व कोन् कापुरुष
निजेरे करिते रक्षा ! कोन् अमानुष
तोमार वेदना हे ते ना पाइबे बल !
मोछ् रे, दुर्बल चक्षु मोछ् अश्रुजल
देवतार दीप हस्ते जे आसिल भवे,
सेइ रुद्रदूते, बलो, कौन राजा कबे
पारे शास्ति दिते ! बन्धन शृंखल तार
चरण वन्दना करि करे नमस्कार—

कारागार करे अभ्यर्थना। रुष्ट राहु
विधातार सूर्यपाने बाडाइया बाहु
आपनि विलुप्त हय मुहूर्त्तेक परे
छायार मतन ! शास्ति ! शास्ति तारि तरे,
जे पारे ना शास्तिमये हइते बाहिर
लघिया निजेर गडा मिथ्यार प्राचीर,
कपट वेष्टन,—जे नपुस कोनो दिन
चाहिया धर्मेर पाने निर्भीक स्वाधीन
अन्यायेरे बलेनि अन्याय, आपनार
मनुष्यत्व, विधिदत्त नित्य अधिकार,
जे निर्लज्ज भये लोभे करे अस्वीकार
सभामाझे, दुर्गतिर करे अहंकार,
देशेर दुर्दशा ले ये जार व्यवसाय,
अन्नजार अकल्याण, मातृरक्त प्राय,
सेइ भीरु नतशिर चिरशास्ति भारे
राजकारा बाहिरेते नित्य-कारागारे।

वन्धन पीडन दुख असम्मान माझे
हेरिया तोमार बन्धनहीन आनन्देर गान,
महातीर्थयात्रीर संगीत, चिरप्राण
आशार उल्लास गभीर निर्भय वाणी
उदार मृत्युर ! भारतेर वीणापाणि
हे कवि ! तोमार मुखे राखि दृष्टि तार

तारे तारे दियेछेन विपुल झंकार,—
नाहि ताहे दु खतान, नाहि क्षुद्र लाज,
नाहि दैन्य, नाहि त्रास । ताइ सुनि आज
कोथा हे ते झञ्झासाथे सिन्धुर गर्जन,
अधवेगे निर्झरेर उन्मत्त नर्त्तन
पाषाणपिजर टूटि,—वज्रगर्जरव
भेर-मन्द्रे मेघपुज जागाय भैरव।
ऐ उदात्त सगीतेर तरग माझार
अरविन्द, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार

तार परे तारे नमि, जिनि क्रीडाच्छले
गडेन नूतन सृष्टि प्रलय-अनले
मृत्यु हे ते देन प्राण, विपदेर बूके
सपदेरे करने लालन, हासिमुखे
भक्तेरे पाठाये देन कटक-कातारे
रिक्त हस्ते शत्रुमाझे रात्रि-अधकारे।
जिनि नाना कठे कन नाना इतिहासे,
सकल महत् कर्मे, परम प्रयासे,
सकल चरम लाभे—'दु ख किछु नय,
क्षत मिथ्या, क्षति मिथ्या, मिथ्या सर्व भय,
कोथा मिथ्या राजा, कोथा राजदण्ड तार,
कोथा मृत्यु, अन्यायेर कोथा अत्याचार।
ओरे भीरु, ओरे मूढ, तोलो तोलो शिर
आमि आछि, तुमि आछो, सत्य आछे स्थिर ।'

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

अन्तर्भेदी दृष्टि द्वारा प्रविष्ट हो जाता है मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे मित्र मे पश्यन्ती बुद्धि' अर्थात् साक्षात्कार करनेवाली बुद्धि पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। यह बहुत सम्भव है कि वह विचार व चिन्तन से आगे बढकर अनुभव के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गया हो, परन्तु ससार मे ऐसे भी बहुत से मनुष्य देखने मे आते ह, जिनके पास अनुभव का पर्याप्त कोष होने पर भी इस सीमा तक अपने विचार-चक्षु को निर्मल व शुद्ध रखने की क्षमता नही होती उसकी प्रकृति मे सत्य-दर्शन की क्षमता पूर्णत विद्यमान होनी चाहिए।"

उनकी इस दिव्य दृष्टि ने ही आत्मा से सम्बन्धित वस्तुओ के बारे मे उन वुद्धिकौशल प्रदर्शक तार्किक विवादो की निरर्थकता को उनके सम्मुख शीघ्र ही प्रकट कर दिया, जिनके बारे मे उन्होने एक बार यह उपमा दी थी कि "वे एक चित्रित अग्निशिखा के समान उज्ज्वल प्रतीत होने पर भी वह उष्णता प्रदान नही कर सकते, जिसके लिए हमे अग्नि की आवश्यकता होती है।" और इसीलिए कुछ वर्ष वाद ही उन्होने प्रोफेसरी से त्यागपत्र देकर हिमालय के एक आश्रम मे गुरु के चरणो मे शरण ली, जहाँ गुरु ने उन्हे 'कृष्णप्रेम' के नाम से विभूषित किया।

इस प्रकार पूर्व के आस्तिक ज्ञान मे एक पाश्चात्य तत्त्वद्रष्टा द्वारा मुझे दीक्षा प्राप्त हुई। इससे मेरा पौरस्त्य अभिमान काफी कुठित हुआ, क्योकि मुझे एक वार स्पष्ट हो गया कि आत्मा जन्म, देश व जातिगत किसी विशेष अधिकार की अपेक्षा नही करती। इसकी पुकार सवके लिए एकसमान है, अर्थात् जो कोई भी प्रकाश, प्रेम व सौन्दर्य की वशी को सुनना चाहते है, उन सबके लिए उसका एक समान निमन्त्रण है। यही शिक्षा धीरे-धीरे मुझे श्री अरविन्द द्वारा भी प्राप्त हुई। पर एक साधारण व्यक्ति इस तथ्य को जल्दी से अनुभव नही करता (जो उन्होने मुझे अपने एक वाद के पत्र मे लिखा था)—

"दिव्यशक्ति पथ-प्रदर्शन कर सकती है, यह जबरदस्ती हाँककर नही ले जाती। मनुष्य नामधारी प्रत्येक मानसिक प्राणी को एक आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, जिससे कि वह दिव्य शक्ति के पथ-प्रदर्शन को स्वीकार या इनकार कर सकता है।"

"जो सुनने के लिए कान रखता है उसे सुनने दो।"

अस्तु! गीता पर उनके प्रवन्धो का अध्ययन करने के बाद मैंने उनके 'मानवीय एकता का आदर्श', 'योग-समन्वय', 'भावी काव्य', 'सामाजिक उन्नति का मनोविज्ञान' आदि अनेक प्रवन्ध पढ डाले। और धीरे-धीरे मैंने यह अनुभव किया कि मेरे व मेरे मित्रो के वीच की खाई अकस्मात विस्तृत हो गई है, जैसा कि यौगिक पथ पर चलने वालो मे से वहुतो के साथ, चाहे वे केवल पुस्तक-ज्ञान से

ही प्रेरित होकर इस पथ का अनुसरण क्यो न कर रहे हो, प्राय. देखने मे आता है।

इस एकान्तवास से मेरे मन मे उत्पन्न होने वाला मन्द प्रकाश धीरे-धीरे एकाकीपन के विषादान्धकार के रूप मे परिणत होने लगा। कृष्णप्रेम के साथ मेरी घनिष्ठता के अनन्तर जो आत्मा की झलक मुझे दिखाई दी थी, मैं स्थायी रूप से किसी तरह उसकी शरण मे जाने के लिए व्याकुल रहने लगा। इसलिए मैंने बड़ी उत्सुकता के साथ, न केवल अपनी आध्यात्मिक खोज के बारे मे ही, अपितु विवाह आदि सासारिक विषयो पर भी श्री अरविंद का परामर्श माँगा। उन्होने अपने एक शिष्य द्वारा मुझे तत्काल उत्तर दिया, जिसका कुछ अश मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"तुम्हारे व्यक्तिगत मामले मे कोई भी निर्णय तुम्हारे आदर्श के ऊपर निर्भर करता है। यदि जनसाधारण की तरह तुम्हारा लक्ष्य प्राणिक व शारीरिक भोगो का साधारण जीवन व्यतीत करना है, तब तुम जहाँ चाहो अपना जीवन-साथी चुन सकते हो। परन्तु यदि तुम्हारा ध्येय कला, सगीत व देशसेवा के समान कोई ऊँचा आदर्श है, तब तुम्हे अपने जीवन-साथी का चुनाव केवल इच्छा के आधार पर न करके किसी ऊँचे आधार पर करना चाहिए, और तुम्हारी सहचरी मे तुम्हारी आध्यात्मिक रुचि के प्रति अनुकूलता का होना आवश्यक है। और यदि तुम्हारा लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन है, तब तुम्हे विवाह-बन्धन मे बँधने से पूर्व सैकडो वार विचार करने की आवश्यकता है । यहाँ तुम्हे सामान्य सिद्धान्तो का ही निर्देश किया है। इसकी जटिलता से तुम स्वत कल्पना कर सकते हो कि इस वारे मे तुम्हे कोई सीधा व सक्षिप्त उत्तर देना कठिन है। इस सामग्री के आधार पर तुम अपने लिए स्वत मार्ग का निर्णय कर सकते हो।"

इस समय योग के बारे मे मेरे मन मे जिज्ञासा अभी अकुरित ही हुई थी। मुझे प्रकाश की उत्कट अभिलाषा थी—विशेपत उनके योग के बारे मे। मैं उन दिनो भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे अपने सगीत की पृथक प्रणालियो के बारे मे सामग्री एकत्र करने के लिए भ्रमण कर रहा था। यद्यपि इस कार्य मे मै रुचि व रस का अनुभव करता था—परन्तु फिर भी किन्ही कारणो से मेरा मन इसमे पूर्णरूप से लीन नही था। इसलिए श्री अरविन्द के साक्षात्कार के लिए मेरी उत्सुकता दिन-प्रतिदिन वढने लगी। उस समय योग के विचार ने मुझे अपनी तरफ आकृष्ट किया हुआ था, परन्तु साथ ही मेरी मनमानी कल्पना ने योग का जो स्वरूप मेरे मन मे चित्रित किया था, उससे मैं भयभीत-सा भी था। इसका एक कारण यह भी था कि मैं स्वभावत सामाजिक प्रकृति का व्यक्ति था, जिसकी चेतना ने भ्रमण, सगीत, हास-परिहास व दृढ आशावाद की सुनहरी भूमि मे मजवूत जडे जमा रखी थी, जो कि श्री अरविंद के शब्दो मे सासारिक क्रियाशीलता के प्राणिक

अहकार मिश्रित जीवन को पुष्ट करते है। जो भी हो, इसका प्रतिवाद नही किया जा सकता कि मेरा बाह्य आचरण वास्तविक योग-साधन के जीवन से, जिसमे एक लक्ष्य मे अपनी सब भावनाओ को केन्द्रित करना पडता है, व बिना शर्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता होती है, सर्वथा विपरीत था। इसमे कोई विस्मयजनक वात नही कि इस विचार ने, कि योग के भक्त-साधको के भाग्य मे न जाने कौन से अत्यन्त कृच्छ्र तप, शरीर को सुखा देने वाले कठोर नियम और विषादजनक एकान्त जीवन लिखे है, और उनका पालन मेरे लिए जीवन को हास्यास्पद और निरर्थक बना देने के अतिरिक्त और कोई अर्थ नही रखता, मुझे योग से भयभीत-सा वना दिया था।

तथापि श्री अरविंद के हमारे जगत् के विश्लेषण और आध्यात्मिक दृष्टि से उनके विकास सम्वन्धी विचार से मै इतना आकृष्ट हो चुका था कि मेरी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि मैं किसी प्रकार भी उनके पूर्ण योग की साधना कर सकूं। विशेपत अभिमानी तर्क को उसका उचित स्थान दिखलाने का उनका प्रयत्न मुझे अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुआ, क्योकि मैं विज्ञान के इस शुष्क विचार से सर्वथा असन्तुष्ट था कि जीवन एक आकस्मिक वस्तु है, और तार्किक मन के विद्वत्तापूर्ण अज्ञान के प्रति, जो किसी भी निर्दिष्ट लक्ष्य पर नही पहुँचा सकता, मेरी आशकाएँ दिन-प्रतिदिन बढती जाती थी। इसलिए श्री अरविंद के 'सामाजिक प्रगति का मनोविज्ञान' शीर्षांकित प्रवन्ध को पढकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ, जिसमे उन्होने लिखा था—

"समाज मे ग्राध्यात्मिक आदर्श मनुष्य को मन, प्राण व शरीर के रूप मे नही देखेगा, अपितु एक आत्मा के रूप मे देखेगा, जो पृथ्वी पर अपनी दिव्य पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है, न कि केवल उन दूरस्थ स्वर्गो मे, जिन्हे छोडने की उसे कोई आवश्यकता ही न होती, यदि उसे भौतिक, प्राणिक व मानसिक प्रकृति के जगत् मे कोई दिव्य कार्य न होता।"

और साथ ही—"तर्क की सीमाएँ उस समय अत्यन्त उग्र व स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होने लगती है, जव उन मानसिक सत्यो व अनुभवो के महान् क्षेत्र से—तथा मनुष्य की धार्मिक सत्ता व धार्मिक जीवन से, जिन्हे अब तक हमने पृष्ठभूमि मे ही रखा है, उसका साम्मुख्य होता है। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसकी तरफ वौद्धिक तर्क एक ऐसे अजनवी के समान जिसे किसी भाषा-विशेष के शब्दो व अर्थो का कोई ज्ञान नही है, आश्चर्यचकित चक्षुओ से देखता है। वह इस भापा को सीखने व इस अपरिचित व विचित्र-जीवन को समझने का कष्टसाध्य प्रयत्न कर सकता है, पर तव तक सफलता प्राप्त नही कर सकता, जव तक वह अपने ज्ञान को भुलाकर, इस स्वर्गीय राज्य के निवासियो के साथ आत्मा व स्वभाव मे एक नही हो जाता। तव तक उनको समझने व अपने विचारो के अनुसार अपनी भापा

मे उनकी व्याख्या करने के उसके सारे प्रयत्नो का बुरे-से-बुरा व भयकर परिणाम व गलतफहमी व विकृति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। उसके यह प्रयत्न एक धार्मिक अनुभूति के व्यक्ति की दृष्टि मे, अपने से बडो का अनुकरण करने की चेष्टा करनेवाले बालक के अर्थशून्य प्रलाप के समान, अथवा किसी उत्कृष्ट वैज्ञानिक व तत्त्ववेत्ता के दार्शनिक विचारो के पक्ष या विपक्ष मे अधिकारपूर्वक बोलने की मूर्खता करनेवाले अज्ञानी मनुष्य की निरर्थक कल्पना के समान प्रतीत होते है। वे जिस वस्तु का विवेचन व व्याख्या करने की चेष्टा करते है, अधिक-से-अधिक उसके बाह्य स्वरूप का ही विवेचन कर पाते है, उसकी आत्मा को वे पकड नही पाते, आन्तरिक तल अछूता ही रह जाता है, और इसलिए बाह्य स्वरूप की व्याख्या भी वास्तविक सत्य से शून्य होती है, व केवल दिखावटी यथार्थता का रूप लिये रहती है।"

और इसके बाद उनकी 'दिव्य जीवन' नामक महान् पुस्तक मे मैंने पढा कि "यद्यपि यह कल्पना सम्भव है कि भौतिक जगत् के तथ्य उस शक्ति के स्वरूप व क्रिया-प्रणाली पर जो कि इस जगत् मे कार्य कर रही है, कुछ प्रकाश डाल सकते है, तथापि यह पूर्ण प्रकाश नही हो सकता, क्योकि भौतिक विज्ञान अभी अपने अन्वेषण क्षेत्र मे ही सर्वथा अपूर्ण है और इस शक्ति की रहस्यपूर्ण गतिविधि से एकदम अनभिज्ञ है।"

इस प्रकार की उनकी आलोचनाओ और सबसे बढकर उनके आख्यानो मे निहित एक प्रकार के प्रभावशाली आकर्षण ने परोक्ष रूप से मुझे उनके विस्मयजनक प्रभाव के तेजपुज की तरफ यहाँ तक खीच लिया कि अन्त मे मैंने व्यक्तिगत रूप से उनसे साक्षात्कार करने का निश्चय कर लिया। मैं रहस्य के हृदय तक पहुँचना चाहता था। इसने मुझे आमन्त्रित किया, परन्तु साथ ही मेरे मन मे नाना प्रकार की विचित्र आशकाएँ भी उत्पन्न कर दी, यद्यपि श्री अरविन्द ने कहा था कि मनुष्य को आज 'अपने-आपको दमन करना व अपना अगभग करना नही सीखना है, अपितु मनुष्य जाति की पूर्णता मे अपनी पूर्णता प्राप्त करना सीखना है। इसी प्रकार उसे अपनी अह भावना का अगभग व विनाश न करके, उसके विस्तार द्वारा उसे बधनो से मुक्त करके अपने से किसी महत्तर वस्तु में, जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करती है, विलीन कर देने की आवश्यकता है।" ऐसे द्रष्टा से भयभीत होने का मुझे क्या कारण था। उनके इस प्रकार के सुन्दर व सान्त्वनापूर्ण प्रवचनो के होते हुए वे किस प्रकार मुझे एकान्तवासी विरागी बना सकते थे।

इसलिए मैंने पत्र द्वारा उनसे दर्शनो की आज्ञा माँगी। उन्होने स्वीकृति दे दी और मैं तत्काल पाडिचेरी के लिए चल पडा।

१९२४ मे प्रथम बार मुझे उनके दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ।

२४ जनवरी को उनसे लम्बी बातचीत करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। अगले दिन भी कुछ समय के लिए वार्त्तालाप का मौका मिला। मैंने उसका एक विस्तृत विवरण लिपिबद्ध कर लिया और बाद में संशोधन के लिए उनके पास भेज दिया। उन्होंने साररूप से प्राय उसी रूप में स्वीकार कर लिया। केवल किसी-किसी स्थान पर मामूली-सा संशोधन किया परन्तु क्योंकि इन दोनों मुलाकातों का विवरण उसी समय प्रकाशित न हो सका था और मुझे १६२८ के बाद जबकि मैं उनके आश्रम में स्थिर रूप से शिष्यभाव से निवास करने के लिए आ गया था उनके अन्य अनेक पत्र, जो उनके योग पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, प्राप्त हुए, मैंने यह आवश्यक समझा है कि मैं उन पत्रो में से जो मेरी बार-बार दुरूह आशंकाओ के उत्तर में उन्होंने मुझे लिखे थे, कहीं-कहीं कोई आवश्यक उद्धरण भी दे दूं। इस प्रकार इस उपाय से मेरे प्रश्नों के उनके द्वारा दिये गये उत्तरो के मेरे विवरण में स्वभावत. जो अपूर्णता रह जाने की संभावना है, उसकी कमी किसी सीमा तक पूरी हो जाएगी। इन बाद में जोड़ी गई व्याख्यात्मक टिप्पणियो को, जो या तो उनके कथन के साथ जोड़ी गयी हैं अथवा मेरे मौलिक विवरण के स्थान पर लिखी गयी हैं, मैंने दुहरे कोष्ठोको में दिया है' (( )) ।

प्रात. आठ बजे के लगभग समय था। श्री अरविन्द उन दिनो आश्रम के मुख्य द्वार पर अवस्थित मकान में रहते थे। वे सामने के बरामदे में एक कुर्सी पर विराजमान थे। प्रणाम करके मैं भी उनके सामने एक कुर्सी पर बैठ गया। बीच में एक आयताकार मेज थी।

उनके चारो तरफ का वायुमण्डल ही एक 'चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व' की सुगन्ध से परिपूर्ण था। एक अनिर्वचनीय, परन्तु वास्तविक स्पष्ट शान्ति उनके मुखमण्डल पर विराज रही थी, जो किसी भी द्रष्टा को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। उनके नेत्र प्रकाश-स्तम्भ के समान प्रज्वलित हो रहे थे, जिन्होंने मुझे एकदम मुग्ध कर लिया। उनका धड़ नग्न था सिर्फ एक उत्तरीय गले में डाला हुआ था।

'भारत का महानतम जीवित योगी!'' विचार मात्र से ही मेरे हृदय की धड़कन एकदम तेज हो गयी। अब तक मैंने बहुत थोड़े साधु व सन्यासियो के दर्शन किये थे परन्तु यह एक सच्चे योगी थे, जिन्होंने अनेक वर्षों तक एकान्तवास किया था, परन्तु फिर भी मेरी चेष्टाओ में कुछ दिलचस्पी लेते थे।'

---

१ कुछ वर्षों के बाद मुझे मालूम हुआ कि उनकी यह दिलचस्पी एक क्षणिक दिलचस्पी न थी। उन्होंने तब मेरी इस मुलाकात के बारे में कुछ बातें लिखी थी (सारा उद्धरण मैं यहां नहीं दे सकता, क्योंकि वह बहुत-कुछ

वे कुछ देर मेरी ओर शान्त व तीव्र स्थिर दृष्टि से देखते रहे। कितने प्रकार के भावो की लहरे मेरे मन मे खेलने लगी, इसे वतलाना मेरे लिए सभव नही—केवल इतना ही कह सकता हूँ कि आज तक वैसी तीक्ष्ण दृष्टि मैंने कभी नही देखी थी। जो हो, कुछ देर बाद अपनी सारी शक्ति लगाकर अपने को सँभालते हुए अस्फुट शब्दो मे मैंने कहा—"मैं आया हूँ यह जानने के लिए कि क्या मैं आपके योग मे किसी तरह दीक्षा पा सकता हूँ ?"

श्री अरविन्द शान्त स्वर मे बोले—"मुझे पहले साफ-साफ यह वतलाओ कि वास्तव मे तुम चाहते क्या हो ? और क्यो मेरे योग की दीक्षा चाहते हो ?"

क्या चाहता हूँ ? अथवा क्यो चाहता हूँ ? मैं भला खुद ही इस वात को क्या समझता था जो साफ-साफ वतलाता ? तितर-वितर उलझे हुए विचारो को किसी प्रकार संभालते हुए वोला—"अच्छा, आप मेरी सहायता कर सकते है या नही—जीवन का लक्ष्य क्या है, इसे केवल जानने मे ही नही वल्कि पाने मे भी ?"

"इस प्रश्न का उत्तर देना सहज नही है," उन्होने मीठे स्वर मे कहा—"मैं ऐसी किसी चीज को नही जानता, जो सव लोगो के जीवन के लक्ष्य-रूप मे समान रूप से स्वीकृत हो सके। जीवन के लक्ष्य अनेक है, और विचित्र है, और ऐसा होना अनिवार्य है। योग-मार्ग मे आने वाले भी अनेक प्रकार के लक्ष्य सामने रख-कर योग करने आते है। कोई तो योग करना चाहता है इस जीवन से मुक्ति पाने

व्यक्तिगत है) —

"जवसे मेरी तुमसे मुलाकात हुई है, तभी से, व उससे पहले से भी मैं तुम्हारे साथ अपना दृढ व स्थायी वैयक्तिक सम्वन्ध अनुभव करता हूँ तुमसे प्रथम भेट होने से पूर्व से ही मैं तुम्हारे वारे मे जानता था, और मैंने एकदम तुम्हारे साथ उस सम्वन्ध का अनुभव कर लिया था, जो कभी विच्छिन्न होने वाला नही है और मैं तुम्हारी जीवन-घटनाओ को अत्यन्त सहानुभूति व दिलचस्पी के साथ देखता रहा हूँ। यह एक ऐसा भाव है जिसके वारे मे कभी भूल नही हो सकती यह वही आन्तरिक परिचय था जो तुम्हे यहाँ खीच लाया था।"

उनके एक शिष्य ने कई वर्ष वाद मुझे वताया था कि उन्होने पहले ही अपने शिष्यो से यह कह दिया था कि मेरा यहाँ आना अवश्यभावी है। उन्होने अपने एक पत्र मे भी, जो 'अनामी' मे प्रकाशित हो चुका है, लिखा है :—

"तुम्हारे भाग्य मे योगी होना लिखा है, और जितनी जल्दी तुम्हारा प्राणिक पुरुष इस भाग्य-लेख के साथ अपना समन्वय पैदा कर ले, उतना ही उसके लिए और तुम्हारे लिए अन्दर निहित अन्य सव व्यक्तित्वो के लिए भी यह हितकर है।"

के लिए—जैसे मायावादी लोग। उनका कहना है कि यह इन्द्रियों का जगत् माया है, जो परम लक्ष्य को ढक देता है। इसलिए वे जीवन से ही मुक्ति पाना चाहते हैं। कोई-कोई योग करना चाहते हैं—उत्कृष्टतम प्रेम व मित्रता की आकांक्षा से. कोई चाहता है आनन्द, कोई चाहता है दिव्य शक्ति कोई चाहता है ज्ञान व जीवन में समतावस्था की प्राप्ति। इसलिए तुम्हें पहले अपने मन में विश्वास करके यह बतलाना होगा कि तुम किस उद्देश्य से योग करना चाहते हो।"

मैंने कुछ घबड़ाये हुए-से स्वर में कहा—'मैं जानना चाहता हूँ कि जीवन की—संसार की—अर्थात् नाना प्रकार की असंगति और स्वतः विरोध की—दुःख-दैन्य व आधि-व्याधि की कोई मीमांसा योग में मिलती है या नहीं।"

'तब दूसरी भाषा में तुम ज्ञानप्रज्ञा चाहते हो?"

'हाँ पर नहीं—केवल ज्ञान ही नहीं—आनन्द भी मैं चाहता हूँ।

"ज्ञान और आनन्द, दोनों ही तुम योग में निश्चय पा सकते हो।"

इस उत्तर से उत्साहित होकर मैं फिर बोला—"तब क्या मैं आपसे दीक्षा पाने की आशा कर सकता हूँ?"

श्री अरविन्द उसी तरह शान्त स्वर में बोले—"हाँ, यदि योग की शर्तें तुम्हें स्वीकार हों और तुम्हारी योग-तृष्णा प्रबल हो।"

'योग की शर्तें क्या हैं? क्या आप जरा समझाकर कहने की कृपा करेंगे? और योग तृष्णा का ही ठीक मतलब क्या है?"

वह उत्तर देने ही जा रहे थे कि मैं पहले ही बोल उठा—'अपनी यौगिक साधन' पुस्तक में आपने अपने-आपको तान्त्रिक कहा है, अर्थात् आप मायावादी वेदांती नहीं हैं अपितु लीलावादी साधक हैं। अपने 'दिव्य-जीवन' ग्रंथ में भी आपने लिखा है कि जीवन में भगवान् को अभिव्यक्त करना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। अभिव्यक्त जगत् के अन्दर विद्यमान एकत्व को प्रस्थापित करते हुए भी व्यक्त लीला की बहुमुखिता को हमें स्वीकार करना होगा।'

'यह बात ठीक है कि मैं लीलावादी हूँ। परन्तु यह प्रश्न ही क्यों?"

"मुझे बस यही पूछना है कि आपके 'यौगिक साधन' का योग करने पर कहीं जीवन से पेन्शन लेकर, सभी ऐहिक कर्मों को तिलांजलि देकर, गुहावासी तपस्वी की तरह तो नहीं बनना पड़ेगा? आप कहते हैं कि आप मायावादी नहीं हैं। इसीसे थोड़ी आशा होती है।

श्री अरविन्द जरा मुस्कराते हुए बोले—'अवश्य ही, हाँ, मैं मायावादी नहीं हूँ। परन्तु 'यौगिक साधन' पुस्तक का लेखक मैं नहीं हूँ।'

"तब।

स्वत लेखन किसे कहते हैं यह जानते हो?'

"प्लैनचेट?

"ठीक प्लैनचेट नही। मैं केवल कलम पकडकर बैठ जाता, मेरे हाथ और कलम से कोई अदृश्य शक्ति जो चाहती लिख जाती।"

"क्या मै पूछ सकता हूँ कि आप इस तरह के लेख क्यो लिखा करते थे?"

(("उस समय मैं यह निर्णय करना चाहता था कि इस प्रकार की घटनाओ मे कितना सत्य है और अन्तर्लीन चेतना से कितने आन्तर सुझाव आते है।"))

"परन्तु इस बात को अभी रहने दो," उन्होंने कहा—"तुम्हारे असली प्रश्न पर आये। पार्थिव स्तर के जिन सब कर्मो का मूल्य तुम्हारी दृष्टि मे है, उन सबको छोडना ही होगा, ऐसी कोई बात नही है। पर उस स्तर की सब चीजो की आसक्ति से तुम्हे अवश्य ही मुक्त होना होगा—फिर चाहे तुम कर्मचक्र के भीतर रहो या बाहर। कारण, यदि तुम उस आसक्ति को पोसे रखोगे तो ऊपर का प्रकाश अव्याहत रूप से तुम्हारी प्रकृति का रूपान्तर नही कर सकेगा।"

"तो क्या इसका यह अर्थ है कि मुझे सब मानवीय सहानुभूति (दर्द) मित्रता या स्नेह-प्रेम के आनन्द को भी छोडना होगा?'

"ऐसी कोई बात नही। स्नेह, सहानुभूति या मित्रता से दूर रहे विना भगवान् के सान्निध्य और उनके साथ ऐक्य-बोध के फलस्वरूप साधक को जो दिव्य चेतना प्राप्त होती है उसका एक आनुषागिक फल अन्य सब लोगो के समीप आना और उनके साथ एकता का बोध होना है। मायावादियो के योग तथा सन्यास-योग का चरम लक्ष्य है मिथ्या व स्नेह के सभी सम्बन्धो का परिहार—इस विश्व के जीवो और अन्य सभी चीजो की आसक्ति से मुक्ति, जिसका नाम है मोक्ष, यद्यपि उस योग मे भी अन्तिम अवस्था मे निर्वाण से ठीक पहले जीवो के प्रति एक करुणा या अनुकम्पा का भाव जागता है, जैसे बौद्ध-साधना मे। किन्तु दूसरो के साथ ऐक्य-बोध, या दूसरो के प्रति होने वाले स्नेह-प्रेम का विश्वजनीन आनन्द—यह जीवन्मुक्ति और सर्वांगीण परिणति के पूर्व की बात है, और यही मुक्ति और परिणति पूर्णयोग का लक्ष्य है।"[1]

1 १९३४ मे श्री अरविन्द ने मुझे लिखा—"मित्रता या स्नेह योग से बहिष्कृत नही है—मानवीय मित्रता व स्नेह अधिकतर जिस असुरक्षित नीव पर प्रतिष्ठित है, हम उन्हे केवल उससे अधिक सुनिश्चित आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहते है। हम मित्रता, भ्रातृत्व व प्रेम को पवित्र वस्तु मानते है, और इसीलिए यह परिवर्तन चाहते है, क्योकि हम उन्हे अहं बुद्धि की चेष्टाओ द्वारा प्रतिक्षण खडित और वासना, ईर्ष्या तथा विश्वासघात आदि प्राणिक विकारो द्वारा प्रतिक्षण मन्द, विकृत और विनष्ट होने देना नही चाहते—उन्हे वास्तव मे पवित्र और सुरक्षित रखने के लिए ही हम यह चाहते है कि अध्यात्म पर प्रतिष्ठित आत्मा मे उनका मूल हो। हमारा योग सन्यास-योग नही है—उसका लक्ष्य शुद्धता है, शुष्क कठोर तप नही।"

मैंने साहसपूर्वक कहा—'मैं भी कुछ अपनी बात कहना चाहता हूँ, जरा कृपा करके सुनिये। मेरी कठिनाई यह है कि मुझे जीवन सदा से ही अत्यन्त प्रिय है। किन्तु बचपन में तेरह वर्ष की अवस्था में मैं श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव मे आ गया था, जिसके फलस्वरूप मन मे यह दृढ निश्चय पैदा हो गया कि 'ईश्वर-दर्शन ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।' परन्तु विलायत जाने पर उस देश की चमक-दमक मे आँखे चौंधिया गयी। मैं पूरी तरह प्रकृति व जीवन की भौतिक उपासना मे लीन हो गया। परन्तु फिर धीरे-धीरे वही बचपन का स्वर बज उठा, और मेरा प्राणिक उत्साह सूर्यास्त मे पहले ही विलीन हो गया। ऐसा मालूम होने लगा कि यह सब-कुछ नही, यह सब-कुछ नही,—यश, मान, धन, जन, नाम, ग्राम, कला यहाँ तक कि जन-सेवा व देश-सेवा तक मे भी कुछ नही। भगवान को पाने पर ही इन सबका भी कुछ अर्थ है, अन्यथा सब-कुछ व्यर्थ है, छाया मात्र है। यही एक-मात्र सत्य वस्तु है।

"देश वापस आने पर अगणित बन्धु-बान्धव मिल गये। पैतृक सम्पत्ति, सगीत-प्रेम, सामाजिक भावना व सबसे बढकर विदेशी सभ्यता को विदेशी भाषा मे—लच्छेदार भाषा मे कहने की योग्यता से प्राप्त होने वाला सन्मान आदि सब बातो ने मिलकर मित्र-मण्डली को जुटाने मे कोई कमी न रहने दी। किन्तु आश्चर्य कि भगवान् के लिए व आध्यात्मिकता के विषय मे अपने भारतीय मित्रो मे से किसी को भी मैंने कोई रस लेते नही देखा। अपनी जान-पहचान के व्यक्तियो मे भगवान् को पाने की इच्छा रखते देखा केवल एक अग्रेज मित्र रोनाल्ड निक्सन को, जो लखनऊ विश्वविद्यालय मे उपाध्याय थे। उन्होने ही मुझसे सबसे पहले कहा कि आप एक बडे योगी है, और उन्ही की प्रेरणा से मैंने आपकी पुस्तकें पढी। उनसे मिलने के बाद से ही मेरे अन्दर प्रसुप्त आध्यात्मिक जीवन की तृष्णा पुन. द्विगुणित वेग से जागृत हो गयी, और ऐसा अनुभव होने लगा कि बिना उस आन्तरिक सामजस्य के, जो केवल आत्मा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, मुझे शान्ति प्राप्त नही हो सकती। दूसरे शब्दो मे, मैं योग की दीक्षा लेना चाहता हूँ। परन्तु मुझे अपनी सामर्थ्य पर भरोसा नही है और ऐसा भान होता है कि बिना किसी गुरु से दीक्षा लिये मेरा उद्धार सभव नही है। और वह गुरु मैं आपको ही मानता हूँ, यद्यपि मुझे यह मालूम नही कि आप मुझे दीक्षा देना स्वीकार भी करेंगे या नही। यही मेरी वर्तमान स्थिति है। परन्तु परेशानी यह है कि दूसरी ओर जीवन भी मुझे अपनी ओर खीचता है, जैसाकि सामाजिक आदान-प्रदान, स्नेह, प्रेम, मित्रता आदि के सम्बन्ध मे मेरे प्रश्नो द्वारा आप स्वय अनुमान कर सकते है। मेरे दिल मे बार-बार यह प्रश्न उठता है कि क्या योग करने के लिए मुझे इन सबको छोडना होगा? मुश्किल यही है कि इन सबसे मन भी नही भरता, इसलिए इन सबको छोडने की बात सोचते ही मन मे दुःख भी होता है। ऐसा क्यो होता है, कुछ समझ

मे नही आता।"

श्री अरविन्द ने खूब मनोयोगपूर्वक मेरी बातो को सुना। सुनते-सुनते उनके ओठो पर एक मीठी मुस्कान दौड गयी—किन्तु करुणा से भरी। कुछ देर अपलक दृष्टि से मेरी ओर देखते रहने के वाद धीर-स्थिर स्वर मे बोले—'सुनो, ((सामाजिक आदान-प्रदान,मित्रता, स्नेह, प्रेम, दर्द (सहानुभूति), इन सवका मुख्य आधार है प्राण—और इन सवका केन्द्र है हमारी अह बुद्धि। साधारणतया मनुष्य एक-दूसरे को प्यार करता है, क्योंकि वह यह समझता है कि दूसरे भी मुझे प्यार करते है, और इसमे सुख है। दूसरो के साथ मिलने-जुलने से उसका अह फूल उठता है और उससे मन प्रसन्न होता है—प्राणशक्ति के लेन-देन से हमारे व्यक्तित्व को खुराक मिलती है, वह उत्फुल्ल हो उठता है। इसके अतिरिक्त कुछ दूसरे भी स्वार्थ-सकीर्ण उद्देश्य मिले रहते है। अवश्य ही उच्चतर आध्यात्मिक, आन्तर, मानसिक और प्राणिक उपादान भी रहते है, किन्तु श्रेष्ठ नमूने के भीतर भी पाँच चीजे मिली ही रहती है। इसी कारण वहुत बार ऐसा देखा जाता है कि किसी को कारणवश या अकारण ही ससार, जीवन, समाज, प्रिय-परिजन, लोक-हितैषणा—ये सब रसहीन प्रतीत होने लगते है, एक प्रकार की अतृप्ति को जगा देते है। याद रखो, लोक-हितैषणा के अन्दर भी अह बुद्धि खूब जमकर बैठी रह जाती है।"))

(('कभी-कभी,' श्री अरविन्द ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा—"इस वितृष्णा के मूल मे ऐसा कारण भी होता है, जिसे हम समझ सकते है। जैसे हो सकता है कि प्राण की किसी मूल कामना को धक्का पहुँचा हो, अथवा, हो सकता है कि किसी प्रियजन के स्नेह से वचित होना पडा हो, अथवा हो सकता है कि हठात् ऐसा दिखायी पडा हो कि जिसे हम प्यार करते थे, उसे हमने पहचाना नही था, अथवा मनुष्य को साधारण तौर से हम जैसा समझते आ रहे थे, वह एकदम वैसा नही है। और भी कई तरह के करण हो सकते है। किन्तु अधिकाश क्षेत्रो मे तभी वितृष्णा आती है जव हमारी आन्तर चेतना को एक प्रकार की चोट पहुँचती है, क्योकि उसे यह आभास मिलता है—यद्यपि बहुत बार सभवत अस्पष्ट रूप मे ही—कि इन सबसे उसने कुछ ऐसी आशा की थी जिसे वे पूरा नही कर सकते। फलस्वरूप कोई-कोई तो वैराग्य की ओर झुकते है, और कठोर उदासीनता द्वारा मोक्ष को अपना लक्ष्य वनाते है। परन्तु हम अपने पूर्णयोग मे यह कहते है कि इस मिलावट से दूर रहना ही होगा, और चेतना को किसी शुद्धतर स्तर मे प्रतिष्ठित करना होगा।"))

कुछ देर मौन रहने के बाद उन्होने फिर कहना प्रारम्भ किया—"स्नेह, प्रेम, सहानुभृति, सखाभाव व ऐक्य-बोध आदि के विशुद्ध आनन्द का परिचय भी हमे तव तक नही मिल सकता, क्योकि उसके लिए उनका आधार आध्यात्मिक व पवित्र होना आवश्यक है। इसके लिए हमारी मानवीय प्रकृति मे एक मौलिक परिवर्तन

की आवश्यकता है। जब हमारे अन्दर का आध्यात्मिक अह हमारी प्रवृत्तियो का नेतृत्व ग्रहण कर लेता है तभी इसकी बाह्य लीला व आत्माभिव्यक्ति का रूप भी परिवर्तित हो सकता है। जव यह आन्तर आत्मा हमारे अन्दर प्रतिष्ठित हो जाती, तव वह इन सवके अन्दर निजी ढग से आत्मोपलब्धि को प्रकट करती है। मेरे योग का सक्षेप मे यही पूर्ण सन्देश है।"[1]

अन्त मे उन्होने कहा—"अन्तत यही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिए। यदि तुम योग का अभ्यास करना चाहते हो तो तुम्हे यह जानकर कि किसी भी ऐसी चीज से बँध जाने से काम नही चल सकता, जो भगवान् की तरफ ले जाने मे वाधक हो, इस आदर्श को तुम्हे अपने सामने रखना होगा। कोई भी आसक्ति व सासारिक वन्धन, चाहे वह कितना ही मोहक व आकर्षक क्यो न हो, भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे वाधक न वनना चाहिए।"

---

१. श्री अरविन्द ने अन्त पुरुष (Psychic) के कार्यो की व्याख्या करते हुए वाद मे मुझे लिखा था—"अन्त पुरुष वह आत्मा है वह दिव्य ज्योति है, जो प्रकृति, जीवन व मन को अनुप्राणित करती है, और जब वह वढती है तो वह आकृति धारण करती है और अपने स्वरूप को इन्ही के द्वारा अभिव्यक्त करती है, व इन्हे सुषमा प्रदान करती है। यह मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व भी निम्न श्रेणियो के प्राणियोमे कार्य करती है, उन्हे मनुष्यत्व की तरफ ले जाती है, मनुष्य जाति मे यद्यपि इसे अज्ञान, दुर्बलता, रुक्षता व कठोरता के बोझ के नीचे कार्य करना पडता है, तथापि यह अधिक स्वतन्त्रता से कार्य करती है, और उसे भगवान् की तरफ ले जाती है। योग द्वारा यह अपने उद्देश्य से अभिज्ञ हो जाती है, और भगवान् की ओर अन्तर्मुख है। यह अपने पीछे व ऊपर भी देखती है—यही अन्तर है—स्नेह, प्रेम, दया यह सव आन्तर भाव है। प्राण मे उनका आविर्भाव इसीलिए होता है, क्योकि अन्त.पुरुष अपने-आपको सुगमता से अभिव्यक्त करता है, हृदय के केन्द्र मे यह ठीक इसके पीछे अवस्थित है। परन्तु यह इन्हे पवित्र बनाना चाहता है। यह प्राणिक व शारीरिक द्वारा वाह्य अभिव्यक्ति का निपेध नही करता, परन्तु क्योकि 'अन्त पुरुष' आत्मा का प्रतिनिधि है, इसलिए स्वभावत आत्माके प्रति आत्मा का आकर्षण अनुभव करता है। आत्मा का आत्मा से सान्निध्य, आत्मा का आत्मा से मिलन, इसके लिए चिरस्थायी व ध्रुव पदार्थ हैं। मन, प्राण और शरीर अभिव्यक्ति के साधन हैं, और अत्यन्त मूल्यवान् साधन है, परन्तु इसके लिए आन्तरिक जीवन ही सवसे मुख्य वस्तु है, व ध्रुव सत्य है, और इसकी अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति के साधन तथा प्रणाली को इसके नियन्त्रण व अधीनतामे, और उससे मर्यादित होकर ही कार्य करना चाहिए।"

"परन्तु क्या ऐसा कर सकना मेरे लिए सभव है ?"

"ऐसा करना आरम्भ मे ही सभव नही। यदि ऐसा होता तब तो मै यह कहता कि तुम अभी मुक्त पुरुष बन गये हो। एक ही दिन मे मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि यदि तुम योग-साधन करना चाहते हो, तुम्हे इस अन्तर्मुक्ति के आदर्श को सर्वदा अपनी आँखो के सामने रखना होगा, अर्थात् यदि तुमसे किसी ऐसी वस्तु को छोडने को कहा जाय, जो इस मार्ग मे बाधक हो, तो उसके लिए तुम्हे तैयार रहना होगा।"

"क्या छोडने के लिए कहना ही होगा ? प्रत्येक वस्तु को ?"

"बाहर मे सभवत बहुत-सी चीजे न भी छोडनी पडे—किन्तु उससे विशेष कुछ नही आता-जाता—कारण, भीतर मे तुम्हे पूरी मात्रा मे निर्लिप्त रहना होगा। अन्तर मे यदि तुम आसक्तिशून्य बन सको, तो बाहर मे जो कुछ बन्धन दिखलायी देते है उन्हे छोडे बिना भी काम चल सकता है। किन्तु जो कुछ विघ्न बनकर सामने खडा हो जाता है, उसे विदा करने के लिए तुम्हे प्रस्तुत रहना ही होगा—अवश्य ही यदि वैसी आवश्यकता प्रतीत हो। वास्तव मे योग की यह एक प्रधान शर्त है।"

मैंने कहा—"क्या सूक्ष्मतर स्तर की चीजो के विषय मे भी यह बात लागू होती है—जैसे मान लीजिए, सगीत। सगीत मुझे अत्यन्त प्रिय है उसे भी क्या छोडना ही होगा ?"

श्री अरविन्द मुस्कराये—"छोडना ही होगा, ऐसी बात तो मैने नही कही है। किन्तु यदि योग तुम्हारे जीवन की सबसे बडी चीज होती तो क्या तुम यह सोचते ही कि उसकेलिएसगीत भी छोडना पड सकता है, इतने उद्विग्नहो सकते ?"

मैं थोडा अप्रतिभ हो गया और अपना सिर झुका लिया। उसके बाद कुण्ठित स्वर मे बोला—"आप यह न समझे, मैं सगीत छोडने मे असमर्थ हूँ। किन्तु बात केवल यही है कि इस बात को कैसे समझूँ कि सगीत छोडने की क्षति योग द्वारा पूरी हो ही जाएगी ? मेरी समस्या सीधी-सादी है, सीधे तौर पर ऐसा कह सकते है कि एक बडी चीज के लिए किसी छोटी चीज को छोडना मुझे कठिन नही मालूम होता, यदि उस बडी चीज का कुछ पूर्व-स्वाद मुझे मिल जाए। किन्तु यौगिक आनन्द के विषय में मुझे जब कोई स्पष्ट धारणा ही नही है, तब अध्रुव वस्तु के लिए ध्रुव वस्तु को पहले से ही छोड देना होगा—यही एक खटकने वाली बात है। सीमा की माया काटने से पहले असीमा का अन्तत कुछ तो स्वाद मिलना ही चाहिए—यह क्या एकदम असगत व युक्ति-विरुद्ध बात है ?"

श्री अरविन्द ने कहा—'मैंने तुमसे कहा है कि सगीत या इसी तरह की ध्रुव वस्तु को छोडना ही होगा—ऐसा कोई अटल नियम नही है। आवश्यक बात बस यही है कि यदि जरूरत होतो जो चेष्टाये, विचार, आदते व मोह व सस्कार आदि

वस्तुएँ तुम्हारे योग के प्रतिकूल होगी, उन्हे विदा करने से तुम इनकार नही करोगे।"

"किन्तु यह योग वदले मे देगा क्या ? यह यदि छोडने से पहले ही प्रश्न करूँ तो ? मन को यदि शका या कौतूहल हो, वह यदि इसे जानना चाहे तो ? यह भी क्या निपिद्ध है ?"

"निषिद्ध तो नही है, परन्तु योग बौद्धिक मूल्याकन या स्वीकृति का विषय नही है। यह वास्तव मे आत्मसमर्पण द्वारा अनुभूति का विषय है। क्षति-पूर्ति की वात तुमने कही थी न ? सो क्षतिपूर्ति भी अवश्य होती है और वह स्थायी व गभीर होती है। परन्तु तुम अपनी मानसिक अदालत के सन्मुख उसे अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए उपस्थित नही कर सकते। और सच पूछो तो तुम्हारी कठिनाई वास्तव मे वह नही है जो तुम कल्पना कर रहे हो—अर्थात् उनका आधार मानसिक नही है। सच बात तो यह है कि जब तक निम्न स्तर के आनन्द तुम्हे ध्रुव सत्य प्रतीत होते है, व तुम्हे प्रलुब्ध करते है, तब तक तुम्हे उनके त्याग के विरुद्ध कोई-कोई प्रस्तुत तर्क मिलता ही रहेगा, और तुम उनको छोड न सकोगे। इन सव वासनाओ को तुम तभी छोड सकते हो,जब किसी उच्चतर स्तर के आनन्द की पुकार तुम्हे अपनी ओर खीचेगी और निम्नस्तर के आनन्दो मे एक प्रकार की अतृप्ति व खोखलेपन का अनुभव होने लगेगा। जहाँ पर पार्थिव सुख का अन्त होता है, वही पर पारमार्थिक आशा का प्रारम्भ होता है।"

जरा देर चुप रहने के वाद मैने पूछा—"किन्तु यह क्या कारण है कि जब तक पार्थिव वासना वनी रहती है, तव तक पारमार्थिक आनन्द का स्वाद भी क्यो नही मिलता ? क्या हमारी सासारिक वासनाये दीवार बनकर हमे वहाँ पहुँचने से रोकती है ?"

श्री अरविन्द ने कहा—"यह वात सत्य नही कि एकदम स्वाद मिलता ही नही, जीवन के खूब सुख के क्षण मे भी अतृप्ति व वितृष्णा के छिद्रो व दरारो मे से होकर न मालूम कितनी ही वार ऊपर के प्रकाश की झलक व पुकार आती है। परन्तु आधार तैयार न होने के कारण वह पुकार विलीन हो जाती है, वह प्रकाश अधिक समय तक नही ठहर पाता और फिर अधकार छा जाता है। जब तक आतरिक पवित्रता द्वारा उपयुक्त आधार न तैयार कर लिया जाए, तब तक यह प्रकाश स्थायी नही रह सकता। इसीलिए योग हमे आत्मशुद्धि द्वारा उस ऊँचाई पर ठेल देता है, जहाँ यह प्रकाश मेघो से आच्छन्न नही हो सकता। वात यह है कि वासना जो हमे पीछे की ओर खीचती है, उसके उस खिचाव को न काट सकने पर वह एक जजीर बन जाती है, जो हमे निम्नतर जगत् की बहुत-सी चीजो से बाँधे रखती है। परन्तु योग का राज्य भौतिक बुद्धि या कला के राज्य से भी बहुत अधिक ऊपर होने के कारण इन सब स्तरो के आनन्दो की कामना भी अन्ततोगत्वा योग-

मार्ग मे बाधा बनती।"

"यदि यही बात है तो फिर आप नाना प्रकार से भौतिक विज्ञान, बुद्धि व कला के आनन्द की प्रशसा ही क्यो करते है ? और आपके अपने ही लेख बौद्धिक दृष्टि से इतने प्रकाशपूर्ण क्यो है ? आपने कला की इतनी प्रशसा क्यो की है ? और अपने 'मनुष्य की सामाजिक उन्नति का मनोविज्ञान' नामक प्रबन्ध मे आपने यह कैसे लिखा है कि 'कलाकार का उच्चतम उद्देश्य सौन्दर्य द्वारा भगवान् को प्राप्त करना है' ?"[1]

श्री अरविन्द ने उत्तर दिया—"बुद्धि या कला की प्रशसा भला क्यो न करूँ ? बुद्धि, कला, प्रकृति, विज्ञान—ये सब कुछ दूर तक तो हमे आगे ले ही जाते हैं बशर्ते हम ठीक तरह उनका प्रयोग करे। वास्तव मे यह क्रमिक विकास की बात है। इसीलिए मैंने एक बार लिखा था—(तब) युक्ति-तर्क सहायक था, (अब) युक्ति बाधक है, जिसका यही अर्थ है कि हमारे विकास मे बुद्धि एक सीमा तक मदद करती है, पथ दिखाती है। परन्तु जब वह अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर निर्णायक बनकर दखल देना चाहती है तब उसको अपने उचित स्थान मे रखना आवश्यक है। फिर इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पात्र होते है, जो विभिन्न प्रकार की साधनाओ के अधिकारी होते हैं, और प्रत्येक पात्र अपने निजी स्वभाव के अनुसार

१ यह अच्छा है कि हम पहले उस बुद्धिवादी भौतिकवाद की जिसमे से मानवता गुजर रही है, अत्यधिक और अनिवार्य अल्पकाल स्थायी उपयोगिता को स्वीकार करे। क्योकि प्रमाण और अनुभव का वह विस्तृत क्षेत्र, जिसके द्वार हमारे लिए पुन खुल जाते है, उसमे सुरक्षा से प्रवेश तभी सभव है, जबकि बुद्धि एक तपस्वी के समान कठोर नियन्त्रण मे सधी हुई हो, अपरिपक्व मन द्वारा ग्रहण किये जाने पर वह अत्यन्त विनाशक विकृतियो व भ्रामक कल्पनाओ को जन्म देती है, और अतीत काल मे इसने सत्य के केन्द्र को वास्तव मे विकृत अन्धविश्वासो तथा अबौद्धिक मिथ्या स्थापनाओ के गन्द के ढेर से इस प्रकार ढक दिया था कि सत्य ज्ञान की ओर बढना असभव हो गया था। अत कुछ समय के लिए सत्य और उसके वेश मे असत्य को एक ही बुहारी से साफ करना आवश्यक हो गया, ताकि नये प्रस्थान तथा निश्चित प्रगति के लिए मार्ग साफ हो जाय। भौतिकवाद की इस बौद्धिक प्रवृत्ति ने मानव जाति की यह महान् सेवा की है—यदि आधुनिक भौतिकवाद की भौतिक जीवन मे केवल बुद्धिशून्य सहमति होती तो प्रगति अनन्त समय के लिए रुक जाती। किन्तु जब ज्ञान की खोज ही इसकी आत्मा है, तब वह आगे बढने से रुक नहीं सकता, जैसे ही वह इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आश्रित तर्क की सीमा तक पहुँचेगा, उसकी गति स्वय उसे और आगे भी ले जाएगी।"

—'दिव्य-जीवन'

अपनी सहज पूर्णता का पथ ढूँढता है। दूसरे शब्दो मे, हम कह सकते है कि जो लोग बुद्धि-जगत् के प्रकाशके लिए अच्छे पात्र है, वे मानसिक दृष्टि से उन लोगो से अधिक आगे बढे हुए है, जिनका बौद्धिक विकास उनसे कम है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि मानसिक व बौद्धिक जगत् की अनुभूति से उच्चतर और अनुभूति नही। निश्चय ही उससे उच्चतर अनुभूति विद्यमान है, जैसाकि हम अपनी आत्मा की उपलब्धि का द्वार खुल जाने पर अच्छी तरह अनुभव कर सकते है, जब मानसिक आनन्द हमे और अधिक तृप्ति देने मे असमर्थ सिद्ध होने लगते है और कला के आनन्द भी हमे सन्तुष्ट नही कर पाते। इस प्रकार हम बुद्धि व कला के जगत् से उच्चतर जगत् के प्रकाश का दर्शन करने लगते है। समझते हो न ?"

"अर्थात् आप यह कहना चाहते हैं कि योग हमारी चेतना को अधिकाधिक विस्तृत व गभीर बनाता है ?"

"हाँ, और मैं क्रम-विकास का यही अर्थ समझता हूँ—इसी तरह धीरे-धीरे चेतना का विकास। ((मनुष्य के विकास व मानव-चेतना के विकास की अगली अवस्था मे योगपथ के द्वारा ही ऊर्ध्वतर आलोक व शक्ति का अवतरण होता है।"))

थोडी देर बाद मैंने पुन अपनी कठिनाई रखी, "सब कुछ तो समझा, पर मेरे योग करने के बारे मे आप क्या कहते है ?"

"प्रत्येक मनुष्य ही अपनी प्रकृति के अनुसार कोई न कोई योग कर सकता है।"

"मै तो आपके आत्म-समर्पण वाले पूर्ण योग की बात कह रहा हूँ।"

"ओह," श्री अरविन्द धीमे से स्वर मे बोले, जैसे कि अपने शब्दो को तौल रहे हो, "इस विषय मे अभी मैं एकदम कुछ नही कह सकता।"

"लेकिन, क्यो ?"

"क्योकि मैं जिस योग-पथ से चल रहा हूं, उसका लक्ष्य अपनी समग्र प्रकृति को, यहाँ तक कि देह तक को रूपान्तरित करना है। यह बडा कठिन पथ है और अनेक सकटो से भरा हुआ है। ((इसीलिए मैं तब तक किसी को यह योग लेने के लिए नही कहता, जब तक कि उसकी तृष्णा इतनी प्रबल न हो जाय कि वह इसके लिए अपना सर्वस्व तक छोडने को तैयार हो जाय।)) अर्थात् मैं केवल उसी को अपने योग की दीक्षा दे सकता हूँ, जिसे इस योग के अतिरिक्त और कुछ भी करने योग्य प्रतीत न हो। तुम्हारे भीतर अभी ऐसी तृष्णा तो जगी नही है। तुम चाहते हो जीवन-समस्या का थोडा-सा समाधान। अर्थात् तुम्हारी जिज्ञासा वास्तव मे बौद्धिक जिज्ञासा है, अन्तरात्मा की नही।"

मैंने उनके उत्तर से कुछ व्यथित होकर निराशा के स्वर मे कहा—"जरा सुनिये, मुझे ऐसा मालूम देता है कि आप मेरी कठिनाई को ठीक-ठीक नही समझ

सके है। कारण, मै सच कहता हूं कि मेरा यह कौतूहल केवल मानसिक नही है ·।"

"मैंने तो 'कौतूहल' नही कहा है, मैंने कहा है 'जिज्ञासा'। इसके अतिरिक्त मैंने कही हे तुम्हारी 'वर्तमान' की बात। इसका अर्थ यह नही है कि तुम्हारे अन्दर बाद मे कभी आन्तरिक तृष्णा जग ही नही सकती।"

मैंने कहा—' किन्तु मैं अपनी कुछ और बात खुलासा कहना चाहता हूँ, कृपया सुनिये। १९१९से १९२२ तक मैं यूरोप मे था। वहाँ बहुत से मनस्वियो से जिनमे कुछ प्रख्यात दार्शनिक भी थे, मैंने भेट की, और प्राय सबसे इस महान् प्रश्न का उत्तर पूछा कि 'परम सत्य क्या है?' मेरा मन गीता की इस बात को मानने के लिए सदा तैयार रहा है कि "प्रणिपात, प्रश्न व सेवा करते हुए, सत्य का जिज्ञासु बन-कर तत्त्वदर्शी के पास जाना चाहिए।" बर्ट्रेण्ड रसेल, रोम्याँ, रोलाँ महात्मा गाधी, टैगोर, ड्रुट्रामेल तथा इनके अतिरिक्त और भी कितने ही प्रसिद्ध महापुरुषो के सस्पर्श मे मै आया हूँ, और उनके पास जाने से मुझे बहुत कुछ मिला है। और इसके लिए मैं इन सबके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूं। परन्तु जीवन की मुख्य समस्या का हल मुझे अभी तक नही सूझा है - कोई भी मुझे इसके हल का मार्ग नही दिखा सका है। जीवन के अनन्त दु ख, शोक, अविचार, विषमता, निष्ठुरता—हजारो शोकजनक दृश्य देखकर – प्रकृति के अर्थहीन अपव्यय को देखकर और सबसे बढ-कर समष्टि रूप मे मनुष्य की भलाई को छोडकर बुराई को पसन्द करना, सत्य को तिलाजलि देकर असत्य को ग्रहण करना तथा प्रकाश को छोडकर अन्धकार को अपनाना देखकर, मै बराबर ही अत्यन्त व्यथित व विक्षुब्ध होता रहा हूँ। मन मे केवल यही प्रश्न उठता है कि "क्या इन सबका कोई प्रतीकार नही है?" और यदि है तो हमे 'अमृतपुत्र' होकर भी सदियो की खोज व प्रयत्न के बाद भी वह क्यो नही मिलता? किसलिए हम स्थायी व ध्रुव सत्य को छोडकर क्षणभँगुर व नारकीय वस्तुओ के लिए चिल्ला रहे है, और परस्पर छीना-झपटी कर रहे है? इसके अतिरिक्त प्राय ही मेरे मन मे यह प्रश्न उठा करता है कि · " मै अपने भावावेश पर कुछ लज्जित होकर एकदम चुप हो गया।

"कहते जाओ, मैं मन लगाकर सुन रहा हूँ," उन्होने मृदु स्वर मे कहा।

उत्साहित होकर मैंने कहा—"जब कभी मै किसी महान् व्यक्ति के पास जाता था, तभी यह प्रश्न मन मे उठता था कि क्या इन्होने अपने-आपको चरम सत्य मे प्रतिष्ठित कर लिया है? स्थायी शान्ति प्राप्त की है? मेरे अन्त करण के अतल प्रदेश से स्पष्ट ही एक स्वर उठा करता था—नही तो। इस युग मे एकमात्र श्री रामकृष्ण परमहस के विषय मे मेरा अन्तर कहता – हाँ, उन्होने पाया था 'य लब्ध्वा पर लाभ मन्यते नाधिक तत'—उन्हे मिला था वह परम धन जिसे पाने पर और कुछ पाने को शेष नही रहता। और वही भाव उसी गहराई के साथ आज

आपको देखकर मेरे मन मे उदित हो रहा है। परन्तु मैं तो यह आत्मकहानी-सी कहे जा रहा हूँ।"

"नही, सब ठीक है, आगे कहो।"

"मेरे मन मे बराबर ही यह बात उठती कि किस तरह वह समता की अवस्था मिलती है—'यस्मिन् स्थितो न दु खेन गुरुणापि विचाल्यते।' जिसमे प्रतिष्ठित हो जाने पर जीव के सभी स्वत विरोधो के आक्रमण से, यन्त्रणा से छुटकारा मिल जाता है, आपूर्यमाण अचल प्रतिष्ठ हुआ जाता है—आनन्द मे, शाति मे। मैं आपको पहले कह चुका हूं कि सगीत मुझे बहुत प्रिय है। इससे मुझे एक प्रकार की शाति का अनुभव होता है—यद्यपि बीच-बीच मे रह-रह कर। यही कारण है कि सगीत बचपन से ही मुझे अत्यन्त प्रिय है। आयु की वृद्धि के साथ-साथ मेरा यह सगीत-प्रेम भी बढता गया, किन्तु मेरे मन मे यह बात प्राय ही शूल की तरह खटकती है, कि जब हम इस जनारण्य मे अपने चारो तरफ दु ख व कष्ट के कँटीले वन देखते है, तब भला क्या यहाँ आनन्दमय कला की शरण लेकर एक आत्मपरायण फूल का व्रत उचित है? कभी-कभी भीतर से सचमुच रुलाई निकल आती है, मन कहता है, क्या इस जगत् को बदला नही जा सकता? दु ख व सताप के नरक-कुण्ड से मुक्त होकर पवित्रतर आनन्द व शान्ति के जगत् मे पहुँचने का क्या कोई मार्ग नही है? यदि नही, तो मनुष्य के इन सब प्रयत्नो का क्या प्रयोजन है? क्या हमे अतत मायावादियो के इस निर्णय को, कि जिन परिस्थितियो मे हम उत्पन्न हुए है, उनमे हमारे लिए पूर्ण आत्मोपलब्धि के चरम आनन्द की प्राप्ति असभव है, शिरोधार्य करना होगा?" अपने भावोच्छ्वास पर कुछ लजाकर मैं एकदम चुप हो गया।

श्री अरविन्द ने मेरे ऊपर एक स्थिर दृष्टि डाली। उनके मुख पर अनिर्वचनीय करुणा की ज्योति झलक रही थी, आँखे मणि के समान शीतल आलोक विकीर्ण कर रही थी। मैंने समझा कि वे मेरे भाव को अच्छी तरह समझ गये है। क्या उन्होने स्वय ही मानवीय दु ख—यातनाओ के प्रति अपनी हृदय-वेदना का निम्नलिखित कविता मे उद्गार प्रकट नही किया—

देव परम के हे अरविन्द!

सिन्दू-विन्दु सुनील नभ मे, देव परम के हे अरविन्द,
सप्त-पुलक-रजित, वह्नि-मधुर, घनानन्द के हे अरविन्द।
चेत-चेत मानवता-हिय बिच, चमत्कार हे अग्निशिखा,
नाम रहित के राग-सुमन हे, गुह्य नाम की है कलिका।

के लिए राजी हूँ, परन्तु इसी शर्त पर कि यह मेरी देश-सेवा व काव्य-साधना मे बाधक न होगी।"

"उसके बाद ?"

"लीले सहमत हो गए, और उन्होने मुझे एक साधना बतलाई। परन्तु कुछ दिन बाद ही उन्होने मुझे केवल अपने ही आन्तरिक निर्देश के अनुसार चलने की सलाह देकर मुझसे विदा ली।

"तब से मैं इस आन्तरिक वाणी के आदेशो का ही पालन करता चला आ रहा हूँ, और इस वाणी ने ही मुझे उस वस्तु को विकसित करने की प्रेरणा दी है, जिसे मैं पूर्ण योग के नाम से पुकारता हूँ। इस नवीन यौगिक चेतना से उत्पन्न ज्ञान द्वारा मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया है। मैंने देखा कि यह मेरा केवल अज्ञान या भ्रम था, जो मैं असम्भव को यही पर व इसी क्षण मे सम्भव करके देखना चाहता था।"

"अज्ञान ?"

"हाँ, क्योकि उस समय मै इस सत्य को नही जानता था कि जगत् के मनुष्यो का उद्धार करने के लिए केवल एक मनुष्य का विश्व-समस्या के समाधान तक पहुचना यथेष्ट नही है, फिर वह मनुष्य चाहे कितना ही असाधारण क्यो न हो। केवल स्वय अपने ही अमृतलोक मे पहुँचने से काम नही चलेगा, विश्व-मानव को भी अमृतत्त्व का अधिकारी बनाना होगा। किन्तु उसके लिए काल भी अनुकूल होना चाहिए। असली समस्या यह है कि ऊपर की ज्योति के नीचे उतरने के लिए राजी होने से ही काम नही बन सकता—वह थोडी-थोडी उतर भी सकती है—परन्तु उसे तब तक सुप्रतिष्ठित नही किया जा सकता, जब तक नीचे का आधार उसे धारण न कर सके।"

इसमे मुझे 'गीता-प्रबन्ध' मे वर्णित निम्न उद्धरण स्मरण हो आया—"जब तक मनुष्य का मन शान्ति का अधिकारी न हो, तब तक उसे शान्ति उपलब्ध नही हो सकती, जब तक 'रुद्र' के ऋण की अदायगी न कर दी जाय, तब तक 'विष्णु' का राज्य स्थापित नही हो सकता—एकता व प्रेम का सन्देश देने वाले शान्तिदूत हमेशा विद्यमान रहने चाहिए, क्योकि अन्तिम मुक्ति का मार्ग उसी मे निहित है, परन्तु जब तक मनुष्य की काल-आत्मा (Time-spirit) तैयार न हो तब तक आन्तरिक व चरम सत्य बाह्य व तात्कालिक वास्तविकता के ऊपर नियत्रण नही पा सकता। ईसा व बुद्ध के समान शान्ति के अग्रदूत चले गए, परन्तु रुद्र अपनी मुट्ठी मे ससार को अब भी बाँधे हुए है।"

अपने कथन को जारी रखते हुए उन्होने कहा—"अतएव तुम जो कुछ कर सकते हो, वह बस यही है कि जो कुछ प्रकाश की उपलब्धि तुमने की है, उसका कुछ अश उस मात्रा मे लोगो को बाँट दो, जिस अनुपात मे वह ग्रहणशील है।

ध्यान रखो, अवश्य ही इसे भी आसान कार्य मत समझना। तुम स्वय पा लेने पर ही, जो कुछ तुमने पाया है, उसे दूसरो को भी बाँट सकोगे, ऐसी बात नही है। क्योकि ग्रहण करने की क्षमता एक प्रकार की शक्ति है, और देने की क्षमता एक दूसरी ही तरह की शक्ति है। बल्कि यो कह सकते हैं कि दे सकना एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है। कोई-कोई तो धारण व ग्रहण कर सकते है, किन्तु जो कुछ उन्होने पाया है, उसे वे बाँट नही सकते, क्योकि कोई तो ग्रहण करने की इच्छा करने पर भी ग्रहण नही कर सकते। सक्षेप मे उन मनुष्यो की सख्या बहुत ही कम है जो ग्रहण करने की भी क्षमता रखते है और दान करने मे भी पटु होते हैं। इसलिए तुम समझ सकते हो कि यह समस्या किसी प्रकार भी इतनी सरल नही है। आखिर तुम कर भी क्या सकते हो ? क्या सब मनुष्य परमानन्द व ज्ञान प्राप्त करना चाहते है, जो तुम उन्हे दोगे ? सबका आन्तरिक विकास या अधिकार एक-समान नही है। अतएव इस जगत् के दुर्दिन का कोई आशु समाधान व अमोघ चिकित्सा करके चमत्कार रूप से बदल देना असम्भव है। इतिहास के पन्ने-पन्ने पर इस बात का प्रमाण मिल सकता है।"

मुझे उस सदेहवादी की कहानी याद हो आई जिसने बुद्ध से कहा था कि शोकताप-विह्वल जगत् मे यदि वे निर्वाण को मनुष्य के सब दु खो की अमोघ औषधि समझते है तो वे इसी समय दिल खोलकर हरएक छोटे-बडे को समान रूप से उसका वितरण क्यो नही करते ? बुद्ध ने उसे उत्तर दिया कि वह पृथक्-पृथक् प्रत्येक के द्वार पर जाकर उनसे पूछे कि वे क्या चाहते है। सब तरफ पूछताछ करने के बाद वह लौटकर आया और कहने लगा कि मनुष्य के इच्छित पदार्थ अनेक है, कोई धन, कोई शक्ति, कोई यश, कोई सन्तान, कोई कलत्र, कोई स्वास्थ्य, कोई सौन्दर्य व कोई दीर्घायु का इच्छुक है। बुद्ध ने पूछा—"पर कोई निर्वाण भी चाहता है ?"

"कोई नही।" उसने उत्तर दिया। बुद्ध ने मुस्कराकर उत्तर दिया—"तब मैं अनिच्छुक मनुष्यो को उनकी इच्छा के विरुद्ध उपहार किस तरह वितीर्ण कर सकता हूँ ?"

कुछ देर मौन रहने के बाद मैंने कहा—"किन्तु यह जो सर्वव्यापी दु ख, शोक, भय, कष्ट—इसका क्या हल है ?"

"इस सबका कारण मनुष्य का अज्ञान ही है, परन्तु यदि मनुष्य इस अज्ञान को ही चिपटा रहना चाहता है, तो फिर तुम उसके दु ख का निवारण किस प्रकार कर सकते हो ? जब तक वे आसक्ति के अन्धकार मे रहना पसन्द करेंगे, तथा मुक्ति व ज्ञान के प्रकाश से दूर भागेंगे, तब तक वे किस प्रकार सत्य-दर्शन की आशा कर सकते है ? कर्म करने पर उसके फल से भला किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है ?"

"तब आप साधना किसलिए करते है ? अपनी मुक्ति या सिद्धि के लिए ?"

"नही, तब मुझे इतना समय न लगता। मैं किस बात की साधना कर रहा हूँ, यह कहने पर भी तुम अभी समझ न सकोगे, अथवा गलत समझ लोगे। परन्तु इतना जान रखो कि मैं ऊर्ध्वतर लोक का ऐसा प्रकाश इस जगत् मे ले आना चाहता हूँ, ऐसी कोई शक्ति यहाँ सक्रिय बनाना चाहता हूँ, जिसके फलस्वरूप मानव-प्रकृति के अन्दर एक बहुत बडा हेर-फेर व परिवर्तन होगा। ऐसी शक्ति को मैं सक्रिय बनाना चाहता हूँ, जिससे हमारी समस्त सत्ता व दैनिक जीवन मे दिव्य की सीधी अभिव्यक्ति होगी।"

"अपने लेखो मे क्या आपने इसी शक्ति को अतिमानस (Supramental) दिव्य शक्ति कहा है ?"

"हाँ, यद्यपि नाम की कोई विशेष बात नही है। असली बात तो यह है कि अनेक कारणो से अतिमानस शक्ति आज तक इस पृथ्वी पर सक्रिय रूप मे प्रकट नही हुई है।"

"क्या इस कारण कि समय अनुकूल न था ?"

"वह भी एक कारण है, किन्तु और भी बहुत से कारण है, किन्तु उन सबकी बाते कहने से फिर गलत समझने की ही सभावना है, क्योकि मै जिसे अतिमानस कहता हूँ, उसको मानसिक भाषा द्वारा नही समझा जा सकता। और इस कारण उसके विषय मे कुछ कहने से सब कुछ अस्पष्ट व रहस्यमय ही प्रतीत होगा।"

बाद मे १९३३ मे उन्होने मुझे 'अतिमानस' शक्ति की कार्य-शैली के बारे मे इस प्रकार लिखा था—"'अतिमानस' के कार्यो का मनन तो पहले से कोई अन्दाजा ही लगा सकता है, और न उन्हे व्यक्त कर सकता है। मन अज्ञान है जो सत्य की खोज करना चाहता है, परन्तु अतिमानस का लक्षण ही सत्य-चैतन्य है, सत्य जो अपने-आपको स्वय धारण किये हुए है और अपनी शक्ति द्वारा अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। अतिमानस जगत् मे अपूर्णता व विषमता का कोई अस्तित्व नही रह सकता। परन्तु इस समय हमारा जो लक्ष्य है, वह इस पृथ्वी को अतिमानस जगत् बनाना नही है, परन्तु अतिमानस को एक शक्ति और स्थायी चैतन्य के रूप मे अन्य लोगो के बीच मे लाना है—जहाँ वह कार्य करे और पूर्णता प्राप्त करे, जैसाकि मन ने जीवन और प्रकृति मे अवतरित होकर, यहाँ एक शक्ति के रूप मे कार्य किया है, और उसके द्वारा उनके बीच मे अपनी पूर्णता प्राप्त की है। वर्तमान जगत् व प्रकृति को उसके बन्धनो से मुक्त कराके बदल लेने के लिए यह पर्याप्त होगा। परन्तु क्या, कैसे और किस सीमा तक वह यह कार्य करेगा, यह एक ऐसी बात है, जिसके बारे मे अभी कुछ कहना ठीक नही—जब प्रकाश विद्यमान होगा, वह अपना कार्य स्वत ही करेगा—जब अतिमानस सकल्प की इस पृथ्वी पर प्रतिष्ठा हो जाएगी, तब वह सकल्प स्वत ही इसका निर्णय करेगा।"

"परन्तु कम-से-कम यह तो बतलाइए कि प्राचीन युग के योगी भी क्या इस अतिमानस शक्ति के बारे मे जानते थे ?"

"कोई-कोई जानते थे। परन्तु किस तरह तुम्हे समझाऊँ ? वे लोग वैयक्तिक रूप से उस शक्ति के राज्य मे जाकर स्वय उससे युक्त होते थे, परन्तु वे उसे हमारे पार्थिव चैतन्य पर कार्य करने के लिए नीचे नही लाये। सम्भवत उन्होने इस बात की कभी चेष्टा भी नही की कि वह शक्ति हमारी चेतना की अगागी होकर यहाँ रहे। परन्तु इन सब बातो के विषय मे मैं और अधिक कुछ नही कहूँगा, क्योकि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मन द्वारा इन सब तत्त्वो का समझ पाना तो बहुत दूर की बात है, आभास पाना भी सभव नही।"

"परन्तु विश्व की दशा क्या दिन-प्रतिदिन बिगडती नही जा रही है ! मैं इस विषय मे थोडा तर्कवादी व यथार्थवादी हूँ—आशा है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करेगे।"

श्री अरविंद जरा हँसे, फिर बोले—"हाँ, करूँगा, क्योकि मैंने स्वय भी जगत् की शोचनीय अवस्था की बात बहुत बार कही है। केवल इतना ही नही, मैं यह भी जानता हूँ कि अवस्था और भी खराब होगी।[1] बहुत से बडे-बडे गुह्य विद्या-विशारद योगियो का यह कथन है कि जगत् की अवस्था जितनी ही अधिक खराब होगी, उतना ही अधिक ऊपर से इस प्राकट्य या अवतरण का मुहूर्त्त भी समीप आवेगा। परन्तु हमारा लौकिक मन इन सब बातो को किस तरह जान सकता है ? वह या तो विश्वास करेगा या अविश्वास—प्रतीक्षा करेगा और देखेगा कि कुछ होता है या नही।"

इससे मुझे गीता के निम्न श्लोक का स्मरण हो आया —

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्
> परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्,
> धर्म सस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥

अर्थात् इस ससार मे जब आध्यात्मिक मूल्यो का ह्रास होता है, और अधर्म का अन्धकार प्रबल हो जाता है, तब तब भगवान् प्रकाश का राज्य स्थापित करने

---

१ ऋतेन ऋतमपिहित ध्रुव वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान् ।
दश शता सह तस्थुस्तदेक देवाना श्रेष्ठ वपुषामपश्यम् ॥

—ऋग्वेद

एक परम तत्त्व है, सत्य से आवृत एक सत्य है, जहाँ पर कि सूर्य अपने घोडो को छोडता है। उसकी हजारो किरणे एकत्रित होकर 'वह एक' हो जाता है। मैंने देवताओ का वह सबसे गौरवशाली रूप देखा।

के लिए अवतार धारण करते है।

"परन्तु इस शक्ति का कार्य होगा किसके ऊपर ?" मैने पूछा।

"हमारे दैनंदिन जीवन पर—भौतिक जगत् मे व जड तत्त्व के ऊपर।"

"क्या प्राचीन योगियो ने यह प्रयास कभी नही किया ?"

"अतिमानस शक्ति की सहायता से कभी नही किया। उन्होने आधारभूत जडतत्त्व के विषय मे कभी बहुत अधिक माथापच्ची नही की, क्योकि अध्यात्म-शक्ति के द्वारा देह और जडतत्त्व का रूपान्तर साधित करना सबसे अधिक कठिन कार्य है। परन्तु ठीक इसीलिए इस कार्य को हमे करना होगा।"

"भगवान् क्या वास्तव मे यह चाहते है कि ऐसी कोई बडी चीज घटित हो ?'

"अवश्य ही चाहते है, ऐसा मेरा विश्वास है। (यह भी मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि अतिमानस एक सत्य वस्तु है और उसका आविर्भाव भी यथा-समय अवश्य ही होगा। बस प्रश्न केवल यह है कि कब होगा और किस तरह होगा। वह भी भगवान् ने ठीक कर रखा है, और हम लोग यहाँ नीचे उसके लिए हजारो विरोधी शक्तियो के घोर सघर्ष के बीच युद्ध कर रहे है।"))

"ठीक समझ नही सका—क्षमा करे।"

श्री अरविन्द ने कहा—' मैं जानता हूँ, यह बात कुछ कठिन है। सुनो, बात यह है कि((इस पार्थिव जगत् मे जो कुछ होने वाला होता है,वह बहुत बार प्रच्छन्न रहता है। और हम जो कुछ देखते है, वह केवल हजारो प्रकार की सभावनाओ व शक्तियो का चक्र मात्र होता है। हम देखते है, कि नाना प्रकार की शक्तियाँ कुछ करने या पाने के लिए चेप्टा कर रही है, परन्तु मनुष्य की दृप्टि इस बात को नही देख पाती कि उन सबका लक्ष्य या अन्तिम परिणति क्या है। फिर भी इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि इस युग मे बहुत से ऐमे असाधारण मनुष्य उत्पन्न हुए है, जिन्हे इस युग मे ही अभीष्ट सिद्धि के लिए विशेष रूप से भेजा गया है। वस यही स्थिति है। मेरा विश्वास और मेरी इच्छा यह कहती है कि इसी युग मे यह अघटन घटित होगा। अवश्य ही यहाँ मैं मानव-बुद्धि की परिभाषा मे ही वात कर रहा हूँ।")

"थोडा और अधिक स्पष्ट व्याख्या करने की कृपा करे।"

"इससे और अधिक कहने का अर्थ होगा सीमा से बाहर चले जाना।"

"किन्तु यह चमत्कार या अघटित कब घटित होगा ?"

"तुम मुझसे भविप्यवाणी कराना चाहते हो ? तुम्हारे जैसे तर्कवादी को यह वात शोभा नही देती।"

मैने अपनी वात का रुख वदलने हुए कहा—"आपने अपनी 'योग-समन्वय' नामक पुस्तक मेलिखा है कि "चूंकि भौतिक जगत् आध्यात्मिकता के पथ मे वाधा स्वरूप है इसीलिए हमे उससे विमुख नही हो जाना चाहिए।"

((उद्धरण इस प्रकार है :—"भौतिक तत्व आध्यात्मिक तत्व के मार्ग मे बाधक है यह कोई ऐसी युक्ति नही है जिससे भौतिक तत्त्व को रद्द किया जा सके, कारण, अदृश्य नियति के विधान से हमारी सबसे बडी बाधायें ही सबसे बडा सुयोग बना जाती है। एक महान् कठिनाई, इस बात की सूचना है कि प्रकृति हमे एक महान् विजय की प्राप्ति तथा अन्तिम समस्या के समाधान की ओर आह्वान करती है, यह हमे एक अनिर्वचनीय माया के फन्दे से बच निकलने के लिए और एक अजेय शत्रु की पकड से भाग निकलने का मार्ग ढूंढने के लिए एक चेतावनी नही है।"))

वह कुछ न कहकर केवल थोडा-सा हँसकर रह गये।

मैंने कहा—"किन्तु भौतिक चेतना का जो आप यह आमूल रूपान्तर साधित करना चाहते है, यह प्रयास क्या इससे पहले किसी ने किसी युग मे नही किया था ?"

"हो सकता है कि किसी ने चेष्टा की हो, परन्तु भौतिक स्तर पर निश्चित रूप से कुछ नही हुआ।"

"आपने कैसे जाना ?"

"अगर हुआ होता, तो जो साधक बाद मे हुए है, उन्होने उस साधना का कुछ-न-कुछ फल अवश्य पाया होता। कोई आध्यात्मिक उपलब्धि जो एक बार मानव चेतना मे पूरी पूरी उतर आती है, वह बाद मे पूर्णरूप से कभी नष्ट नही होती ?"

"तब तो इस शक्ति को पहले स्वय आपको ही उपलब्ध करना होगा ?"

"हाँ, सो तो करना ही होगा, चाहे उसे नयी उपलब्धि कहो, चाहे नया प्रकाश कहो, चाहे नया भाव कहो, वह प्रथमत एक मनुष्य के ही अन्दर अवतीर्ण होगा। जहाँ से यह नित्य विस्तृत होते हुए दायरो मे औरो तक फैल जायेगा। क्या गीता मे नही कहा है कि श्रेष्ठ पुरुषो के आचरण जनसाधारण के लिए आदर्श उपस्थित करते है ?—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन । स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥' अर्थात् श्रेष्ठ लोग जो करते है, कनिष्ठजन उसी का पदानुसरण करते है। किन्तु हमारे पूर्ण योग मे व्यक्तिगत उपलब्धि से हमारे कार्य का आरम्भ होता है, जबकि दूसरे बहुत-से योगो का चरम लक्ष्य ही उपलब्धि है। कारण यह है कि हमारे योग का मुख्य उद्देश्य अभिव्यक्ति है। इसीलिए मुझे पहले इस 'अतिमानस शक्ति' तक पहुंचना होगा, ताकि मैं उसे भौतिक चेतना पर कार्य करने के लिए नीचे ला सकूं। इसके लिए आरोहण प्रथम सीढी है, अवतरण बाद मे है।"

"यह अवतरण किस भाँति कार्य प्रारम्भ करेगा ?"

"जब हमारी सत्ता मे इस शक्ति का स्पर्श होगा, तब हमारी चेतना मन के

धुंधले प्रकाश को छोडकर (जिसमे दिव्य सत्य का रूप विकृत हो जाता है) धीरे-धीरे अतिमानस के मुक्त प्रकाश के कोष्ठ मे चली जायगी, जहाँ प्रकाश का निर्बाध राज्य है—अर्थात् जहाँ किसी प्रकार के विकार की सभावना नही है। उसके प्रभाव से मन, प्राण व शरीर का रूपान्तर होगा, क्योकि जड जगत् मे उस शक्ति के प्रवेश का यह भी एक कार्य है, और अन्त मे वह वस्तु जगत् के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डालकर मानव जीवन मे एक युगान्तर उपस्थित करेगी।[1] इस विषय मे तुम मेरी बात समझने मे भूल मत कर बैठना। मेरा लक्ष्य केवल यही है कि इस अतिमानस शक्ति को नीचे उतारकर अपनी सत्ता मे ऐसे प्रतिष्ठित कर दिया जाय कि वह इसे मानसिक स्तर से ऊँचे उठा दे, और इस प्रकार हमारे मन, प्राण व शरीर की चेष्टाओ मे पूर्ण परिवर्तन ला दे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस शक्ति का अवतरण इस पृथ्वी पर एक ही दिन मे हो जायगा, व इस अवतरण के होते न होते यह सारा जगत् अतिमानस जगत् बन जायगा, या सभी मनुष्यो का पूर्ण रूपान्तर हो जायगा। ऐसा होना असभव है।"

"क्या इसलिए कि अभी हम पूर्ण रूपान्तर के लिए तैयार नही है?"

"केवल इसीलिए नही बल्कि इसलिए भी कि इस रूपान्तर के पथ मे बहुत-सी दुस्तर बाधाएँ व विरोधी शक्तियाँ भी है। यह जड जगत् युग-युगान्तर से अन्धकार का अचल आयतन, व असत्य का अजेय दुर्ग है, जहाँ अब तक तामसिकता का अटल राज्य है। वहाँ सत्य का सदेश पहुँचाना व प्रकाश का स्पर्श पहुँचाना आसान बात नही है फिर भी यदि यह अतिमानस शक्ति एक बार वहाँ उतर सके, अर्थात् यदि पार्थिव चेतना एक बार उसे धारण कर सके, तो वह शक्ति स्वय ही अपना रास्ता बना सकती है।"

"ऐसा होने पर यह शक्ति पहले-पहल कहाँ सक्रिय होगी?"

"पहले-पहल कुछ लोगो के ऊपर—ऐसे लोगो के ऊपर जो कुछ तैयार हुए हैं, व जिन्होने इस शक्ति का माध्यम या वाहन होने की क्षमता प्राप्त की है। उनमे से प्रत्येक अपने उदाहरण द्वारा यह दिखलायेगा कि मनुष्य क्या बन सकता

---

१ उन्होने अपने एक वाद के सन्देश मे लिखा था (५ मई, १९३०)—"हमारा योग आरोहण व अवतरण की दुहरी प्रक्रिया है, इसमे साधक को चेतना के उच्च स्तरो पर आरोहण करना पडता है, और साथ ही इनकी शक्ति को उसे न केवल मन व प्राण मे परिवर्तन पैदा करने के लिए, अपितु अन्त मे शरीर तक मे परिवर्तन लाने के लिए नीचे अवतरित करना होता है। और इस आरोहण की अन्तिम सीढी जिससे और अधिक ऊपर आरोहण सभव नही अतिमानस है। और जब उस अतिमानस शक्ति का नीचे अवतरण हो जाय, तभी भौतिक चैतन्य मे भी दिव्य परिवर्तन सभव है।"

है—यदि उसकी सत्ता का रूपान्तर हो जाय। समझे ?"[1]

'शायद कुछ-कुछ समझ रहा हूँ। पर क्या इतनी-सी बात पूछ सकता हूँ कि उस शक्ति का कार्य मुट्ठी भर मनुष्यो के ही ऊपर होगा, या बहुत से मनुष्यो के ऊपर भी होगा ?"

"निश्चित रूप से बहुत से मनुष्यो पर तो होगा ही। मेरा पूर्ण योग यदि मेरे जैसे दो-एक मनुष्यो के लिए ही होता, तो उसका मूल्य भी बहुत कम होता। क्योकि तुम्हे स्मरण रखना चाहिए कि मैं इस पार्थिव-भौतिक जीवन को अपनी इच्छानुसार बहने के लिए छोड देना नही चाहता, अपितु उच्चतर प्रकाश और ज्ञान की शक्ति द्वारा इसका एक आमूल गभीर रूपान्तर चाहता हूँ।"[2]

"किन्तु इस रूपान्तर के लिए आपके बाद के लोगो को भी आपकी ही तरह असाधारण साधना तो न करनी पडेगी ?"

श्री अरविन्द हँसते हुए बोले—"नही नही, और लोगो को न करनी पडेगी, यही मेरा वास्तविक भाव था, जब मैंने कुछ समय पहले यह कहा था कि मेरा योग केवल मेरे लिए नहीं—सब मनुष्यो के लिए है। जिसे अनजाने घने वन मे से पहले रास्ता बनाते हुए चलना पडता है, उसे अनेक कष्ट झेलने पडते है, बाद के लोगो का पथ सुगम बनाने के लिए वह सब सहन करता है।"

मुझे परम योगी श्री रामकृष्ण का एक कथन स्मरण हो आया "जो मनुष्य अग्नि को प्रज्वलित करता है, उसे काफी कष्ट उठाना पडता है। परन्तु एक बार अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर जो कोई भी उसके समीप आते है, वे सभी उसकी उष्णता का लाभ उठा सकते है।" मैंने जैसे ही अपने मन मे इस उपमा से उनके

---

१ "व्यावहारिक तर्क की यह भूल है कि वह प्रत्यक्ष तथ्यो पर ही, जिन्हे कि वह वास्तविक समझता है, आश्रित रहता है, और उसके अन्दर यह साहस नही है कि वह गम्भीर सभावनाओ के तथ्यो से किसी तार्किक परिणाम पर पहुँच सके। जो है, वह पूर्ववर्ती सभावनाओ की उपलब्धि है, और वर्तमान सभावना भावी उपलब्धि की कुजी है।"

—अध्याय सप्तम्, 'दिव्य जीवन'

२ "चूंकि हमारी दिव्य पूर्णता मे, अपने द्वारा और साथ ही दूसरो द्वारा भी सत्ता जीवन व प्रेम मे अपनी उपलब्धि सम्मिलित है, इसलिए हमारी मुक्ति और पूर्णता का अवश्यम्भावी फल इसके परिणामो का दूसरो मे प्रसार ही है, और यही उसका उत्कृष्टतम उपयोग है। हमारी वह पूर्णता, जिसकी हम कामना करते है, तब तक सभव ही नही है या वह वास्तविक नही है, जब-तक वह हमारे व्यक्ति तक ही सीमित रहती है।"

'—योग-समन्वय'

दृष्टान्त का मिलान किया, मेरे मन मे एक प्रकार के गभीर आदर का भाव जाग उठा। जो कुछ मैंने सुना वह मेरे अन्तर की गहराई मे धीरे-धीरे प्रविष्ट हो गया। मैं मन ही मन सोचने लगा, इतने बड़े एक महापुरुष हमारे बीच मे विद्यमान हैं, अथवा कितने मनुष्य यह कल्पना भी करते हैं कि ऐसा महान् पुरुष हमारे बीच मे उपस्थित है। पर क्या अनादिकाल से ही यह इसी प्रकार नही होता चला आ रहा है? परमहस देव के युग मे भी भला कितने मनुष्यों ने उन्हे पहचाना था? हठात् मन मे प्रबल इच्छा हुई कि उनके चरणो मे गिरकर प्रणाम करूँ, परन्तु उस उच्छ्वास को किसी प्रकार प्राणपण से चेष्टा करके दबाये रखा।

श्री अरविन्द एकटक मेरी ओर देख रहे थे। पर न मालूम कहाँ से इसी मौन के बीच एकदम फिर असामयिक सन्देह ने आकर मन को आच्छन्न कर दिया। अभी-अभी जो नवभक्तिभाव उनके प्रति मेरे मन मे पैदा हुआ था, उसके सामने यह कितना असंगत था।

"किन्तु क्या यह वास्तव मे सभव है?" मैंने पूछा।

"एकाध मनुष्य के लिए संभव है। मैंने स्वयं देखा है," उन्होंने 'देखा' शब्द पर जोर देते हुए कहा कि किस तरह से इस प्रबल विजयी शक्ति की क्रिया पल भर मे तम व जड़ता के उन सब प्रभावो को दूर कर देती है, जो आत्मा को देह के अन्दर बाँधे रखना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई योगी बाह्य जगत् से अपने को अलग करके एकान्त मे रहे, तो वह अभी-अभी सब प्रकार के रोगों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।"

"परन्तु ससार मे लौट जाने पर वह वैसा करने मे सफल क्यों नही होता?"

क्योकि बाहर (ससार) मे रोग का सार्वभौम संकेत है।"

मुझे एक और सन्देह पैदा हुआ। "किन्तु आप भी क्या यह मानते हैं कि यह एक बहुत बड़ी सिद्धि है। यदि ऐसा ही होता तो क्या शरीर की आधिव्याधि, दु ख-ताप को बुद्धदेव जैसे द्रष्टा पुरुष भी इतना नगण्य समझते?"

'तुम यह बात भूल रहे हो कि बुद्ध जीवन को एकदम दूसरी ही दृष्टि से देखते थे. उनका लक्ष्य भी दूसरा था। वे चाहते थे निर्वाण, अर्थात् इस इन्द्रिय जगत् से निवृत्ति या छुटकारा। सभव है कि उस युग मे मनुष्य निर्वाण से अधिक बड़ी उपलब्धि का अधिकारी न हो। किन्तु कारण कुछ भी क्यो न हो. उन्होने जो कुछ चाहा था, वह था जीवन लीला के चक से अव्याहति (मुक्ति) परन्तु मेरा लक्ष्य भौतिक जीवन का परिहार नही है, अपितु भौतिक जीवन को अध्यात्म की ज्योति द्वारा रूपान्तरित करना है। (दूसरे शब्दो मे मेरा लक्ष्य भौतिक जीवन का त्याग नही है परन्तु अध्यात्म के लिए भौतिक जीवन पर विजय प्राप्त करना है। इसलिए इस देह को, जो आत्मोपलब्धि के मार्ग मे एक रुकावट बनी हुई है, उसकी प्राप्ति मे एक सचेत व पूर्ण उपकरण बनाना भी इस लक्ष्य का एक आवश्यक अंग

होना चाहिए।

कुछ देर तक मेरी समझ मे न आया कि आगे क्या कहूँ। शकाओ के बावजूद मन मे एक प्रकार की कौतूहल—एक प्रकार की उत्सुकता व्याप गयी।

और बोल उठा—"किन्तु मेरे योग के बारे मे क्या ?" कुछ भी स्थिर न कर सका कि आगे क्या कहूँ। अगले ही क्षण अपने ही मन मे सन्देह होने लगा कि क्या वास्तव मे मैं कुछ जानना चाहता हूँ ? ठीक मानो किसी निश्चय पर न पहुँच सका।

श्री अरविन्द तीक्ष्ण दृष्टि से कुछ देर तक देखते रहे, फिर और भी मीठे स्वर मे बोले—"तुम्हारा अभी समय नही हुआ है। तुम्हारे अन्दर जो तृष्णा जगी है वह मन की जिज्ञासा है। किन्तु मेरे योग मे दीक्षा प्राप्त करते के लिए अन्तत इससे कुछ अधिक चाहिए। क्यो न कुछ दिन और प्रतीक्षा करो ?"

'समय यदि बाद मे आवे, तो क्या मैं आपकी सहायता पाने की आशा कर सकता हूँ ?"

श्री अरविन्द ने मीठी मुस्कान के साथ अपनी गर्दन हिला दी।

उस समय आश्रम मे सब मिलाकर लगभग एक दर्जन साधक थे। वास्तव मे उस समय यह ठीक एक आश्रम के रूप मे विकसित न हुआ था। यह आज के आश्रम से, जिसमे चार सौ के लगभग साधक व साधिकाएँ निवास करती है, बहुत भिन्न दशा मे था। परन्तु उस समय भी गुरु अपने शिष्यो को पूरी-पूरी सहायता प्रदान करते थे। उनके शिष्य उनके योग, उनका ऊँचा उठाने वाले वैयक्तिक सम्पर्क, उनकी स्नेहमय सहायता, व महान् अनुभूति से उत्पन्न उनके उत्कृष्ट ज्ञान के बारे मे बडे उत्साहपूर्वक परस्पर चर्चा किया करते थे। उन्होने उनके कुछ सुन्दर पत्र मुझे पढने के लिए दिये, जिनकी मैंने बडी उत्सुकता के साथ प्रतिलिपि कर डाली। इसमे उनका १६२२ के नवम्बर मास मे बगाल के सर्वप्रिय नेता, देशबन्धु चितरजनदास को लिखा हुआ एक विख्यात पत्र भी था, जिसमे से कुछ पक्तियाँ मैं यहाँ दे रहा हूँ

"प्रिय चित्त,

तुम सभवत मेरी आजकल की विचारधारा जानते हो, जिसके कारण जीवन और कर्म के बारे मे मेरी दृष्टि ही बदल गयी है। जितने अधिक दिन बीतते जाते है, उतना ही अधिक मेरे सामने यह सत्य स्पष्ट होता जा रहा है कि मनुष्य जिस व्यर्थ चक्र मे अनादिकाल से परिभ्रमण करता आ रहा है, उससे वह कभी मुक्ति नही पा सकता—जब तक कि वह एक नये सत्य की नीव पर प्रतिष्ठित नही हो जाता। अब मेरे मन मे यह दृढ प्रतीत पैदा हो गयी है—जो मुझे पहले भी थी, परन्तु इतनी स्पष्ट और सक्रिय रूप मे नही थी कि जीवन और कर्म की सच्ची

बुनियाद है आध्यात्मिकता, अर्थात् एक ऐसी नवीन चेतना जो केवल योग से प्राप्त होती है। परन्तु इस महत्तर चेतना की सक्रिय शक्ति का स्वरूप क्या है ? इसके प्रभावशाली सत्य के सफल होने की शर्त क्या है ? किस तरह उसे नीचे उतार कर, गतिशील करके व सगठित करके जीवन पर इसका प्रयोग किया जा सकता है ? किस उपाय से अपने वर्तमान साधनो—बुद्धि, मन, प्राण व देह को—इस महत् रूपान्तर का सच्चा व पूर्ण माध्यम बनाया जा सकता है ? इन सब समस्याओ की मीमासा की ही खोज मैं अपनी निजी अभिज्ञता द्वारा कर रहा हूँ। इतने दिनो मे मैं इस रहस्य का निश्चित आधार विस्तृत ज्ञान, और इस पर कुछ प्रभुत्व पा सका हूँ।—फिर भी मुझे अभी एकान्त मे रहना होगा। कारण बाहरी जगत् मे मै तब तक कार्य करना आरम्भ नही करूँगा, जब तक कि इस नयी कार्य-शक्ति पर मेरा निश्चित व पूर्ण अधिकार नही हो जाता। तब तक निर्माण आरम्भ न करूगा, जब तक कि नीव पक्की नही हो जाती।"

मेरा उनसे प्रथम सभाषण, तथा जिस उत्सकुता से मैंने उस रात उनके इन पत्रो को बार-बार पढा, उन दोनो का जो सम्मिलित प्रभाव मेरे मन पर पडा, उसे मैं कभी भी भूल न सकूँगा। एक अद्भुत मादक आनन्द व उत्साह के कारण सारी रात मुझे नीद न आ सकी। श्री अरविन्द का वह ज्योतिर्मय मुखमण्डल और तारो के समान उज्ज्वल नेत्र देख चुकने के बाद कौन सो सकता था।

दूसरे दिन सवेरे मैं फिर उनके पास गया।

मैंने सीधा ही कहा—"कल रात मैंने देशबन्धु को लिखा हुआ आपका पत्र कई बार पढा। अगर आप आज्ञा दे तो उस विषय मे दो-एक प्रश्न, जो मेरे मन मे उठे है, आपसे पूछूँ।"

श्री अरविन्द ने प्रेमपूर्वक हँसते हुए हाथ की प्रोत्साहन देनेवाली स्वीकृति दे दी।

मैने कहा—"आपने देशबन्धु को लिखा है कि योग शक्ति के द्वारा एक नवीन चेतना मिलती है। मुझे यही पूछना है कि उस चेतना का कोई प्रत्यक्ष फल भी होता है ? यदि होता है, अर्थात् योग करने से यदि कोई शक्ति प्राप्त होती है, तो क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अमुक-अमुक घटना केवल योग द्वारा विकसित अमुक शक्ति के बल से ही घटित हुई है, अन्यथा वह न घटती ?"

'अर्थात् तुम परीक्षणशाला मे अनुसधान करने वाले वैज्ञानिको को विश्वास दिलाने के लिए कोई इन्द्रिय गोचर प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते हो, परन्तु मुझे भय है कि यह शक्तियाँ इस प्रकार की परीक्षा का विषय बनकर वैज्ञानिको की कृतज्ञता प्राप्त करना स्वीकार न करेगी। (योग जगत् मे इस प्रकार के प्रमाण खोजना व्यर्थ है कि अमुक-अमुक परिणाम अमुक आध्यात्मिक शक्ति द्वारा घटित हुआ है। इस विषय मे प्रत्येक मनुष्य को अपनी निजी धारणा ही बनानी होगी,

क्योकि इस बात पर युक्ति और प्रमाण के प्रयोग द्वारा विश्वास नही होता, बल्कि अनुभूति के कारण, श्रद्धा के कारण, अथवा हृदय मे जो अन्तर्दृष्टि है—उसके कारण, अथवा उस गभीर बुद्धि के कारण जो बाह्य प्रतीति के पीछे वास्तविकता का साक्षात्कार करती है, विश्वास होता है। आध्यात्मिक चेतना अपने आपको जताने के लिए इस प्रकार दावा नही करती—वह अपने बारे मे यह बता सकती है कि सत्य क्या है, परन्तु वह इस बात के लिए नही झगडती कि उसकी बात प्रत्येक आदमी को माननी ही होगी।"[1]

थोडी देर के बाद मैंने कहा—"योग की प्रेरणा के बिना हम जीवन मे जो कुछ करते है, उसका भी क्या कोई स्थायी मूल्य हो सकता है या नही ?"

"तुम्हारा भाव मै ठीक नही समझ सका।"

"मेरा प्रश्न 'आदेश' के विषय मे है। परमहस देव कहा करते थे कि आदेश पाये बिना अर्थात् प्रभु की आज्ञा के बिना वास्तव मे कोई बडा कार्य नही किया जा सकता। वे बार-बार कहा करते थे कि भगवान् की अनुमति व आदेश के बिना किसी सन्देश का प्रचार सर्वथा निरर्थक है। परन्तु प्रत्येक युग मे, प्रत्येक देश मे 'आदेश' के बिना भी तो मनुष्य ने अपने-आपको हजारो कीर्तियो के रूप मे प्रकट किया है ? जैसे विज्ञान, शिल्प, दर्शन, काव्य व सगीत के क्षेत्र मे। क्या आप कह सकते हैं कि उन सबका कोई भी वास्तविक मूल्य नही है ?"

---

१. "यदि हम ध्यानपूर्वक देखे तो हमे मालूम होगा कि यह अन्तर्दृष्टि (Intuition) हमारा प्रारभिक शिक्षक है। यह अन्तर्दृष्टि सदा हमारी मानसिक क्रियाओ के आवरण के पीछे ढकी रहती है। अन्तर्दृष्टि अज्ञात शक्ति के उन चमत्कारपूर्ण सदेशो को, जो उच्चतर ज्ञान का प्रवेशद्वार है, मनुष्य तक पहुँचाती है। तर्क बाद मे यह देखने के लिए आता है कि वह तैयार फसल मे से क्या लाभ पा सकता है।—वेद, वेदान्त के ऋषि इस अन्तर्दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव पर ही सर्वथा भरोसा रखते थे।—एक तत्ववेत्ता ऋषि दूसरे ऋषि से यही प्रश्न करता था कि "तुम क्या जानते हो ?" वह यह प्रश्न नही करता था कि "तुम क्या विचारते हो ?" अथवा "तुम्हारी बुद्धि या तुम्हारा तर्क तुम्हे किस परिणाम पर ले गया है ?"—इन सब शक्ति के विस्तारो को यद्यपि हमारा मौलिक मन अविश्वास व सन्देह की दृष्टि से देखता है, चूंकि वे हमारे साधारण दैनिक जीवन व अनुभव के विषय नही है—तो भी इन्हे स्वीकार करना ही पडता है, क्योकि यह हमारी बाह्य रूप से क्रियाशील चेतना के क्षेत्र को विस्तृत बनाने के प्रयत्न का ही अपरिहार्य परिणाम है..."

—'दिव्य जीवन'

श्री अरविन्द ने कहा "जिस किसी दिशा मे भी मनुष्य ने वास्तव मे सृष्टि की है, उसका कुछ न कुछ मूल्य होगा ही। ठीक बात क्या है, इसे मैं इस प्रकार समझाकर कहता हूँ।' उन्होने अपने बाएँ हाथ को खोलकर सीधे रखा और बोले—"अच्छा, मान लो यह स्तर है, जिस पर हम किसी चीज का निर्माण करते है। जब यह कार्य वास्तव मे किसी सृष्टि का रूप ग्रहण करता है तब सच पूछो तो उसकी प्रेरणा इससे कही उच्च स्तर की किसी चेतना से आती है। (दाहिना हाथ बाएँ हाथ से कुछ ऊपर व उसके समानान्तर उठाकर) अर्थात् यहाँ से—यद्यपि जो निर्माण हुआ है, वह इसी (बाएँ हाथ को दिखाकर) नीचे के स्तर मे है—यद्यपि प्रेरणा इस उच्च स्तर से हुई है (दाहिने हाथ की तरफ निर्देश करते हुए) तथापि उसका कार्य निचले स्तर पर हुआ है (बाएँ हाथ की तरफ) इसी प्रकार प्रत्येक रचनात्मक कार्य के लिए, चेतना के निचले स्तर का चेतना के ऊपरले स्तर के साथ योग आवश्यक है। जिससे कि प्रेरणा देने वाली और प्रेरणा प्राप्त करने वाली चेतना मे मानो एक सम्बन्ध जुड जाता है। दूसरे शब्दो मे यह किसी उच्चतर स्तर की कल्पना या सत्य को निचले स्तर की भाषा मे व्यक्त करना है।"

इससे उनके 'भावी काव्य' मे वर्णित एक स्थल का स्मरण हो आया, जिसे यहाँ उद्धृत करता हूँ, "कविता की वाणी हमसे एक ऊँचे क्षेत्र से आती है, हमारी सत्ता के एक ऐसे स्तर से आती है, जो हमारी वैयक्तिक बुद्धि की पहुँच से ऊपर व परे है, वह उस अतिमानस से आती है जो वस्तुओ के अन्तरतम व विशालतम सत्य को आध्यात्मिक अभिन्नता द्वारा देखती है। अतिमानस के स्पर्श से मन का अभिभूत होना, और इससे उत्पन्न दिव्य शब्द और दिव्य रूप को पकडने की अन्त प्रेरणा कवित्वमय स्फुरण की मनोवैज्ञानिक घटना को जन्म देती है। और इसकी साधारण शक्ति की अपेक्षा एक उच्चतर शक्ति का इस पर यह आक्रमण ही मस्तिष्क, हृदय व नाडी के अन्दर वह अस्थायी उत्तेजना पैदा करता है, जो प्रभाव के आविर्भाव के साथ-साथ आती है।"

मैंने आत्मसन्तोष के उल्लास का अनुभव किया, और मुझे यह बात और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो गई, जबकि मैंने एक बार फिर उनके देदीप्यमान नेत्रो की दृष्टि की तरफ नजर उठाई। दिल चाहता था कुछ कहूँ, परन्तु क्या कहूँ ? कुछ समझ न सका। फिर भी बोला—"तब तो कला की सृष्टि का कार्य भी एकदम मूल्यहीन नही हैं ?"

"मूल्यहीन क्यो होगा ? क्या सच्ची कला का यह सर्वसम्मत कार्य नही है कि वह अतीन्द्रिय लोको का सन्देश हमारे इन्द्रियगोचर लोको को पहुँचावे—वाक्यो मे, छन्दो मे, स्वप्नो मे (कल्पना मे) व प्रतीको मे। जो जीवन मे अव्यक्त रहता है उसे ही व्यक्त करना महान कला का कार्य है।

कई वर्ष वाद उन्होंने इसी वात को अपने एक पत्र मे इस प्रकार विस्तार-पूर्वक मुझे लिखा—"एक वस्तु का जो स्वरूप हमे वाह्य इन्द्रिय द्वारा दृष्टिगोचर होता है, वह सम्भव है हमारी साधारण सौन्दर्य दृष्टि के लिए सुन्दर न हो, और प्राय सुन्दर नही होता, परन्तु योगी उसी वस्तु मे उससे कुछ अधिक वस्तु का दर्शन करता है, जो वाह्य इन्द्रिय को दिखाई नही देता, वह उस वस्तु के वाह्य स्वरूप के पीछे अवस्थित उसकी आत्मा का दर्शन करता है।— यह कहा जा सकता है कि वह उस दृश्य पदार्थ मे कुछ ऐसी वस्तु डाल देता है, जो स्वय उसके अन्दर है। उसमे अपनी सत्ता मे से कुछ डालकर वह एक परिवर्तन ला देता है—और एक कलाकार भी एक दूसरे तरीके से कुछ-कुछ इसी प्रकार का कार्य करता है—उसकी दृष्टि परिवर्तन पैदा करनेवाली दृष्टि है, क्योकि यह एक गुप्त सत्य को अभिव्यक्त करने वाली दृष्टि है—वह वाह्य दृश्य पदार्थ के दिखाई देने वाले स्वरूप के पीछे कुछ और अधिक सत्य को देखता है—क्या एक कलाकार की दृष्टि एक सीधे-सादे मलिन, विकृत व घृणित पदार्थ मे निरन्तर किसी सौन्दर्य के तत्व को पकडने का प्रयत्न नही करती और विजयी तरीके से अपने साधनो द्वारा, शब्द, रेखा, रग और गढी हुई मूर्ति द्वारा इसे प्रकट करने का सतत प्रयत्न नही करती ?"

"इसके अतिरिक्त' श्री अरविन्द ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा —"प्रत्येक सच्ची रचना का तो काम ही यह है कि वह मनुष्य को दर्शन के नीचे स्तरो से उठाकर ऊपर के स्तरो मे पहुँचा दे। यह एक प्रकार का चेतना की मुक्ति का ही कार्य है, जैसा कि योग मे भी होता है।"

'इस वात का क्या यह अर्थ है कि इस प्रकार की चेतना की मुक्ति सव मनुष्यो को वास्तव मे स्रष्टा वना सकती है ?"

"एक प्रकार से हाँ, वना सकती है। क्योकि योग मनुष्य के अन्दर प्रसुप्त उच्चतम भक्ति को उद्‌वुद्ध कर देता है, और उसके अन्दर प्रसुप्त सच्ची सभावनाओ को फलवती वना देता है। जिसके परिणामस्वरूप वह अपने स्वाभाविक वर्म को और अपनी सच्ची प्रकृति के लक्ष्य को स्पष्ट रूप से देखने लगता है।"

"इस वात का क्या यह तात्पर्य है कि योग न करने से जो सव कार्य मै न कर पाता, वह योग साधन करने से मैं कर डालने मे समर्थ हो सकता हूँ ? '

"ऐसा कहना तो एक प्रकार की अत्युक्ति होगी, यद्यपि योग असम्भव को सम्भव कर सकता है, और प्राय करता भी है, विशेषत यदि आधार-उपकरण, पूरी तरह से तैयार हो व ग्रहणशील हो। परन्तु तुम्हे असली मुद्दे को भूलकर घपला नही करना चाहिए। कारण, सच्चे योग का उद्देश्य कोई चमत्कार दिखाना नही है। यह तो गौण वस्तु है। मेरे पूर्ण योग का उद्देश्य प्रकाश के लिए एकाग्र अभीप्सा द्वारा और उन सव चेष्टाओ के परित्याग द्वारा जो कि रूपान्तर करने के

मार्ग मे बाधक हं, हमारी प्रत्येक शक्ति को शुद्ध व निर्मल बनाकर उसकी चरम परिणति तक पहुचाना है।"

"क्या इससे यह स्वाभाविक परिणाम नही निकलता कि योग द्वारा कलाकार की कला भी उन्नत व परिष्कृत होनी चाहिए ?"

"निश्चय ही, और होती भी है—यदि निश्चित रूप से कला उसका वास्तविक कार्य 'स्वधर्म' हो। तुम्हे मैंने अभी नही कहा था कि योग का अर्थ है आत्मोपलब्धि की पूर्ण चेतना, जिसके प्रकाश मे मनुष्य यह देख सकता है कि वह किसलिए जन्मा है, और उसकी असली पूर्णता किस बात मे है ?"

"पर क्या मनुष्य अपनी बुद्धि से, विशुद्ध तार्किक विश्लेषण द्वारा इस बात को नही जान सकता ?"

"एक बात यह है कि वासना से मुक्ति हुए बिना व भेदात्मक अहबुद्धि गये बिना, बुद्धि शुद्ध रूप मे अपना कार्य नही कर सकती। और दूसरी बात यह है कि बुद्धिवादी तर्क अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा भी एक निम्नतर शक्ति है, आध्यात्मिक प्रकाश से तो उसकी तुलना ही क्या है ? यह आध्यात्मिक प्रकाश की स्थान-पूर्ति नही कर सकता, उसके निर्णायक होने की तो बात ही क्या ? यह केवल योग ही है जो तुम्हारी वासनाओ का बीज नाश कर सकता है और तुम्हे अहकार की दासता से मुक्त कर सकता है।"

"केवल एक प्रश्न और है, यदि आप मुझे बुद्धिवादी होने के कारण इस सशय के लिए क्षमा करने का आश्वासन दें।"

श्री अरविंद हंस पडे, बोले—"कहो।"

"यह जो यौगिक चमत्कार व विभूतियो की बात प्राय सुनने मे आती है, कि उसमे चमत्कार दिखाने की क्षमता है, वह 'हा' को 'ना' कर सकता है—मैं यह जानना चाहता हूँ कि इन अफवाहो और दावो मे कहाँ तक सचाई है। मैंने योग के नाम पर काफी छलना देखी है जो कि भोले-भाले, अविवेकी व्यक्तियो को अपने जाल मे फँसा लेती है और लोगो को प्राय ऐसी बातो पर विश्वास करते देखा व बातें करते सुना है, जिनके बारे मे वे कुछ भी नही जानते। मैं आशा करता हूँ कि आप मेरी स्पष्टवादिता का बुरा न मानेंगे। शायद थोडा पाश्चात्य देश के प्रभाववश मेरा मन इन बातो के बारे मे अत्यन्त सशयशील है।'

श्री अरविन्द मुस्कराये और मधुर स्वर मे कहा—"शायद तुमने सुना हो कि मैं स्वय भी उस देश की कुछ खबर रखता हूँ और मैं उन लोगो की मनोवृत्ति को जानता हूँ। वहाँ के लोगो की मनोभावना इस बारे मे 'स्नान जल' के साथ 'बच्चे' को भी फेंक देने वाली कहावत के समान है। चूंकि नीम हकीम लोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए आधिभौतिक घटनाओ का आश्रय लेकर मनुष्यो को ठगते हैं, इसलिए वे यह तर्क करते हं कि इस प्रकार की सभी घटनाएँ धोखेबाजी के सिवाय

और कुछ नही है। पर असली स्थिति स्पष्ट है—इस स्थापना से कि सत्य के ढोग व दिखावे होते है, यह परिणाम नही निकलता कि केवल ढोग व दिखावा ही है—और 'सत्य' नही। "जब किसी को इलहाम होता है, तो उसकी चारो ओर चर्चा होती है, और प्राय ऐसी अफवाहो मे बहुत अत्युक्तियाँ भी होती है—इसलिए क्या तुम यह कहोगे कि इलहाम की आधारभूत बात ही गलत है? यदि तुम ऐसी स्थिति ग्रहण करते हो तो तुम कभी भी सत्य के हृदय तक नही पहुँच सकते। सभी योगी लोग जानते है कि ये सब आधिभौतिक शक्तियाँ, विभूतियाँ कितनी प्रत्यक्ष है, कितनी सत्य हैं। इनका प्रमाण भी इतना जोरदार है कि इनके अस्तित्व के बारे मे किसी सन्देह को कोई स्थान नही है।"

"परन्तु प्रमाण की छानवीन करनेवाले पाश्चात्य लोग तो इस बारे मे न केवल सन्देह ही प्रकट करते है, बल्कि इनके अस्तित्व से ही सर्वथा इनकार करते है?"

उन्होने कहा—"परन्तु यह उनकी अनधिकार चेष्टा है, क्योकि वे वस्तुगतता की थ्योरी को आधार मानकर, हमारी भौतिक चेतना की साक्षी के सिवाय अन्य किसी साक्षी को स्वीकार नही करते। जो वस्तु हमारी इन्द्रियो के अनुभव का विषय नही है, उसे वे स्वीकार नही करते। अवश्य ही सब लोग नही, परन्तु उनमे अधिकतर ऐसे ही है। लेकिन अभी हाल मे उन लोगो की समझ मे भी यह बात आने लगी है, कि हमारा जीवन इतना पेचीदा व विस्तृत है कि इस प्रकार विचार करने से काम नही चल सकता, तथा उसे इन मनमाने मापदण्डो से नही मापा जा सकता। इसके अतिरिक्त जिन घटनाओ को वे चलती भाषा मे इन्द्रजाल कहते है, वे वास्तव मे इन्द्रजाल व भ्रम नही है, यदि तुम केवल यह मान लो कि बहुत-सी गुप्त शक्तियाँ इद्रियातीत पथ से भी सक्रिय हो सकती है।[1] यूरोप मे—मैं भी एक समय अज्ञेयवादी था, किन्तु जब इन सब तथाकथित चमत्कारिक शक्तियो को व्यवहार मे पहले-पहल देखा, तब से ही मैंने उनकी विचारधारा के अनुसार, जो परीक्षण व प्रमाण चाहती है, इन सब क्रियाओ पर विचार करना छोड दिया।"

---

१ "जो हमे अलौकिक प्रतीत होता है, वह वास्तव मे या तो भौतिक प्रकृति मे किसी ऊपरले स्तर की प्रकृति का स्वयमेव आ घुसना है, या योगी के कार्य को देखा जाय तो विराट् सत्ता व विश्वशक्ति के उच्च स्तरो के ज्ञान और शक्ति को रखना और भौतिक कार्य सिद्धि के लिए आन्तर-सम्बन्ध की सभावनाओ व साधनो को पकडकर भौतिक ससार मे वाछित प्रभावो को उत्पन्न करने के लिए उन सन्चतर स्तरो की शक्तियो और विधियो का प्रयोग करना है।"

—'दिव्य-जीवन'
अध्याय २३

"केवल एक अन्तिम प्रश्न और ! यह भी तो सुनने मे आता है कि इन सब शक्तियो का प्रयोग करने से आध्यात्मिक जीवन की हानि होती है, यह कहाँ तक ठीक है ?"

"हानि होगी ही, ऐसी कोई वात नही है। कौन करता है, और किस प्रेरणा मे करता है, इसी के ऊपर सव कुछ निर्भर करता है। (यह विचार कि योगी इन शक्तियो का कभी प्रयोग नही करते या उन्हे इनका प्रयोग कभी नही करना चाहिए, इसे मैं तपस्वियो का एक अन्धविश्वास मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि सभी योगी अन्दर से आवाहन आने पर शक्तियो का उचित प्रयोग करते है। वे जव किसी विशेप परिस्थिति मे यह अनुभव करते है, कि इन शक्तियो का प्रयोग भगवद्इच्छा के प्रतिकूल है, अथवा एक वुराई को रोकने से उससे भी अधिक वुराई का द्वार खुल सकता है, तव वे उसका प्रयोग नही करते, किन्तु किसी साधारण निपेधात्मक नियम के वशीभूत होकर वे ऐसा नही करते। लेकिन अहकार के कारण व किसी स्वार्थ सिद्धि के लिए, अथवा किसी प्रदर्शन के लिए इन सव विभूतियों का प्रयोग निपिद्ध है और ऐसा करने से पूरी हानि भी होती है। केवल प्राणिक वासनाओ से प्रेरित होकर, इन शक्तियो का आसुरी प्रदर्शन अथवा अहकार, अभिमान, महत्वाकाक्षा, यश व अन्य किसी मानवीय दुर्बलता के वशीभूत होकर उनका प्रयोग निपिद्ध है। साधारणत एक अपरिपक्व योगी के इन विभूतियाँ के जाल मे फँस जाने का प्राय भय रहता है, इसीलिए इन यौगिक शक्तियो के प्रयोग को हानिकारक वतलाकर निरुत्साहित किया जाता है।

"पर प्राणिक स्तर पर विचरण करनेवाले मनुष्यो के ही इस प्रकार पथभ्रष्ट होने का भय है। परन्तु उन योगियो द्वारा, जो दृढ, स्वतन्त्र व शान्त मन तथा उस आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से, जो प्रत्येक समय सावधान व जागरूक रहती है, कार्य करते है, ऐसी तुच्छता असभव है। और उन योगियो के लिए, जो वास्तविक दिव्य चेतना मे वास करते है, यह यौगिक शक्तियाँ, जिस अर्थ मे हम साधारणतया शक्ति शब्द का प्रयोग करते है, उस अर्थ मे शक्ति कहलाने योग्य भी नही होती, अर्थात् उनके लिए वे कोई अलौकिक व असाधारण वस्तु नही होती, अपितु उनके लिए उनका दर्शन व व्यवहार एक साधारण वस्तु हो जाता है, जो उनकी चेतना का ही अग वन जाता है, और तव उन्हें अपनी चेतना व प्रकृति के आदेश के विपरीत कार्य करने के लिए कैसे वाधित किया जा सकता है ?

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, मेरी शिक्षा तुम्हारी अपेक्षा भी कही अधिक पाश्चात्य वातावरण मे हुई है, और एक समय मैं भी उसके प्रभाववश इन वस्तुओ के अस्तित्व के सम्वन्ध मे सन्देहशील था। परन्तु जव से मैने स्वय इनका दर्शन व अनुभव किया, मेरे हृदय मे कोई सन्देह व अविश्वास का अकुर शेष नही रहा। साधारणतया असाधारण प्रतीत होने वाले अधिभौतिक अनुभव व दुर्वोध रहस्य-

वादी यौगिक शक्तियाँ मुझे सर्वदा ही विश्वसनीय व स्वाभाविक प्रतीत होती रही है। चेतना का क्षेत्र साधारण भौतिक मानव-प्राणिक चेतना तक ही सीमित नही है, उसका विस्तार अ य क्षेत्रो मे भी है। जिस प्रकार एक उत्कृष्ट कविता की रचना व सुन्दर गीत का गायन कोई अविश्वसनीय तथा अलौकिक वस्तु नही है, यद्यपि बहुत कम मनुष्य ही ऐसा कर सकते है, सभवत लाखो मे कोई एक व दो ही, ठीक इसी प्रकार गुह्य यौगिक शक्तियाँ भी अविश्वसनीय या अप्राकृतिक वस्तुएँ नही है, यद्यपि हम उन्हे प्रत्यक्ष अनुभव नही करते। कारण यह है कि कविता व सगीत का उद्भव हमारी आन्तर चेतना से होता है, और किसी उच्च कविता व सुन्दर सगीत की सृष्टि के लिए किसी व्यक्ति के बाह्य मन व आन्तर चेतना के बीच का मार्ग साफ होना आवश्यक है। यही बात यौगिक चेतना व शक्तियो के बारे मे लागू होती है, अर्थात् मार्ग मे कोई रुकावट या अवरोध न होना चाहिए। एक मुक्त योगी किसी अवस्था मे भी इन शक्तियो का प्रयोग अपनी स्वार्थ सेवा व अहकार की तृप्ति के लिए नही कर सकता, क्योकि मुक्त योगी की कोई वासना व अहकार होता ही नही, वह जो कुछ करता है, उसकी प्रेरणा भागवत चेतना से आती है, मानुषी चेतना से नही।"[1]

मेरे विचार से इस सभाषण के विवरण का अन्त 'दिव्य जीवन' मे दी हुई उनकी दिव्य दृष्टि की झाँकी द्वारा करना शायद अधिक उपयुक्त होगा। इसलिए मैं बगाल की एक प्रसिद्ध कहावत 'गगापूजा गगाजले' का अनुसरण करके उक्त पुस्तक के 'जगत् मे मनुष्य' नामक अध्याय से निम्न उद्धरण दे रहा हूँ।

"समष्टि व व्यष्टि दो आवश्यक रूप है, जिनमे अज्ञात तत्व अवतरित होता है, और जिनके द्वारा ही उस तक पहुँच भी होती है, चूंकि अन्य सब मध्यवर्ती सघात उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा सम्पन्न होते है। परम ब्रह्म का यह अवतरण वास्तव मे एक प्रकार का आत्मगोपन है, और इस अवतरण मे आत्म-गोपन के पर्दो के क्रमिक स्तर है। साक्षात्कार आवश्यक रूप से एक प्रकार का

---

१ "मुक्त पुरुष की कोई व्यक्तिगत इच्छा व वासना नही होती। वह किसी वस्तु को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप मे नही ग्रहण करता, भागवत इच्छा उसे जो कुछ देती है, वह उसे ही ग्रहण करता है, वह लोभ व ईर्ष्या के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह किसी भी सासारिक पदार्थ की हानि व क्षति को क्षति नही मानता, व उसके लिए किसी प्रकार का दुख अथवा शोक प्रकट नही करता है। उसका मन व आत्मा उसके पूर्ण वश मे रहते है। उसमे वासनाओ व कामनाओ का घात-प्रतिघात नही होता बाह्य वस्तुएँ उसमे कोई उत्तेजना व विकार पैदा नही कर सकती।"

(२४-४-३१ के श्री अरविन्द के संदेश से)

आरोहण है, और आरोहण व साक्षात्कार दोनो ही उसी प्रकार आवश्यक रूप से प्रगतिशील है। क्योकि भागवत चेतना के लिए अवतरण का प्रत्येक क्रमिक स्तर मनुष्य के आरोहण मे एक सीढी है, प्रत्येक पर्दा जो कि अज्ञात भागवत शक्ति को ढके हुए है, एक भगवद्भक्त व जिज्ञासु के लिए उसको प्रकट करने का एक साधन वन जाता है। उस भौतिक प्रकृति की लययुक्त निद्रा मे से, जो उस आत्मा तथा भाव से अनभिज्ञ है जो कि उसकी मूक व शक्तिशाली समाधि मे भी उसकी शक्ति की चेष्टाओ को नियन्त्रित व व्यवस्थित करते है, यह विश्व आत्मचेतना के किनारो पर परिश्रम करता हुआ वडे सघर्ष से जीवन के और अधिक चचल, विभिन्न और अव्यवस्थित लय मे प्रकट होता है। प्राणमय लोक मे से सघर्ष करता हुआ यह मनोमय लोक मे आरोहण करता है, जहाँ पर व्यक्ति अपने व विश्व के वारे मे जागृत हो जाता है, और उस जागृति मे ससार को वह शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसकी इसे अपने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए आवश्यकता थी—यह आत्मचैतन्ययुक्त व्यक्तित्व प्राप्त कर लेता है। परन्तु मन कार्य को जारी रखने के लिए अपने ऊपर लेता है, पर उसे पूरा नही कर पाता। वह तीक्ष्ण किन्तु सीमित वुद्धि का एक श्रमिक है, जो जीवन द्वारा प्राप्त अव्यवस्थित सामग्री को अपनी शक्ति के अनुसार सुव्यवस्थित व उन्नत और अनुकूल वनाता है, परिवर्तित और परिवर्धित करता है, तथा उसका श्रेणी विभाग करता है, और अन्त मे उसे दिव्य मानवता के सर्वोच्च कलाकार को समर्पण कर देता है। वह कलाकार अतिमानस मे निवास करता है, क्योकि अति-मानस ही अतिमानव है। इसलिए हमारे जगत् को मन से ऊपर उठकर अभी एक और ऊँचे तत्व, एक ऊँची स्थिति व एक ऊँची क्रियाशीलता पर पहुँचना है, जिसमे व्यक्ति व जगत् अपने स्वरूप और अपनी शक्तियो से परिचित हो जाते है, और वे आपस मे समन्वय स्थापित करके व सयुक्त होकर एक-दूसरे के प्रति अपना स्वरूप प्रकट कर देते है।

'दिव्य जीवन की ओर आरोहण ही मनुष्य की यात्रा है, यही सव कर्तव्यो से श्रेष्ठ कर्तव्य है, यही स्वीकार्य यज्ञ है। इस जीवन मे मनुष्य का यही असली कर्तव्य है, इसी मे उसके जीवन की सार्थकता है, जिसके विना वह उस पृथ्वी के पृष्ठ पर रेंगने वाले असख्य अल्पजीवी कीड़े-मकोडो से समान है जो पृथ्वी स्वय भौतिक ससार की भयानक विशालताओ मे कीचड व पानी के एक धब्बे से अधिक हैसियत नही रखती।

पत्रावलि

दिलीप,

हाँ, शेक्सपीयर की अपेक्षा गेटे अधिक गहराई तक जाता है। उसकी वुद्धि अग्रेज कवि की अपेक्षा कही ज्यादा है, उसने जीवन व चिन्तन की उन समस्याओ

पर गहन विचार किया है, जिन तक पहुँचने की शक्ति शेक्सपीयर के अन्दर विद्यमान न थी। किन्तु फिर भी वह शेक्सपीयर की अपेक्षा महत्तर कवि कदापि न था, यही नही, वल्कि उसके समकक्ष भी उसे नही कहा जा सकता। उसने अपनी रचना बुद्धि द्वारा की है, परन्तु उसकी शैली व प्रवाह कही भी शेक्सपीयर की कवित्व शक्ति, चमत्कार, विलक्षण भाव-अभिव्यक्ति और गभीर व सूक्ष्म लयो का मुकावला नही कर सक्ती। शेक्सपीयर एक अत्यन्त उच्च कोटि का कवि था परन्तु इसके अतिरिक्ति वह और कुछ नही था, गेटे का चरित्र व बुद्धि उससे कही अधिक वढी हुई थी और उसने कविता को भी अपनाया था, परन्तु वह उसके जीवन की अनिवार्य आवश्यकता न थी। उसने अपने प्रत्येक अन्य कार्य की तरह कविता को भी अत्यन्त निपुणता व प्रभावोत्पादक प्रतिभा के साथ लिखा, पर यह उसकी प्रतिभा का एक अश मात्र था—सम्पूर्ण रूप नही। उसमे एक अश की कमी है—उसमे कवित्व की पूर्ण अनिवार्यता के अश का अभाव है, और यह अभाव उसकी कविता को कुछ उच्चतम कोटि के कवियो की अपेक्षा निम्न स्तर पर रखता है।

जव मैंने यह कहा था कि 'होमर' व 'शेक्सपीयर' की अपेक्षा उच्च कोटि के और कोई कवि नही है, तव मेरा ध्यान उनकी मूलशक्ति व सौन्दर्य की ओर था, उनकी समग्र रचना की ओर नही। 'इलियड' की अपेक्षा महाभारत और 'ओडसी' की अपेक्षा रामायण कही उत्कृष्टतर रचनाएँ हैं, और इनमे से प्रत्येक शेक्सपीयर के समस्त नाटक ससार की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत क्षेत्र पर शासन करती है, दोनो ही विश्व के समान महान आधार पर अवस्थित है तथा मनुष्य जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालती है। महाभारत से तो मनुष्य का कोई विचार भी अछूता नही रहा है। यह ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी झलक तक भी ग्रीक व एलिजवेथन कवियो को प्राप्त न थी। परन्तु जहाँ तक कविता का सम्वन्ध है, अर्थात् छन्द रचना और भाषा एव कवित्व सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से व्यास व वाल्मीकि अग्रेज व ग्रीक कवियो की अपेक्षा हीन न होने पर भी उनसे महान नही है। इस प्रश्न पर मैं यहाँ कुछ नही लिखना चाहता कि महाभारत एक जाति के मन की उपज है या किसी एक कवि की रचना है, क्योकि ऐसा सन्देह होमर के विषय मे भी प्रचलित है।

—श्री अरविन्द

गुरु !

मैं आपकी सेवा मे तीन बँगला अनुवाद भेज रहा हूँ—

(१) कवयित्री 'र' का भगवान् पर आपकी कविता का अनुवाद।

(२) उसी कविता का मेरा अनुवाद।

(३) शैली की 'मैं झुकूंगा नही—' कविता का अपना अनुवाद। कृपया इन

पर अपनी सम्मति देकर अनुगृहीत कीजिये । —दिलीप

भगवान्

(श्री अरविन्द)

व्याप रहा तू नीचे इन सब
लोक लोक अरु कण कण मे,
फिर भी है ऊपर बैठा तू ।
स्वामी उन सबका जो शासक,
कर्ता-धर्ता अरु विद्वान,
चाकर है प्रेमी जन का तू ।
ढेला तक बनने मे तुझको,
नही जुगुप्सा का लवलेश,
और न कीडा ही बनने मे ।
विनयशीलता यह गहरी तव,
है वह कारण जिससे हम ।
भगवान् चीन्हते है तुझ मे ।[1]

(शैली)

दे न सकता हूँ तुम्हे मैं प्रेम का उपहार कोई,
पर न अगीकार होगी क्या हृदय की भक्ति मेरी ।

---

१ श्री वागीश्वर जी विद्यालकार द्वारा अनूदित ।
उपर्युक्त कविता 'सुभान,' हैदराबादी (दक्खन) कृत अनुवाद इस प्रकार है ।

खुदा !

ऐ वो कि जो मुहीत है[1] सब आलमीन[2] पर ।
बैठा हुआ है गोके तू अर्शे-इ-बरीन[3] पर ॥
पडित का प्रजापत का अजीर[4] ओ अजीत[5] का ।
प्रभु है सबका पर है तू परबस प्रीत का ॥
अदना सा कीडा बनने मे तुझे आर[6] है नही ।
मिट्टी का ढेला बन के भी तू खार[7] है नही ॥
तू है खुदा खुदी से न तो इफ्तिखार[8] से ।
पहचाना हमने तुझको इसी इन्किसार[9] से ॥

१ विस्तृत । २ लोकलोकान्तर । ३ ऊँचे आसमान । ४ गुलाम । ५ अजेय ।
६ लज्जा । ७ क्षुद्र । ८ घमण्ड । ९ विनय ।

अब तलक जिसको किसी भी देवता ने,
न्याय करने का नही साहस किया है ।।
चन्द्रमा को प्राप्त करने की शलभ की तीव्र इच्छा,
और रजनी की उषा से मेल करने की पिपासा ।
वेदना और कष्ट-कण्टक-आकुलित इस विश्व मे,
दूरवर्ती देवता के चरण मे श्रद्धाभिलाषा ।।

दिलीप,

मेरी कविता के दूसरे पद के तुम्हारे अनुवाद मे मौलिक पद की शक्ति व भावार्थ प्राय विलुप्त हो गए है, और उनका स्थान रवीन्द्र की शैली के कृत्रिम अनुकरण मे ऐसे भावुकता प्रधान, अपूर्ण विचार ने ग्रहण कर लिया है जिसमे विशेष सार नही है । वह ईश्वर जो सब महान् वस्तुओ से भी महान् है, 'महतो महीयान्' है, वह क्षुद्र से क्षुद्र कीडे-मकोडो मे वास करने मे भी किसी प्रकार की ग्लानि का अनुभव नही करता, और उसकी इस विनम्रता मे जो महान् निष्पक्षता अभिव्यक्त होती है, वह स्वय ही उसकी महत्ता की द्योतक है, यह भाव है, जो उस मूल पद मे निहित है । परन्तु तुम्हारे अनुवाद मे भी क्या ठीक यही भाव प्रकट होता है ?

'र' के अनुवाद के बारे मे भी मेरी यही धारणा है कि यह भी काफी सन्तोषजनक नही है । भाव यह है कि कर्म ज्ञान व शक्ति ईश्वर की आज्ञा का पालन करते है, और इस प्रकार उसकी सेवा करते है, परन्तु प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है, जो उसे अपने वश मे कर लेता है, क्योकि प्रेम आत्म-समर्पण करता है, और बदले मे ईश्वर अपने भक्त प्रेमी के लिए अपना स्वरूप प्रकट कर देता है । दूसरा पद तो बिल्कुल ही भाव रहित हो गया है । कीडे-मकोडो को घृणा की दृष्टि से न देखना, यह प्रकट नही करता कि उनसे घृणा न करने वाला ईश्वर है, ऐसा विचार सर्वथा अर्थशून्य और दुर्बलता का द्योतक है । प्रत्येक योगी मे, बल्कि योगी से नीचे की श्रेणी के व्यक्तियो मे भी यह समानता पायी जा सकती है । मूल भाव यह है भगवान् सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अनन्त व महान् होने पर भी अधम से अधम, क्षुद्र से क्षुद्र जीवो का शरीर धारण करने मे भी किसी प्रकार की घृणा का अनुभव नही करता, और उन्हे अपनी दिव्य उपस्थिति से जीवन व चैतन्य प्रदान करता है, इसी मे उसका ईश्वरत्व है । उसके अनुवाद मे यह भाव सर्वथा विनष्ट हो गया है ।

शैली की कविता के तुम्हारे अनुवाद मे शैली का भावार्थ इस प्रकार है ·

'मानवीय प्राणिक प्रेम एक दुर्बल व तुच्छ वस्तु है, वह असली प्रेम की जाली मुद्रा है, जिसे मैं तुम्हे समर्पण नही कर सकता । परन्तु सच्चा आध्यात्मिक प्रेम

जो पूर्ण श्रद्धा व भक्ति के रूप मे प्रकट होता है, इससे एक उच्चतर वस्तु है। साधारण मनुष्य क्षणिक चमक दमक के भुलावे मे इसकी कदर नही करते, परन्तु देवतागण इसे कभी अस्वीकार नही करते चाहे वह कैसे भी निकृष्टतर, पगु, अज्ञानी व दु ख सन्तप्त उस क्षुद्र मानवीय चेतना द्वारा क्यो न समर्पित की जाय, जिसकी दिव्य चेतना के साथ वही तुलना है जो जुगनू की तारे के साथ व रात्रि की दिन के साथ है और तुम जिसकी प्रकृति देवताओ की प्रकृति के समान है, जिसके अन्दर मुझे देवत्व व ईश्वरीय अश का प्रकाश दिखायी देता है, और जो हमारे दु ख व सताप के क्षेत्र से बहुत ऊपर प्रकाशमय व आनन्दमय प्रतीत होती हो, क्या मेरी इस भेट को ग्रहण न करोगी ?"

निस्सन्देह यह सब स्पष्ट शब्दो मे नही कहा गया है, परन्तु उसका तात्पर्य यही है, यही उसका असली भाव है, और इसी भाव से प्रेरित होकर मैंने एक दिन अमल को लिखा था कि समस्त अग्रेजी साहित्य मे इन आठ पक्तियो से जिनका तुमने अनुवाद किया है और ऊँची आध्यात्मिक प्रेरणा का उदाहरण मिलना शायद असभव है—। फिर भी मैं जो तुम्हारी आलोचना करता हूँ उसका कारण यही है कि मैंने तुम्हारे अन्दर किसी कविता के दूसरी भाषा के अनुवाद मे उसके मूल की आत्मा व भाव को कायम रखने की अद्भुत शक्ति देखी है, जिसकी मैं किसी अन्य अनुवादक से न आशा करता हूँ और न माँग करता हूँ—। एक अनुवादक मूल से आवश्यक रूप से बँधा हुआ नही होता, वह उससे प्रेरणा लेकर सर्वथा एक नयी कविता की रचना कर सकता है, और साधारणतया प्राय ऐसा ही होता भी है। परन्तु तुम्हारे अनुवाद इस बारे मे अपवादस्वरूप है, क्योकि बहुतो के लिए यह सभव नही है कि वे एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद करते हुए, और विशेषत ऐसी भाषा मे, जिसका स्वभाव दूसरी भाषा से सर्वथा भिन्न हो, जैसे कि अग्रेजी और बगला का है, मूल कविता की आत्मा, उसकी भाषा की विशेष शक्ति और उसकी शब्द-विन्यास शैली को कायम रख सके—।

कविता मे दर्शन से तुम्हारे मित्र का क्या अभिप्राय है ? निस्सन्देह यदि कोई ग्रीक एम्पीडोक्लीज व रोमन लुक्रेटियस के समान पद्य कविता मे आध्यात्मिक तर्क को व्यक्त करने का प्रयास करता है, तो उसका यह कार्य खतरे से खाली नही है, और यह उसे उस गद्यमय पद्य की तरफ ले जा सकता है जो कवितामय गद्य कम क्षम्य है। और कम खतरनाक ढग से भी दार्शनिक तत्वो की चर्चा करते हुए किसी व्यक्ति को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है, ताकि वह नीरस व क्लिष्ट न हो जाय। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि एक कोयल का वर्णन करते हुए कविता लिखना एक ब्रह्म के गुणो का वर्णन कविता मे करने की अपेक्षा कही अधिक सुगम है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि कविता मे उच्च विचार व सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नही है। कोई भी ऐसा उच्च

कोटि का कवि नही है, जिसने उच्च विचार व अध्यात्म चिन्तन का प्रयत्न न किया हो। शेली ने स्काइलार्क पर कविता लिखी है, परन्तु उसने ब्रह्म के बारे मे भी लिखा है। "नाना रग-बिरगे शीशो से जटित एक गुबज की तरह, जीवन शाश्वत के शुभ प्रकाश को नाना रगो मे रग देता है।" यह ऐसी ही सुन्दर कविता है, जैसी 'आनन्दमय आत्मा तुम्हारा स्वागत है" यह कविता है। और गीता व उपनिषदो मे कविता की ऊँची से ऊँची उडाने विद्यमान है। कविता को बाँधने वाले ये कठोर नियम सर्वथा अतिशयोक्तिपूर्ण व एकान्तिक है, और कोई ऐसा उपयुक्त कारण नही दिखायी देता जिससे कि कोई कवि अपने व्यक्तित्व की, अपनी आत्मा व अपने कवित्व प्रतिभाशाली मन की अभिव्यक्ति को 'तुम्हे यह न करना होगा' आदि निर्मूल निषेधो के आधार पर पगु, सकुचित, अवरुद्ध कर दे।

मैं यह कह सकता हूँ कि विशुद्ध प्राणिक कविता बहुत विलक्षण हो सकती है। यूरोप के बहुत से लोग आजकल कुछ ऐसा विचार करते प्रतीत होते है कि कविता प्राणिक आधार से ही लिखनी चाहिए (अर्थात् उसका स्रोत कवि के इन्द्रियानुभव होने चाहिए न कि विचार) तभी वह विशुद्ध कविता कहलाने योग्य है। प्राणिक स्तर के कवि जिन वस्तुओ का वर्णन करते है, उनकी जीवनी शक्ति तथा ऐन्द्रियक अनुभूति की अत्यन्त स्पष्टता, तथा लय व शब्द विन्यास की असाधारण शक्ति के साथ पकड लेते है, और कविता का रसास्वादन लेने वालो के लिए उन्हे प्रकट कर देते है। उनके अन्दर जिस वस्तु की प्राय कमी रहती है, वह कविता की इस शक्ति तथा अन्य शक्तियो (बौद्धिक, आध्यात्मिक व भावात्मक आदि) के बीच पूर्ण सतुलन का न होना है। उनके अन्दर कुछ ऐसी वस्तु होती है, जिसमे अतिशयता की गध का अनुभव होता है—जब उनकी प्रतिभा महान् होती है, तो उनकी अतिशयिता भी शानदार होती है—परन्तु फिर भी उनमे पूर्ण पूर्णता नही होती। —श्री अरविन्द

दिलीप,

पहली बात यह है कि श्रद्धा का आधार अनुभव नही है, अनुभव से पहले ही इसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। जब कोई योगाभ्यास की दीक्षा लेता है, तो वह अनुभव के बल पर नही, अपितु श्रद्धा के बल पर ही ऐसा करता है। और न केवल योग व आत्मिक जीवन मे ही यह बात लागू होती है, बल्कि हमारे साधारण जीवन मे भी यह इसी प्रकार सत्य है। सब अन्वेषक आविष्कारक व ज्ञान के निर्माता आदि कर्मशील व्यक्ति श्रद्धा से ही आगे चलते है, और जब तक उन्हे अपने विश्वास का पुष्ट प्रमाण नही मिल जाता व उनकी कार्य सिद्धि नही हो

जाती, तब तक वे लगातार निराशाओं असफलताओं असिद्धि व विरोधों का सामना करते हुए भी अपने प्रयत्नों को बराबर जारी रखते हैं, क्योंकि उनके अन्दर कोई वस्तु उन्हें बार-बार यह कहती है कि यही सत्य है और इसी का अनुसरण करना व प्राप्त करना उनका कर्तव्य है। श्री रामकृष्ण से यह प्रश्न करने पर कि क्या अन्ध श्रद्धा अनुचित वस्तु नहीं है, उन्होंने तो उनके उत्तर में यहां तक कहा है कि अन्ध श्रद्धा ही असली श्रद्धा है, क्योंकि श्रद्धा हमेशा अन्ध ही होती है, अन्यथा वह श्रद्धा कहलाने योग्य ही नहीं है वह कुछ और ही वस्तु है—उसे हम तर्कसिद्ध अनुभव, अनुभव सिद्ध विश्वास व प्रमाणित ज्ञान आदि किसी भी अन्य नाम से पुकार सकते हैं परन्तु उसे श्रद्धा नहीं कहा जा सकता।

अभी तक अनभिव्यक्त व अननुभूत किसी वस्तु के लिए हमारी आत्मा की अन्त साक्षी ही श्रद्धा है, जिसे हमारे अन्दर अवस्थित ज्ञाता आत्मा किसी प्रकार के बाह्य निर्देशों व प्रमाणों के अभाव में भी सत्य रूप से स्वीकार करने, अनुसरण करने व प्राप्त करने के योग्य अनुभव करता है। यह वस्तु उस समय भी हमारे अन्दर विद्यमान रह सकती है जब हमारे मन में कोई पूर्ण निश्चय नहीं होता, और जब हमारा प्राण उसके विरुद्ध संघर्ष करता है, विरोध प्रकट करता है, व उसके अस्तित्व से इन्कार करता है। ऐसा कौन-सा योगाभ्यासी है जिसे योगाभ्यास करते समय निराशा, असफलता, अविश्वास व अन्धकार की लम्बी अवधियों के बीच से न गुजरना पड़ा हो—परन्तु इन सबके बीच कोई एक वस्तु उसे सहारा दिये रहती है और उसके विरोध के बावजूद जारी रहती है, क्योंकि वह अनुभव करता है, और न केवल अनुभव करता है बल्कि जानता है कि वह जिस वस्तु का अनुसरण कर रहा है वह सत्य है। योग के लिए प्रेरित करने वाला मनुष्य की आत्मा में स्थित यही आन्तरिक विश्वास है कि ईश्वर विद्यमान है, और उसकी प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है तथा अन्य कोई वस्तु उसके मुकाबले में उपादेय नहीं है।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

मैंने 'सन्देह' के बारे में लिखना आरम्भ किया है, परन्तु ऐसा करते हुए भी मुझे यह सन्देह तंग कर रहा है कि कितने भी लम्बे-चौड़े लेख व अन्य प्रकार के प्रयत्न मनुष्य के इस शाश्वत सन्देह को, जो उसके स्वाभाविक अज्ञान का दण्ड है, क्या कभी समझाने में सफल हो सकते हैं? प्रत्यक्षतः उपर्युक्त ढंग से कुछ लिखने का अभिप्राय ६० से १०० पृष्ठ तक लिखना हो सकता है, परन्तु विश्वास कराने वाले १००० पृष्ठ भी 'सन्देह' को विश्वास नहीं दिला सकते। कारण, 'सन्देह' अपने ही लिए अपना अस्तित्व रखता है। इसका अपना कार्य ही सदा सन्देह करते

रहना है, और जब कोई विश्वास भी करा देवे तब भी सन्देह करते रहना ही इसका स्वभाव है। यह अपने आश्रयदाता के सन्मुख एक ईमानदार सत्यान्वेषक का बहाना करके उसे निरन्तर अपने लिए भोजन सामग्री जुटाने के लिए फुसलाता रहता है। यह शिक्षा है जो मैंने अपने व दूसरो के मन के अनुभवो से प्राप्त की है, 'सन्देह' के इस भूत से पिण्ड छुडाने का एकमात्र साधन विवेक-बुद्धि को सत्य व असत्य की कसौटी मानना है, और इसकी सरक्षा मे स्वतन्त्रता व उत्साहपूर्वक अनुभव के द्वार को खोलना है।

यह सब होते हुए भी मैंने लिखना प्रारम्भ किया है, परन्तु मैं सन्देह से प्रारम्भ नही करूँगा, अपितु ईश्वर की माँग को एक स्पष्ट निश्चित सत्य मानकर किसी भी इन्द्रिय-ग्राह्य भौतिक घटना की तरह स्थूल सत्य मानकर उससे प्रारम्भ करूँगा। नि सन्देह भौतिक जगत् मे श्रवणेन्द्रिय से सुनने लायक, वह स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श करने योग्य किसी भी भौतिक पदार्थ की सत्यता के निश्चय की तरह, बल्कि इससे भी बढ़कर ईश्वरीय सत्ता की सत्यता मे ठोस निश्चय की आवश्यकता है, परन्तु वह निश्चय मानसिक विचार की निश्चिन्तता नही है, अपितु तात्विक अनुभूति की निश्चितता है। जब ईश्वरीय शान्ति का निर्मल प्रकाश तुम्हारे ऊपर पडता है, जब भगवान् तुम्हारे अन्दर उपस्थित होता है, जब आनन्द समुद्र की तरह उमडकर तुम्हे आप्लावित करता है, जब ईश्वरीय शक्ति के प्रश्वास द्वारा वायु के झोके के सामने पत्ते की तरह तुम उडाये लिये जाते हो, जब तुम्हारे अन्दर से सम्पूर्ण सृष्टि पर स्नेह की पुष्प-वृष्टि होती है, जब ईश्वरीय ज्ञान तुम्हे ऐसे दिव्य प्रकाश से आप्लावित कर देता है, जो इन सब पदार्थों को, जो पहले अन्धकारपूर्ण, शोकपूर्ण व अस्पष्ट प्रतीत होते थे, अपने प्रकाश से एक क्षण मे आलोकित व परिवर्तित कर देता है, जब समस्त विद्यमान जगत् एक सत्ता का अश बन जाता है, जब आध्यात्मिक स्पर्श द्वारा, अन्तर्दृष्टि द्वारा आलोकित पश्यन्ती बुद्धि द्वारा, प्राणिक अनुभूति द्वारा और यहाँ तक कि भौतिक इन्द्रियो द्वारा भी तुम इसे अपने चारो तरफ एक साथ अनुभव करते हो जब सब जगह तुम्हे ईश्वरीय सत्ता के ही दर्शन, श्रवण व स्पर्श का अनुभव होने लगता है, तब तुम दिन के प्रकाश, वायु व सूर्य आदि उन स्थूल इन्द्रियगोचर विषयो की तरह, जिनके अस्तित्व का प्रमाण तुम्हारी स्थूल इन्द्रियों का अनुभव ही है, ईश्वरीय सत्ता मे भी किसी प्रकार का सन्देह व उसकी सत्ता से इनकार नही कर सकते परन्तु ईश्वरीय सत्ता के ठोस अनुभवो मे सन्देह असम्भव है।

जहाँ तक आध्यात्मिक अनुभवो की स्थिरता का सम्बन्ध है, शुरू से ही प्रारम्भिक आध्यात्मिक अनुभवो की चिरस्थायिता की आशा नही की जा सकती, बहुत कम व्यक्तियो के लिए ही ऐसा सभव है, और उनमे भी इतनी अधिक तीव्रता सदा नही रहती, बहुतो के लिए अनुभव आता है और फिर तब तक पर्दे के

पीछे जाकर प्रतीक्षा करता रहता है जब तक कि मानुषीय अश इसे ग्रहण करने व इसकी दृष्टि को मजबूती से पकडने व अन्तत इसे चिरस्थायी बनाने के लिए तैयार नही हो जाता। परन्तु इसी आधार पर उसकी सत्ता मेसन्देह करना सर्वथा अयुक्ति पूर्ण है। हवा का प्रवाह हर समय तेजी के साथ प्रवाहित न होने के कारण अथवा सन्ध्या व उषाकाल के बीच रात्रि के आ जाने के कारण कोई भी वायु व सूर्य की सत्ता मे सन्देह नही करता। कठिनाई इस बात मे है कि साधारण मानवीय चैतन्य के लिए आध्यात्मिक अनुभव एक अनियमित वस्तु के रूप मे प्रकट होता है जबकि वास्तव मे वह नियमातीत होता है। इस दुर्बल व सीमित नियमितता के लिए गुरू मे इस महत्तर व तीव्रतर नियमातीत का स्पर्श भी एक कठिन वस्तु प्रतीत होती है अथवा यह उसे अपने मानसिक व प्राणिक अनुभव के स्थूलतर तत्व के अनुसार मन्द कर देता है, और जब आध्यात्मिक चैतन्य अपनी पूर्ण आक्रामक शक्ति के साथ अन्दर प्रविष्ट होता है, तो प्राय यह उसे सहन नही कर सकता, और यदि सहन भी कर लेता है, तो उसे ग्रहण व धारण नही कर सकता। परन्तु फिर भी अनन्त सत्ता के विरुद्ध मन द्वारा बनायी गयी अवरोधक दीवार मे जब एक वार निश्चित दरार हो जाती है तो वह दरार कभी धीरे-धीरे और कभी तेजी से बढती चली जाती है, यहाँ तक कि अन्त मे किसी दीवार का अस्तित्व ही नही रहता, और तभी चिरस्थायिता कायम हो जाती है।

परन्तु यह निश्चयात्मक अनुभव तब तक नही हो सकते, व चैतन्य की एक नयी स्थिति की स्थिरता—जिसमे यह अनुभव साधारण रूप धारण कर ले, तब तक प्राप्त नही की जा सकती, जब तक कि मन बीच-बीच मे अपनी रुकावटो, पूर्व धारणाओ व अज्ञानपूर्ण सिद्धान्तो का दखल देता रहता है, अथवा वह ईश्वरीय सत्ता के निश्चय पर एक आपेक्षिक सत्य की तरह तर्क, सन्देह और अज्ञान के अन्य साज-सामान द्वारा पहुंचने की चेष्टा करता है। यह उच्चतर वस्तुएँ केवल एक शात की हुई और आध्यात्मिक अनुभवो की ओर धैर्यपूर्वक लगायी हुई चैतन्य के क्रमिक विकास द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यदि तुम यह पूछो कि ईश्वर ने इसे इन अत्यन्त असुविधाजनक आधारो पर क्यो रखा है, तो यह एक निरर्थकप्रश्न है, क्योकि यह वस्तुओ की प्रकृति द्वारा आरोपित एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के अतिरिक्त और कुछ नही है। कारण यह है कि ईश्वर सम्बन्धी अनुभव मानसिक रचनाएँ नहीहै, न यह प्राणिक चेष्टाएँ है, अपितु तात्विक वस्तुएँ है, यह केवल विचार की वस्तुएँ नही है, परन्तु ऐसी वास्तविकताएँ है, जिनका मन द्वारा अनुभव न होने पर भी हमारे मूल तत्व व आधारभूत सार मे जिनकी अनुभूति होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि मन हर समय विद्यमान हे, और जब चाहे दखल दे सकता है, यह ईश्वरीय सत्ता के बारे मे स्वतन्त्र रूप से अपनी मानसिक कल्पना कर सकता है, और आध्यात्मिक सत्य के बारे मे चिन्तन, विश्वास, भाव-

नाएँ व मानसिक विचार बना सकता है। उस उच्चतर सत्य की यह एक प्रकार की मानसिक अनुभूति भी प्राप्त कर सकता है, जो मानसिक अनुभूति, अपनी सामर्थ्यानुसार उच्चतर सत्य का एक प्रकार का रूप हमारे सामने उपस्थित करती है। और इस सबका कुछ न कुछ मूल्य भी अवश्य है, परन्तु फिर भी यह गभीर व असदिग्ध नही है। मन अपने आप मे अन्तिम निश्चय करने मे असमर्थ है। यह जिस चीज मे विश्वास करता है, उसी मे सन्देह कर सकता है, जिसे वह स्वीकार करता है, उसी से वह इनकार कर सकता है, जिसे वह ग्रहण करता है, उसे ही त्याग सकता है और त्याग भी देता है। यदि तुम चाहो तो इसी को उसकी स्वतन्त्रता, और उसका पवित्र अधिकार—विशेषाधिकार कह सकते हो। उसकी प्रशसा मे अधिक से अधिक तुम इतना ही कह सकते हो। परन्तु मन के इन उपायो द्वारा तुम (भौतिक घटनाओ की पहुँच से परे, और वहाँ भी मुश्किल से ही) किसी भी ऐसी एक वस्तु तक, जिसे अन्तिम निश्चित सत्य कहकर पुकारा जा सकता है, पहुँचने की आशा नही कर सकते। इसी प्रबल कारण से यह स्वीकार करना पडता है कि ईश्वरीय सत्ता के बारे मे मानसिक कल्पना व खोज ईश्वरीय सत्ता तक पहुँचाने मे सर्वथा असमर्थ है। यदि हमारी चेतना उन क्षुद्र मानसिक गतियो तक ही सीमित रहती है, जो साधारणतया हमारी नाना प्रकार की प्राणिक चेष्टाओ, इच्छाओ, पूर्व-धारणाओ व अन्य ऐसी वस्तुओ से, जो मानवीय चिन्तन को दूषित कर देती है, सम्बद्ध रहती है, तो बुद्धि व तर्क की स्वाभाविक अपूर्णता को एक तरफ रखते हुए भी—एक नव ज्ञान, मौलिक अनुभव और आत्मा के गभीर व विशाल आरोहण अथवा अवतरण के लिए क्या गुजाइश हो सकती है? अपनी क्रियाओ मे फँसे हुए मन के लिए यह निस्सदेह सम्भव है कि कभी वह एकदम आकस्मिक आध्यात्मिक अनुभव की बाढ से आप्लावित होकर आश्चर्यचकित हो जाये व अप्रतिभ होकर उसके प्रवाह मे बहता हुआ कही का कही जा पहुँचे। परन्तु यदि बाद मे वह फिर शकाएँ करने लगे—सन्देह करने लगे, व नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प मे उलझ जाए कि यह क्या वस्तु है, और यह सत्य है या नही, तो उस दशा मे आध्यात्मिक शक्ति के लिए इसके सिवाय और क्या मार्ग रह जाता है कि वह पीछे हट जाये और मन के इन बुलबुलो के विलीन होने की प्रतीक्षा करे।

जो व्यक्ति बौद्धिक मन को ही आध्यात्मिक अनुभव का भी एक मात्र निर्णायक व मापक मानते है, मैं उनसे एक सीधा सा प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि क्या ईश्वर मन की अपेक्षा हीनतर है, अथवा उससे महत्तर है? क्या मानसिक चैतन्य, अपनी अधेरे मे टटोलने व खोजने की शक्ति, अन्तहीन युक्ति कभी शान्त न होने वाले सन्देह, कठोर व शुष्क तर्क के साथ ईश्वरीय चैतन्य से बढकर है या उसके बराबर भी है अथवा यह अपने कार्य व पद मे उससे हीनतर वस्तु है? यदि

वह इसने महत्तर है, तो ईश्वर की खोज के लिए प्रयत्न ही निरर्थक है। यदि वह उसके समान है तो आध्यात्मिक अनुभव सर्वथा अनावश्यक है। परन्तु यदि यह उसने हीनतर है, तो यह ईश्वर का मुकाबला किस प्रकार कर सकता है, और उसके बारे मे कोई निर्णय कैसे दे सकता है ? यह ईश्वर को अपनी अदालत मे एक दोषी व साक्षी के रूप मे कैसे पेश कर सकता है ? अथवा परीक्षको की समिति के सम्मुख प्रवेश के लिए एक उम्मीदवार की तरह कैसे उपस्थित कर सकता है ? अथवा सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के नीचे एक क्षुद्र कीटाणु की तरह कैसे उसकी परीक्षा कर सकता है ? क्या प्राणधारी पशु अपने प्राणिक सहज-सस्कारो, स्मृतियो व मूल प्रवृत्तियो को निर्भान्त मापदण्ड और पदप्रदर्शक मानकर उनके द्वारा ही मनुष्य के मन की व्याख्या कर सकता है और उसके बारे मे कोई निर्णय दे सकता है, अथवा उसकी गहराई का पता लगा सकता है ? वह ऐसा कदापि नही कर सकता, क्योकि मनुष्य का मन एक महत्तर शक्ति है जो जीवधारी पशुओ के प्राणिक चैतन्य की अपेक्षा कही विस्तृत व पेचीदा रूप मे कार्य करती है। जीवधारी प्राणिक चैतन्य उसका अनुसरण नही कर सकता। इसी प्रकार यह देखना क्या कठिन है कि मानवीय मन की अपेक्षा ईश्वरीय चैतन्य एक ऐसी अत्यन्त विस्तृत व जटिल वस्तु है, जो उससे कही महत्तर शक्तियों व प्रकाशो से परिपूर्ण है, और जो इस प्रकार कार्य करती है कि मन अपने भ्रान्त तर्क तथा सीमित अर्द्ध-ज्ञान के मापदण्ड द्वारा उसकी व्याख्या करने, उसके बारे मे किसी प्रकार का निर्णय देने व उसकी गहराई को मापने मे असमर्थ है ? यह सीधा-सादा सत्य है, कि तन ओर आत्मा एक ही वस्तु नही है, और एक योगी को, यदि वह ईश्वर के निरन्तर व अविच्छिन्न ससर्ग मे रहना चाहता है, तो आध्यात्मिक चैतन्य मे प्रवेश करना पडता है (यहाँ मैं अतिमानस की तनिक भी बात नही कर रहा हूँ)। इस प्रकार यह कोई ईश्वरीय वहस या अत्याचार नही है, जो वह मन को इस बात के लिए मजबूर करता है, कि वह अपनी सीमा व बन्धनो को समझे, अपने आपको शान्त करे, झूठे दावो को त्याग दे, और अपने स्तर पर जिस मन्द प्रकाश मे वह विद्यमान है, उससे एक उच्चतर आलोक के लिए अपने-आपको खोल दे, और उसके आगे आत्मसमर्पण कर दे।

इसका यह अभिप्राय कदापि नही है, कि आध्यात्मिक जीवन मे मन का कोई स्थान ही नही है। इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि वह एक ऐसा मुख्य साधन भी नही हो सकता, ऐसी निर्णायक सत्ता होना तो दूर की बात है कि जिस के निर्णय के आगे सबको—यहाँ तक कि भगवान् को भी झुकना चाहिए। मन को उस वृहत्तर चैतन्य से, जिसकी तरफ यह पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, न कि अपने मापदण्ड को उस पर लादना चाहिए, इसे प्रकाश को ग्रहण करना है, उत्कृष्टतर सत्य के आगे खुलना है, और एक ऐसी महत्तर

शक्ति की सत्ता को स्वीकार करना है, जो मानसिक निर्देशो व नियमो के अनुसार कार्य नही करती, और अपने-आपको उसके चरणोमे समर्पित करते हुए अपने अस्फुट झिलमिले प्रकाश को उसकी दिव्य ज्योति से आप्लावित करना है जिससे कि जहाँ वह पहले अन्धा था वहाँ देख सके। जहाँ बहरा था वहाँ सुन सके, और जहाँ जड था वहाँ अनुभव कर सके और जहाँ वह परेशान, अनिश्चित, सन्देहशील व निराश प्रतीत होता था वहाँ वह प्रसन्नता, परिपूर्णता, निश्चितता तथा शान्ति का अनुभव करने लगे।

यह स्थिति है, जिस पर योग प्रतिष्ठित है, यह स्थिति, जब से भी मनुष्य ने ईश्वर की खोज के लिए प्रयत्न किया है, तभी से निरन्तर अनुभव के ऊपर अवलम्बित है। यदि यह सत्य नही है, तो योग मे भी कोई सत्य नही है, न योग की कोई आवश्यकता ही है। परन्तु यदि यह सत्य है, तो उसी आधार पर, उसी वृहत्तर चैतन्य की आवश्यकता के दृष्टिकोण से हम यह देख सकते है कि आध्यात्मिक जीवन के लिए सन्देह की कोई उपयोगिता है, या नही ? आध्यात्मिक जिज्ञासु से किसी भी वस्तु-विशेष मे या प्रत्येक वस्तु मे विश्वास की माँग नही की जाती। इस प्रकार की अविवेकपूर्ण व दुर्बल सहज विश्वासशीलता न केवल अबौद्धिक होगी, अपितु सर्वथा अनाध्यात्मिक भी होगी। आध्यात्मिक जीवन के प्रत्येक क्षण मे जब तक उसे निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है, ताकि वह वास्तविकआध्यात्मिक सत्य और उसकी प्रतीयमान आत्यात्मिक नकल मे भेद कर सके अथवा मन व प्राणिक इच्छाओ द्वारा आध्यात्मिक सत्य के रूप मे उपस्थित किये गये जाली सिक्को से बच सके। ईश्वरीय सत्यो तथा आसुरी अनृतो के बीच भेद करने की क्षमता योग के लिए परम आवश्यक है। प्रश्न यह है कि क्या यह कार्य सन्देह के निषेधात्मक व विनाशात्मक उपाय द्वारा उत्कृष्ट रूप मे सम्पादित किया जा सकता है, जो प्राय मिथ्या का हनन कर देता है, परन्तु साथ ही उसी निष्पक्ष प्रहार के साथ सत्य को भी रद कर देता है ? अथवा कोई अन्य ऐसी सुस्पष्ट निर्माणात्मक सहायता देने मे समर्थ तथा उज्ज्वल प्रकाशयुक्त अन्वेषक शक्ति पायी जा सकती है जो अपने स्वाभाविक अज्ञान से अभिभूत न होकर सत्य व मिथ्यात्व पर समान रूप से सन्देह की तलवार से व इनकार के डण्डे से प्रहार न करती हो ? मानसिक विश्वासो मे विवेक का अभाव आध्यात्मिकता व योग की शिक्षा नही है, वह श्रद्धा जिसकी योग चर्चा करता है, वह एक स्थूल मानसिक विश्वास नही है, अपितु आत्मा का अपने अन्दर अवस्थित पथप्रदर्शक प्रकाश मे विश्वास है, जो विश्वास तब तक कायम रहना आवश्यक है, जब तक कि वह प्रकाश उसे ज्ञान मे प्रविष्ट नही करा देता।

—श्री अरविन्द

गुरु !

अनातोले फ्राम के दो मसखरे मे निर्लज्ज हँसोड ब्रोतो ने पूज्यनीय पादरी फादर लीग मेजर के समक्ष परमात्मा को लक्ष्य करके इस प्रकार कटाक्ष किया है

"या तो ईश्वर बुराई को रोक देता यदि वह रोक सकता, परन्तु वह रोक न मका, अथवा वह रोक सकता था परन्तु वह रोकना नही चाहता था, अथवा न तो वह रोक सकता था न वह रोकना ही चाहता था, और या वह दोनो अर्थात् रोकना भी चाहता था और रोक भी सकता था। यदि वह रोकना चाहता था परन्तु वैसा करने मे असमर्थ था तो वह नपुसक है, यदि वह रोक सकता था परन्तु रोकना नही चाहता था तो वह दुष्ट है। यदि वह न रोक सकता था, न रोकना चाहता था, तो वह नपुसक होने के साथ-साथ ही दुष्ट भी है, और यदि रोकने मे भी समर्थ है, और रोकना भी चाहता है, तो पिता ! वह ऐसा क्यो नही करता ?"

मै उसका यह व्यग्य इसलिए आपके पास भेज रहा हूँ, क्योकि मैने इसमे बडा रस लिया है, और आशा करता हूँ कि आप भी लेगे और इसका उचित निराकरण भी करेगे।

—दिलीप

दिलीप,

अनातोले फ्राम के व्यग्य हमेशा ही मनोरजक होते है, चाहे वह ईश्वर या ईसाई मत के विरुद्ध कटाक्ष करे, अथवा बुद्धियुक्त मनुष्य नामधारी पशु या उसकी बुद्धि व व्यवहार की मूर्खताओ के प्रति। परन्तु मेरे विचार मे व्यग्योक्ति केस वर्ग मे जब अनातोले फ्रास की ईश्वर से भेट हुई, तब ईश्वर ने उसे अपनी दखलदाजी न करने का जो कारण प्रकट किया वह शायद तुमने नही सुना। मेरा ख्याल है—मृत्यु मे पूर्व फ्रास के मन-परिवर्तन के बावजूद उसकी ईश्वर से यह भेट कार्ल मावर्स के स्वर्ग मे नही हुई होगी। ऐसा सुनने मे आया है कि परमात्मा स्वय चलकर उसके पास पहुचा और इस प्रकार कहा —'अनातोले, तुम्हारा वह व्यग्य वास्तव मे बडा सुन्दर है, परन्तु मेरी दखलदाजी न करने का एक विशेष कारण है। बुद्धि मेरे पास आयी और कहने लगी—"इधर देखो, तुम अपनी सत्ता का दभ क्यो करते हो ? तुम जानते हो कि तुम न पहले कभी विद्यमान थे, न अब विद्यमान हो, और यदि तुम विद्यमान भी हो तो तुमने सृष्टि मे ऐसी गडबड मचा रखी है कि हम अब और एक क्षण भी तुम्हे सहन नही कर सकते। एक बार तुम्हे कान पकडकर बाहर निकाल देने पर पृथ्वी पर सब स्वय बिलकुल ठीक हो जाएगा, मेरी विज्ञान नामक कन्या व मैने मिलकर यह तय कर लिया है। मनुष्य नामक

प्राणी जो सृष्टि का सिरताज है, शान के साथ अपना मस्तक ऊँचा करके स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व व प्रजातन्त्र की स्थापना करेगा, वह किसी पर आश्रित न रहकर स्वय सारी सृष्टि का एकच्छत्र मालिक बनेगा। पृथ्वी पर न कोई ईश्वर होगा, न देवता होगे, न कोई पुरोहित व पादरी होगे, न धर्म होगा, न राजा होगे, न अत्याचार होगा, न गरीबी व दरिद्रता होगी, न किसी प्रकार की लडाई व झगडे होगे। उद्योग पृथ्वी को बहुतायत व समृद्धि से भरपूर कर देंगे, व्यापार कलह को मिटाने वाले अपने सुनहरे पखो को चारो दिशाओ मे फैला देगा, सार्वभौम शिक्षा अज्ञान का नाश कर देगी और किसी भी मनुष्य के मस्तिष्क मे मूर्खता व अज्ञान का कोई अश न रहने पाएगा। मनुष्य सभ्य अनुशासित, बुद्धिवादी, वैज्ञानिक व बहुज्ञाता होकर पर्याप्त सामग्री के आधार पर हमेशा सत्य परिणाम पर पहुँचा करेगा। वैज्ञानिको व विशेषज्ञो का सर्वत्र बोलवाला होगा और वे मनुष्य जाति को पार्थिव स्वर्ग तक पहुँचाने के लिए उसका नेतृत्व करेंगे। वह एक सर्वथा पूर्ण समाज होगा, जिसमे सुदृढ स्वास्थ्य रक्षा के लिए नियमो के ज्ञान तथा सुसमृद्ध औषधिविज्ञान की सहायता से सब मनुष्य स्वस्थ होगे, प्रत्येक कार्य बुद्धि द्वारा होगा। विज्ञान का यहाँ तक विकास होगा कि उसके निर्णय निर्भ्रान्त सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ होगे, जीवन की पहेली हल हो जाएगी, मनुष्यो की लोकसभा कायम होगी, विश्वसघ की स्थापना होगी, और वह सृष्टि-विकास, जिसकी मनुष्य अन्तिम सर्वोत्तम रचना है, और शानदार गौराग जाति मे जिसका चरमोत्कर्ष होता है, उससे एक मानवीय करुणा का स्रोत निकलकर पिछडी हुई काली, पीली व भूरी जातियो के भटके हुए भाइयो का उद्धार करेगा, और सर्वत्र शान्ति, वुद्धि, नियम व एकता का राज्य होगा।" अनातोले! इसी प्रकार और भी बहुत-कुछ उसने कहा, और मै उपयुक्त चित्र की सुन्दर छवि व सरलता को देखकर अत्यन्त मुग्ध और प्रभावित हुआ क्योकि मुझे कुछ भी करना-धरना न होगा, और मैंने तत्काल अपना कार्य छोडकर सन्यास ग्रहण कर लिया। कारण, तुम जानते हो कि मैं सदा से ही सकोची प्रकृति का रहा हूँ, और हमेशा ही पर्दे के पीछे रहकर ही कार्य करना पसन्द करता हूँ। परन्तु मैं यह क्या सुन रहा हूँ ? मुझे जो सूचना मिल रही है उससे पता लगता है कि बुद्धि ने विज्ञान का आश्रय लेकर भी अपने वचन का पालन नही किया है। और यदि नही, तो क्यो नही किया ? क्या यह इसलिए है कि वह ऐसा नही करना चाहती, या वह ऐसा नही कर सकती ? अथवा यह इसलिए है कि वह ऐसा करना भी नही चाहती और न कर सकती है, और या यह इसलिए है कि वह करना भी चाहती है और कर भी सकती है परन्तु किसी कारण से उसने नही किया है ? और अनातोले! मैं कहता हूँ कि राष्ट्र, उद्योगवाद, पूजीवाद आदि उनकी सन्तानो की एक विचित्र शक्ल दिखायी देती है, वे बहुत-कुछ उन भयकर दैत्यो के समान प्रतीत होते है जो

बुद्धि की समस्त शक्तियो व विज्ञान के समस्त शस्त्रास्त्रो व व्यूहरचना से लैस है। यह स्पष्ट दिखायी देता है कि उनके शासन मे भी मनुष्य-जाति राजाओ व पादरियो के शासन से अधिक स्वतन्त्र नही है। हुआ क्या है? या यह सभव है कि बुद्धि सर्वोच्च व निर्भ्रान्त नही है, और उसने मुझसे भी कही अधिक गडबड मचा रखी है!!!" उनके परस्पर वार्त्तालाप की रिपोर्ट यहाँ समाप्त हो जाती है, तुम स्वय ही इसका मूल्य आँक सकते हो। मैंने जैसा अनातोले फ्रास से सुना है, उसी रूप मे उसे यहाँ उद्धृत कर दिया है, क्योकि मैं स्वय उस 'ईश्वर' से परिचित नही हूँ।

—श्री अरविन्द

गुरु!

आपने लिखा है कि शॉ की आत्मश्लाघा (ह्यूगो की तरह) बुरी लगने वाली चीज नही है, क्योकि यह साथ ही मुस्कराते हुए आत्मपरिहास से भी पूर्ण है, यह एक ऐसा व्यग्य है जो जान-बूझकर की हुई आत्मप्रशसा के रूप मे अपने व समस्त ससार के ऊपर एकदम प्रहार करता है। यह आश्चर्यजनक बात है कि बहुत से आदमी शॉ के इस आत्मश्लाघा व आत्मप्रशसा के गुण को, जो उसका वास्तविक विनोद है, ग्रहण नही कर पाते। परन्तु फ्रैंक हैरिस के शॉ के विरोध के बारे मे आपकी क्या राय है?

उदाहरण के लिए उसने अपने पूर्व सहकर्मी व स्तुत्य साथी की अपनी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित जीवनी मे लिखा है कि "आज से पचास वर्ष बाद विश्वकोष मे लिखा होगा बर्नार्ड शॉ—रोदा द्वारा निर्मित आश्चर्यजनक प्रस्तर मूर्ति, अन्यथा सर्वथा अज्ञात।" एक और बात, वेल्स की सम्मति जो उसने माँ की सोवियत रूस के प्रति देवोपम श्रद्धा पर अपने ब्राडकास्ट मे प्रकट की थी कि "वे शॉ के व्याख्यान केवल उसके सुन्दर व आश्चर्यजनक अग्रेजी उच्चारण के लिए ही सुनते थे, इसके अतिरिक्त और किसी प्रयोजन से उसे कौन सुनता था?"

—दिलीप

दिलीप,

मेरा सम्मति मे हैरिस की शॉ सम्बन्धी आलोचना को किसी गभीर रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता ठीक उसी तरह जैसे वेल्स का यह विनोद कि उसके अन्दर अग्रेजी उच्चारण की विशेषता के अतिरिक्त और कोई आकर्षक वस्तु नही है। वेल्स, चेस्टर्टन, शॉ व अन्य लेखक एक-दूसरे पर प्राचीन कलकत्ते के काबिवालो (प्रतिद्वन्द्वी बाजारू कवियो) की तरह वार करते है, यद्यपि उनके शस्त्र उनकी अपेक्षा अधिक शिष्ट व उन्नत है और उनके विनोदपूर्ण आक्रमणो को तुम उनकी

दृढ सम्मति नही कह सकते, और यदि तुम ऐसा करते हो तो तुम सुन्दर विनोदो को गंभीर निरर्थकता मे परिणत कर देते हो। इस बात पर गौर करो कि इन आक्रमणो मे उनका तरीका, भाषा की शैली, और बुद्धि-चातुर्य की प्रणाली कुछ वैयक्तिक परिवर्तनो के साथ शॉ से ही उधार ली हुई है। कारण, इस प्रकार का व्यग्य-विनोद जो पवन के समान हलका और असिधारा के समान तीक्ष्ण है, परिहासमय चुटकुलो और विरोधाभास से पूर्ण है, प्राय दिखावटी गभीरता व सभ्य अतिशयोक्तियो से सुवासित है, और जो हास्य के साथ ही चोट करने वाला भी है, उसका मूल स्रोत अग्रेजी साहित्य नही है, यह शॉ और वाइल्ड इन दो आयरिश व्यक्तियो द्वारा ही अग्रेजी साहित्य मे लाया गया है। हैरिस की रोदा मूर्ति सम्बन्धी आलोचना व वेल्स का कटाक्ष दोनो ही शेवियन शैली पर ही किये गए है, वे अपने गुरु पर उसके ही व्यग्य-शस्त्र से आक्रमण करके अपने चातुर्य का प्रदर्शन कर रहे है। शॉ की साहित्यिक ख्याति के बारे मे हैरिस का कटाक्ष गभीर भी हो सकता है, क्योकि उसके अन्दर एक अन्धकारपूर्ण व प्रचण्ड पशुता विद्यमान थी जिससे ऐसी सभावना हो सकती है, परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य उस जमाने के महापुरुष पर चातुरीपूर्ण प्रबल आक्रमण करके अपनी ख्याति को ही चिरस्थायी बनाना था। शॉ ने इस बात को अच्छी तरह जानते हुए कि वह क्या लिखेगा, स्वय ही अपने समालोचक को आलोचना की सामग्री प्रदान की थी और अपनी ख्याति पर इस निन्दक आक्रमण को स्वय ही प्रकाशित भी किया था, जोकि आयरिश जाति के स्वभाव के सर्वथा अनुकूल कार्य है, जिसमे वीरता और विचित्र-विनोद दोनो का ही एक साथ समावेश है। मेरे खयाल मे लेखक के अतिरिक्त मनुष्य के रूप मे हैरिस शॉ के बारे मे बहुत कम जानकारी रखता था, एक अग्रेज़ मे आयरिश चरित्र और आयरिश हास्य रस को समझने की क्षमता का साधारणतया अभाव होता है, क्योकि यह उसकी प्रकृति से सर्वथा भिन्न है और शॉ सर्वतोभावेन आयरिश है, उसके अन्दर कुछ भी अग्रेजपना नही है, सिवाय इसके कि वह अग्रेजी भाषा मे लिखता है और उस भाषा को भी उसने आयरिश सरलता, प्रवाह, तीक्ष्णता व स्पष्टता मे परिवर्तित कर दिया है। अलबत्ता वाइल्ड की तरह उसने इसमे आयरिश कविता व रग का समावेश नही किया है। शॉ की गभीरता व उसका हास्य रस, वास्तविक गभीरता व नकली गभीरता एक-दूसरे मे इस प्रकार घुल-मिल जाती है, कि उनका पृथक्करण असभव हो जाता है। यह शैली पूर्णरूप से आयरिश है, क्योकि पूर्ण गम्भीर होते हुए भी विनोद की भाषा का प्रयोग तथा अत्यन्त गम्भीरता का प्रदर्शन करते हुए पूर्ण मजाकिया परिहास करना यह जन्मजात आयरिश प्रकृति है और अग्रेज जनता को इसके कारण इतना हैरान व परेशान होना पडा है कि वह काफी समय तक यह निश्चय ही नही कर पाई कि वह उसे किस रोशनी मे ले। प्रारम्भ मे उन्हो ने उसे एक विदूषक समझा, जो

टोपी और घटी के साथ नाचता है और उसके बाद एक नये प्रकार का मखौल उडानेवाला यहूदी पैगम्बर व कट्टर सुधारक समझा। लेकिन यह कहने की आवश्यकता नही कि उनकी यह दोनो ही धारणाएँ सर्वथा भ्रान्तिमूलक थी। आयरिश व्यक्ति एक तरफ अपने प्राणिक पहलू मे भावुक, कल्पनाशील, प्रेमास्पद, व अत्यन्त तरगी तथा जोशीला होता है, वह कविता व प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए सदा उद्यत रहता है, क्रोध व दुख से प्रेरित होकर आक्रमण व वीरतापूर्ण जोश से भर उठता है, हसरत-भरे स्वप्न देखता है और तीक्ष्ण व मुक्तहस्त परिहास करने के लिए सदा तैयार रहता है। और दूसरी तरफ वह तीक्ष्ण बुद्धि वाला, निर्माणात्मक स्पष्ट वक्ता तथा उथली व धुधली भावुकता व गम्भीर छद्मता से घृणा करने वाला है और अपने अन्दर उनकी प्रतीति से बचने के लिए पग-पग पर व्यग्य व परिहास का आवरण धारण करता है, यह विनोदप्रियता उसके लिए आवरण व कवच का कार्य करती है। मूलत उसके अन्दर किसी आदर्श के लिए कर्टियस की तरह अथाह खाई मे कूद पडने का साहस होता है, वह आदर्शवादी होता है, डान कियोटे की भाँति समयानुसार अपने स्वप्नो की पूर्ति के लिए लडने को उद्यत रहता है, वह उच्च आदर्शो की स्थापना के लिए सघर्ष करनेवाला एक लापरवाह, विद्रोही, परन्तु प्राय चतुर व सफल साहसिक होता है। शॉ के अन्दर यह सभी गुण विद्यमान है और साथ ही शान्त बुद्धि की स्पष्टता भी विद्यमान है—जो आयरिश चरित्र की एक और विशेषता है। परन्तु जिसका प्रयोग इस प्रकार नही किया जाता, कि वह इस सब पर प्रभुत्व कायम कर ले व इसकी तीव्रता को मन्द कर दे और इसमे सन्तुलन व समता कायम कर दे, उसके अन्दर समस्वप्ता ले आये। इसके परिणामस्वरूप, चमकीली व सयत अग्निशिखा की एक ऐसी प्रशान्त लौ है जो ऊपर खेलती है, तथा जिस पर आक्रमण करती है और जिसे नष्ट करती है, उसे ही अपने तीव्र आलोक द्वारा आलोकित कर देती है और जिस प्रकार से वह उसे प्रकाशित करती है उसी से वह उसे विनष्ट कर देती है। उग्रता से नही, अपितु सफाई से काटती हुई एक काटनेवाले विनोद के साथ, जो कि आक्रामक और घातक होता है। व्यग्य-परिहास का आडम्बर आक्रमण को ढक देता है और अपने विरोधी को बचाव के लिए असावधान कर देता है। यही कारण है कि अग्रेज मनोवृत्ति शॉ को कभी भी ठीक तरह से नही समझ पाई पर फिर भी शॉ ने उस पर पूरी तरह काबू पा लिया है और उसकी व्यापारोन्मुख कट्टर धार्मिक नैतिकता तथा प्राचीन रुढियो के दुर्भेद्य कवच को और रानी विक्टोरिया के जमाने के लोगो की अपने-आपको पुण्यात्मा समझने और अपने जीवन के ढग को सबसे उत्तम समझने की प्रवृत्ति को शॉ व उसके साथियो ने व्यग्य के प्रहारो से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। कोई भी व्यक्ति जो विक्टोरिया-युग के इग्लैण्ड की जानता है और आज के इग्लैण्ड से उसकी तुलना करता है, स्पष्ट

रूप से इस परिवर्तन को देख सकता है और उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता और इस परिवर्तन को लाने व सभव बनाने मे शॉ के प्रयत्न को किसी प्रकार भी अस्वीकार नही किया जा सकता। इसीलिए मैं उसे विनाशकारी (किसी जाहिरा महान् आपत्ति के अर्थ मे नही) कहकर पुकारता हूँ, क्योकि यह एक शान्त परन्तु तीक्ष्ण रूप का विनाश है। उसने इन सब रूढियो की उपज को व्यग्य, कटाक्ष और विनोदपूर्ण तीव्र गम्भीरता की दराँती से बडी सरलता के साथ काटकर जमीन पर डाल दिया है। उसकी इस व्यग्य-गम्भीरता को हम प्रभावकारी कहते है, परन्तु इसके परिणाम इतने भयानक परिवर्तन लाने वाले है कि उन्हे केवल प्रभावकारी ही नही कहा जा सकता।

शॉ को जहाँ तक मैंने समझा है, उसका ठीक चित्र इसी प्रकार है, और मेरे विचार से मेरे अन्दाज़ मे कोई विशेष गलती भी नही है। हम शान्तिवाद, समाजवाद और अन्य इसी प्रकार के विषयो पर उसकी सचाई के बारे मे कोई शिकायत नही कर सकते, यह केवल वह बाह्य रूप है, जिसमे वह अपने उन स्वप्नो को जिनके लिए वह सघर्ष करता है, मूर्त रूप देता है। उसकी आयरिश प्रकृति उसे ऐसा करने के लिए विवश करती है। अज्ञान व अव्यवस्था, यह शॉ के लिए हौवा है, एक ऐसी मानवता जो प्राणिक भ्रमो, मिथ्या कल्पनाओ व धोखेबाजियो से मुक्त हो, जो बुद्धि व तर्क के आधार पर जीवन-शक्ति का सगठन करे और जो मूर्खता व अपव्यय को दूर करने का भरसक प्रयत्न करे, यही उसका प्रिय स्वप्न है। परन्तु उसका यह स्वप्न, जिस रूप मे वह उसे पूरा करना चाहता है, पूरा होना सम्भव नही है, क्योकि बुद्धि के भी अपने भ्रम है और यद्यपि उसने अपने बौद्धिक आदर्शो की कैद से बचने का पूर्ण प्रयत्न किया है व व्यग्य-आलोचनापूर्ण परिहास के मार्ग द्वारा उससे भाग निकलने की पूरी कोशिश की है परन्तु फिर भी वह उसमे आबद्ध हुए बिना नही रह सका। उसकी आत्मश्लाघा के बारे मे, मेरा ऐसा विचार है कि वह अवश्य ही अपनी कदर करता था—और प्रत्येक सार्वजनिक योद्धा को एक कर्मशील व्यक्ति की तरह लडने अथवा कार्य करने के लिए इसकी आवश्यकता होती है। यद्यपि सब नही, परन्तु उनमे से बहुत से अपनी इस आत्मश्लाघा को विनम्रता के पर्दे के नीचे ढकने का प्रयत्न करते है, परन्तु इसके विपरीत शॉ ने इसे अमर्यादा व परिहास के उच्च शिखर पर पहुँचाने का मार्ग ग्रहण किया है। यह औरो का ध्यान अपनी तरफ खीचने के लिए उसकी नीति का एक अश है और साथ ही अपने ऊपर परिहास करने का एक तरीका है। इससे मेरा अभिप्राय विश्लेषणात्मक आत्मपरिहास से नही है, अपितु आयरिश तरीके के विचित्र आत्मपरिहास से है—जिसमे कि जहाँ वह अपने-आपको सीधा रख सके, वहाँ साथ ही अपने श्रोताओ का परिहास कर सके। यह सर्वथा आयरिश ढग का परिहास है कि शान्त व स्थिर स्वर मे फिजूल व अयुक्तियुक्त बातो का इस प्रकार वर्णन करे

जैसे कि किसी गम्भीर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा हो, हास्यरस की आयरिश अतिशयोक्ति जिसे फ्रांसीसी लोग Pince-sansrire कहते हैं और उसकी आत्मप्रशसा की अतिशयोक्तियाँ वास्तव मे इसी हास्य रस की गन्ध से व्याप्त होती है। यदि उसकी शेक्सपीयर के साथ अपनी बेहूदा तुलना को मुसकान-शून्य शुष्क गम्भीरता के रूप मे ही लिया जाए, तो उसे या तो एक निर्बुद्धि गधा, अथवा विनोदशून्य गर्व का दैत्य ही कहकर पुकारा जा सकता है, परन्तु बर्नार्ड शॉ इन दोनो मे से कोई भी नही है।

साहित्य मे उसके स्थान के बारे मे मैंने अपनी सम्मति प्रकट कर दी है, परन्तु और भी स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि मेरी राय मे एक बार रण-दुन्दुभि के शान्त हो जाने पर और युद्ध की अग्नि बुझ जाने पर भी साहित्य ने उसका स्थान बना रहेगा यद्यपि बहुत बडा स्थान नही। उसने सामयिक सघर्षों की तरफ इतना अधिक ध्यान दिया है कि जिससे भविष्य मे शायद वह बहुत बड़े हिस्से पर दावा न कर सके। मेरे विचार मे उसके कुछ नाटक भी उच्चतर नाट-कीय गुणो की अपेक्षा अपने चुटकुले, व्यग्य, परिहास और निपुणता के लिए गोल्डस्मिथ, शैरीडन व वाइल्ड इन तीनो आयरिश नाटककारो के समान ही चिरजीवी रहेगे। उसकी भूमिकाएँ अपनी शैली व शक्ति के कारण जीवित रह सकती हैं, परन्तु यह कुछ निश्चित नही है। जो भी हो, उसके लेखो के विलुप्त हो जाने पर भी उसका व्यक्तित्व नही भुलाया जा सकता। अनातोले फ्रांस के साथ उसकी तुलना करना व्यर्थ है। उन दोनो के मन सर्वथा भिन्न है और वे दोनो सर्वथा ऐसे विभिन्न क्षेत्रो मे विचरण करते हैं कि उनकी तुलना किसी प्रकार भी सम्भव नही है।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

शॉ की शैली के अन्दर मैं एक प्रकार की आनन्ददायक विशेषता पाता हूँ और इस बात के लिए शॉ का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उसकी लेखन-शैली अन्य लेखको से इतनी भिन्न है कि किसी समाचारपत्र मे उसकी एक साधारण-सी मुला-कात का विवरण पढने मे भी एक विशेष बौद्धिक आनन्द का अनुभव होता है। इस बात मे तो सन्देह का कोई स्थान ही नही है कि वह अपने युग के सबसे उत्कृष्ट मौलिक व्यक्तियो मे से एक है। परन्तु मेरे विचार से उसमे जो कमी है, वह यह है, कि उसका मन रचनात्मक व निर्माणात्मक नही है। परन्तु कमजकम कुछ क्षेत्रो मे उसकी आलोचना-शक्ति, विशेषत मनुष्यो व मनुष्य-जीवन के आलोचक के रूप मे अत्यन्त महान् है और उस क्षेत्र मे हम एक अर्थ मे उसे निर्माणकर्ता भी कह सकते हैं, इस अर्थ मे कि उसने जीवन की आलोचना के लिए एक असाधारण

प्रभावोत्पादक व जीवित शैली की सृष्टि की है। यह कोई नाटक नही है, परन्तु यह एक मौलिक व दृढ वस्तु है जो अपनी किस्म की एक ही चीज है—इसलिए उस सीमा तक मैं अपने इस कथन को कि शॉ निर्माणकर्त्ता नही था, सशोधित कर देना चाहता हूँ।

समय का रुख काफी देर तक उसकी सामर्थ्य व इच्छा-शक्ति के कारण उसके अनुकूल रह चुकने के बाद, अब उसके विरुद्ध जा रहा है, परन्तु फिर भी इस सत्य से कोई इनकार नही कर सकता कि वह अपने युग के अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि व शक्तिशाली मनुष्यो मे से है, उसमे वस्तुओ को एक नए रूप से देखने की मौलिक शक्ति है, जिसका और कोई मुकाबला नही कर सकता। उसका मन ऐसा अन्तर्भेदी व सच्चा है, कि वह किसी भी बौद्धिक मत से बँधा नही रह सकता और किसी सप्रदाय का कट्टर अनुयायी नही हो सकता। जब वह किसी 'वाद' मे सशोधन करने वाली कोई चीज देखता है, तो चाहे वह 'वाद' वही क्यो न हो, जिसके वह स्वय पक्ष मे है, वह वैसा ही कह देता है। उससे आदर्श के कमजोर होने की कोई सभावना नही है, बल्कि इसके विपरीत वह उसे और अधिक लचीला व क्रियात्मक बनाने मे सहायक हो सकता है।

— श्री अरविन्द

दिलीप,

साधना मे मानवीय प्रेम के बारे मे पहले कुछ लिखना चाहता हूँ। आत्मा के प्रेम व भक्ति द्वारा ईश्वर की ओर प्रेरित होने के लिए उस प्रेम का भी ईश्वरीय होना आवश्यक है। परन्तु चूँकि शुरू मे बाह्य अभिव्यक्ति का साधन मानवीय प्रकृति ही है, इसलिए यह मानवीय प्रेम और भक्ति का ही रूप होता है। और ज्यो-ज्यो चैतन्य गभीर होता जाता है, उच्चतर होता है, व परिवर्तित होता है, त्यो-त्यो ही उसमे महत्तर शाश्वत प्रेम बढता है, और यह स्पष्ट रूप से मानवीय प्रेम को ईश्वरीय प्रेम के रूप मे परिवर्तित कर देता है ··।

तुम उस समृद्ध मानवीय अह-केन्द्रित या स्वार्थ पर जीवन का जिक्र करते हो, जिसे तुम व्यतीत कर सकते थे, और कहते हो—"यह सर्वथा घृणित व दयनीय जीवन नही था, जैसाकि आप भी स्वीकार करेंगे।" सुनने मे यह अत्यन्त चमकीला व सन्तोषप्रद मालूम देता है, जैसा कि तुम स्वय कहते हो। परन्तु इसमे सिवाय उन मनुष्यो के लिए जो बहुत साधारण व तुच्छ है और जिनके सामने अन्य कोई उच्च आदर्श नही है। कोई वास्तविक व चरम सन्तोष नही है, और वे मनुष्य भी वास्तव मे सन्तुष्ट व सुखी नही हो पाते, और अन्त मे यह उन्हे थकाने व उबानेवाला महसूस होने लगता है। शोक, दुख, बीमारी, लडाई-झगडे, निराशा, भ्रम-निवृत्ति व अन्य अनेक प्रकार के मानवीय कष्ट इसकी

चमक-दमक को नष्ट कर डालते है, और तब विनाश व मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नही दीखता। यही प्राणिक अह-केन्द्रित जीवन है, जैसाकि युग-युगान्तर से मानव ने इसे पाया है, और फिर भी तुम्हारी प्राणिक सत्ता का यह अश इसी के लिए हसरत रखता है? जब तुम केवल मानवीय चैतन्य की वाछनीयता पर इतना बल देते हो, तो यह बात तुम्हारी दृष्टि से किस प्रकार ओझल हो जाती है कि दुख-कष्ट ही इसका सूचक चिह्न है? जब प्राण मानवीय चैतन्य से ईश्वरीय चैतन्य मे परिवर्तन का विरोध करता है तो वह अपने दुख, कष्ट व शोक-सताप के अधिकार की व उससे सम्बद्ध अन्य वस्तुओ की ही हिमायत करता है, यद्यपि बीच-बीच मे निस्सन्देह आशिक व क्षणिक रूप से कुछ प्राणिक व मानसिक सुख व तृप्तियो द्वारा उसे कुछ परिवर्तन व विश्रान्ति का अनुभव हो जाता है। जहाँ तक तुम्हारा सम्बन्ध है, पहले से ही यह तुम्हे नीरस प्रतीत होने लगा था और इसीलिए तुम इससे विमुख हो गये। निस्सन्देह उस जीवन मे भी बुद्धि व कलात्मक रचना के आनन्दो की अनुभूति थी, परन्तु एक व्यक्ति केवल कलाकार ही नही हो सकता, उसके साथ बाह्यवर्ती निम्नतर प्राणिक अश भी है, और कुछ अपवाद-स्वरूप व्यक्तियो को छोडकर प्राय सब मे साधारणतया वही अश प्रबल व शक्तिशाली होता है। परन्तु तुम्हारे अन्दर वह कौन वस्तु थी, जो असन्तोष का अनुभव करती थी? सबसे प्रथम यह तुम्हारे अन्दर अवस्थित आत्मा थी, और इसके द्वारा उच्चतर मन व उच्चतर प्राण था।[1]

मानवीय प्राणिक चैतन्य सदा ही इन दो ध्रुवो के बीच घूमता रहा है। साधारण जीवन जो कि सन्तुष्ट नही कर सकता और इससे परागमुख होकर तामस जीवन के हल की तरफ जाता है। भारत ने इन दोनो विरोधी स्थितियो का पूरा अनुभव लिया है। यूरोप पूर्ण परीक्षण के बाद एक बार फिर इस प्राणिक अह-केन्द्रित जीवन की विफलता का अनुभव करने लगा है ·।

यदि मनुष्य मे ईश्वर-प्राप्ति के लिए सच्ची लगन है, तो उसका तात्कालिक प्रेरक भाव, जो उसके प्राण व मन को उस तरफ धकेल रहा है, चाहे जो भी क्यो न हो, वह अन्तत उसे ईश्वरोपलब्धि तक पहुँचा देगा। हमारे अन्दर अवस्थित आत्मा मे ईश्वर-प्राप्ति के लिए एक अहैतुकी अभीप्सा विद्यमान है, इसके लिए कोई हेतु या विशेष प्रेरक भाव केवल एक प्रेरणा ही है, जिसे कि वह अपने मन व प्राण की न्तरिक प्रेरणा का अनुसरण करने के लिए प्रयुक्त करता है।

---

१ श्री अरविन्द उन प्रवृत्तियो को निम्नतर प्राणिक प्रवृत्तियो के नाम से पुकारते है, जो इच्छाओ, वासनाओ व अह बुद्धि से उत्पन्न होती हैं, और वे प्रवृत्तियाँ जो सृजनात्मक कार्यो, वीरता, शौर्य व उदारता के लिए प्रेरणा देती है, उन्हे 'उच्चतर प्राणिक प्रवृत्ति' कहकर पुकारते है।

यदि मन और प्राण ईश्वर के प्रति आत्मा के अहैतुक प्रेम को अनुभव व स्वीकार करते हैं, तब साधना पूर्ण शक्तिशाली हो जाती है और बहुत-सी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं, परन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते, तब भी वे जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, उसे ईश्वर में उपलब्ध कर लेंगे, और इसके द्वारा वे मूल वासनाओं की सीमा का अनुभव व उसका उल्लंघन भी करने लगेंगे—मैं कह सकता हूँ कि आनन्द-रहित ईश्वर की कल्पना निरर्थक है, जो सिर्फ मन के अज्ञान की उपज है। राधा का प्रेम किसी ऐसी वस्तु पर आधारित नहीं है, इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में चाहे जो भी कठिनाइयाँ आवें—सुख या दुःख, मिलन या विरह, और कष्टों की अवधि चाहे कितनी ही लम्बी क्यों न हो परन्तु राधा-प्रेम विचलित नहीं होता, और प्रेम के उत्कृष्ट लक्ष्य के प्रति अपनी श्रद्धा व निश्चय को ध्रुव की तरह अटल बनाये रखता है।

लेकिन अन्तत यह आनन्द क्या वस्तु है ? मन इसमे एक सुखद मनोवैज्ञानिक स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकता—परन्तु यदि वह केवल इतना ही है, तो भक्त व योगी जन जिस भावावेश का अनुभव करते हैं, वह यह नहीं हो सकता। जब तुम्हारे अन्दर आनन्द का प्रवेश होता है, तो एक प्रकार से ईश्वर ही तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट होता है, ठीक इसी प्रकार जैसे कि जब तुम्हारे अन्दर शांति बह आती है, तब भी वह ईश्वर ही तुम्हें आक्रान्त करता है, अथवा जब प्रकाश तुम्हें आप्लावित करता है, तब भी वह ईश्वरीय आलोक ही तुम्हें चारो ओर से घेर रहा होता है। निस्सन्देह ईश्वर इससे बहुत अधिक है, और उसमे अनेक अन्य बातो का समावेश है, और इन सबके अतिरिक्त वह एक सर्वव्यापक सत्ता है एक दिव्य व्यक्तित्व है, क्योंकि ईश्वर ही कृष्ण है, वही शिव है वही जगन्माता है। परन्तु 'आनन्द' के द्वारा तुम आनन्दमय कृष्ण का भी दर्शन कर सकते हो, क्योंकि आनन्द ही कृष्ण का सूक्ष्म शरीर व सत्ता है, शान्ति के द्वारा शांतिमय शिव का साक्षात्कार कर सकते हो, प्रकाश मे व मुक्ति देने वाले ज्ञान से, प्रेम में और पूर्ण करने वाली व ऊपर उठाने वाली शक्ति मे तुम दिव्य माता के दर्शन कर सकते हो। यही वह अनुभूति है जिससे भक्तो व योगियो के अनुभव अखण्ड आनन्दमय हो जाते है, और इसके द्वारा वे विरह और दुःख की कालरात्रि को सुगमता से व्यतीत कर सकते हैं जब इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार होने लगता है, तो यह क्षणिक व लघु आनन्द को भी एक ऐसी शक्ति व मूल्य प्रदान कर देता है, जो अन्यथा सर्वथा असंभव है, और इसके द्वारा स्वयं आनन्द में भी स्थायी होने व पुनः लौटने तथा समृद्ध होने की बढ़ती हुई शक्ति आ जाती है।

मैं रमेन्द्र के आक्षेपों का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकता। क्योंकि ईसाइयो व यहूदियो की तरह ईश्वर के बारे मे मेरी यह कल्पना कभी भी नहीं हुई कि वह

कोई वाह्य सर्वशक्तिमान सत्ता है, जिसने ससार को उत्पन्न किया है, और एक निरकुश राजा की तरह इसका शासन करती है। मेरी तीस वर्ष की साधना का मेरा अनुभव व दर्शन इस कल्पना का खण्डन करते है। सब नास्तिको के आक्षेप उपर्युक्त कल्पना को ही लक्ष्य करके किये गए है, यूरोप मे नास्तिकवाद एक उथले ओछे स्थूल धर्मवाद व इससे सबधित साधारण जन प्रचलित, अनुपयुक्त और युक्ति-शून्य कट्टर धार्मिक स्थापनाओ के विरुद्ध एक वैसी ही उथली व ओछी प्रतिक्रिया मात्र है। परन्तु जब मै ईश्वरीय इच्छा (सकल्प) की चर्चा करता हूँ, तो उससे मेरा अर्थ इससे कुछ भिन्न होता है। मेरा अभिप्राय उस शक्ति से है, जो इस अज्ञानमय विकासशील जगत् मे उतरी है, और वस्तुओ के पीछे अवस्थित होकर, अन्धकार को अपने प्रकाश से धीरे-धीरे दूर कर रही है, अज्ञानमय ससार की परिस्थितियो मे वस्तुओ को यथासभव उत्कृष्टतम की तरफ ले जा रही है, और अन्तत इसे महत्तर ईश्वरीय शक्ति के अवतरण तक पहुँचाती है। वह ऐसी सर्वशक्तिमत्ता नही होगी, जो कही रुकी हुई हो और वर्तमान ससार के नियमो से सीमित हो, परन्तु यह पूर्णतया क्रियाशील होगी और इसलिए प्रकाश, शान्ति समस्वरता, प्रसन्नता, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द के राज्य को स्थापित करेगी, परन्तु यह (ईश्वरीय सकल्प) तभी व्यक्त होता है, जबकि मनुष्य अज्ञान के राज्य मे मे निकल कर प्रकाश के राज्य मे विकसित होता है, और इसका दखल प्राय कितना ही आश्चर्यजनक होने पर भी यह एक मनमानी इच्छा नही है, अपितु यह उन्नति मे सहायक है और एक ऐसा प्रकाश है, जो मार्गप्रदर्शन करता है और अन्त मे मुक्ति प्रदान करता है। यदि हम ससार के तथ्यो को उनके वर्तमान स्वरूप मे देखे और आध्यात्मिक अनुभवो पर गौर करे, जिनमे से किसी की भी उपेक्षा नही की जा सकती, व किसी की सत्ता से इनकार नही किया जा सकता, तो मेरी समझ मे नही आता कि इसके सिवाय ईश्वर और क्या वस्तु हो सकता है। यह ईश्वर भले ही हमे प्राय अन्धकार मे से ले जावे, क्योकि अन्धकार ही हमारे अन्दर है और हमारे चारो तरफ भी विद्यमान है, परन्तु इसमे हमे तनिक भी सन्देह नही करना चाहिए कि वह हमे प्रकाश की तरफ ही ले जा रहा है अन्य किसी वस्तु की ओर नही।

—श्री अरविन्द

गुरु।

कृष्ण प्रेम, जिनके पत्र मैं भेज रहा हूँ, मेरे घनिष्ठ मित्र हैं। उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है वे एक उच्च धनी अग्रेज परिवार से है। उनका पहला नाम रोनल्ड निक्सन है। उन्होने कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से मनोविज्ञान व नीतिशास्त्र मे ऑनर्स के साथ डिग्री प्राप्त की थी। दर्शनशास्त्र के सुयोग्य व गभीर विद्यार्थी

के रूप मे प्रथम परिचय मे ही उनका वेदान्तशास्त्र से प्रेम हो गया, और उसी के कारण उन्होने भारत को अपनी आध्यात्मिक मातृभूमि के रूप मे स्वीकार कर लिया। प्रारम्भ मे वह लखनऊ विश्वविद्यालय मे अग्रेजी के उपाध्याय पद पर नियुक्त होकर यहाँ आये, लेकिन थोड़े ही दिन बाद पवित्र बनारस नगर के आकर्षण से आकृष्ट होकर उन्होने उस लोभनीय मोटी तनख्वाह वाले पद को हिन्दू विश्वविद्यालय के अल्प वेतन वाले उपाध्याय पद के लिए त्याग दिया। अन्त मे उन्होने वहाँ से भी त्यागपत्र दे दिया और अपनी सारी कमाई व सचित धन पाई-पाई करके दान कर दिया, और अलमोडा मे एक निर्धन वैष्णव के रूप मे आश्रय लिया। अब वे वही पर सर्वत्यागी श्री माताजी की शरण मे एक छोटे से आश्रम मे निवास करते है, जिन श्री माताजी ने भी अपना सब सासारिक वैभव परिवार, महल और सर्वस्व श्रीकृष्ण के चरणो मे अर्पण कर दिया है। वहाँ उन्होने अपना पुराना रोनल्ड नाम बदल कर 'कृष्णप्रेम' रख लिया है।

—दिलीप

२२ जनवरी, १९२७
लखनऊ

प्रिय दिलीप,

तुम एक बार फिर यूरोप-यात्रा पर जा रहे हो ? मेरी हार्दिक कामना है कि भाग्य तुम्हारा सहायक हो—मैं यह स्वीकार करता हूँ कि 'आदेश' (ईश्वरीय आज्ञा) के बारे मे, जिसका कि श्री रामकृष्ण ने निर्देश किया है, मेरे विचार स्पष्ट नही है। मुझे इस बात का निश्चय नही होता कि कोई महानतम कार्य अज्ञात रूप से नही किया जाता है, अथवा वह केवल इसीलिए किया जाता है, क्योकि उसके कर्ता की उसे करने के लिए तीव्र इच्छा है। निस्सन्देह इस तीव्र इच्छा को ही 'आदेश' कहा जा सकता है, परन्तु उस अवस्था मे क्या यह विवाद कुछ निरर्थक-सा नही हो जाता ? अवश्य ही शैली, वर्ड्सवर्थ, ब्लेक आदि बहुत से कवि एक प्रकार के आदेश का अनुभव करते थे, परन्तु शेक्सपीयर, बायरन, स्कॉट, चौसर आदि ऐसे भी अनेक कवि है, जिनके बारे मे ऐसे किसी आदेश की कल्पना मे सन्देह है। बल्कि एक अर्थ मे यह कल्पना खतरे से भी भरी हुई है (चाहे जिस क्षेत्र मे भी इसका प्रयोग क्यो न किया जाए) क्योकि यह मनुष्य के अहकार को, और—'मैं कुछ कार्य विशेष कर रहा हूँ' इस भाव को तीव्र करती है। अन्तत 'किसी लक्ष्य विशेष के लिए कार्य करने वाले मनुष्य' को क्या हम मानवता की सबसे अधिक उबानेवाली श्रेणी का व्यक्ति नही पाते, और हमारी सहज-बुद्धि क्या इस विषय मे सभवत सही नही है ? निस्सन्देह यह उत्तर दिया

जा सकता है कि 'लक्ष्य-विशेष के लिए कोई कार्य करने वाले मनुष्य' से मेरा तात्पर्य 'मिथ्या लक्ष्य' व 'मिथ्या आदेश' के लिए कार्य करने वाले मनुष्य से है ·· परन्तु यह एक कठिन समस्या है ·। और फिर एक और प्रश्न भी उपस्थित होता है कि क्या श्री रामकृष्ण का उपर्युक्त निर्देश ऐसे व्यक्ति के बारे मे नही है जो 'दूसरो की सहायता करना' चाहता है, दूसरो को प्रभावित करना चाहता है और दूसरो की सेवा करना चाहता है ? परन्तु क्या एक महान कलाकार दूसरो से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध रखता है ? क्या वह कला की रचना केवल इसी-लिए नही करता कि वह ऐसा करने के लिए मजबूर है, ताकि जो उसके अन्दर है उसे व्यक्त करके वह हल्का हो जाए ? मैं इस बारे मे तुमसे सहमत हूँ कि आजकल हम कला की शक्ति को आवश्यकता से कही अधिक मूल्य देने लगे है, और यह समझने लगे है कि कला भी एक प्रकार की साधना या आध्यात्मिक दीक्षा है। परन्तु क्या वास्तव मे यह ऐसा ही है ? निस्सन्देह उत्कृष्ट कला किसी सीमा तक एक व्यक्ति को अपने आपसे बाहर ले जाती है और उसे देश-काल व परिस्थिति के बन्धन से मुक्त कर देती है (यद्यपि शायद मृदु व आलकारिक रूप मे ही)। परन्तु ऐसा तो और भी अनेक मनोरजनो द्वारा सभव है, यदि उन्हे तीव्र अनुराग से अनुसरण किया जाए। यह निस्सन्देह ठीक है कि उचित प्रकार से अनुसरण करने पर प्राय सभी क्रियाएँ साधना का अश बन सकती है। परन्तु यह सब कहने के वाद भी इस वात से इनकार नही किया जा सकता कि योग की साधना और कला की साधना मे अन्तर है। तुम कहोगे कि कलाकार या कम-से-कम कुछ कलाकार इस वात पर ज़ोर देते है कि कला भी साधना के रूप मे प्रयुक्त की जा सकती है। परन्तु इस कथन का उत्तर तो उसका विरोधी कथन ही है कि 'प्रत्येक वस्तु ही एक प्रकार की साधना है' (उदाहरण के लिए कुरुक्षेत्र का युद्ध)। इसके उत्तर मे कला-प्रेमी लोग दुखित स्वर मे यह कहेगे कि कला हमारे जीवन को समृद्ध बनाती है। मैं इससे चकित हूँ। मैं कल्पना करता हूँ कि यह दावा करना कठिन न होगा कि कला आध्यात्मिक जीवन की स्थानापन्न है। उसकी प्रतिनिधि है। वेकन के शब्दो मे "वस्तुओ के वाह्य रूप मन के रग मे रँगे जाते हैं।' शैली ने कविता का लक्षण इस प्रकार किया, 'सर्वोत्तम व प्रसन्नतम मनो के सर्वोत्तम व प्रसन्नतम क्षणो का चित्रण ही कविता है।" यह कोई बुरी परिभाषा नही है। वल्कि वहुत-सी आडम्बरपूर्ण परिभाषाओ से कही बेहतर है। परन्तु क्या कोई गम्भीरतापूर्वक यह कह सकता है कि ऐसे चित्रो का सग्रह साधना के तुल्य है ? क्या यह कुछ आदर्शवादियो के दुर्बल अन्तर्राष्ट्रीयवाद की तरह ही सर्वथा अस्पष्ट नही है ? किसी समय मैं भी ऐसे ही अस्पष्ट आश्वासनो मे विश्वास रखता था, परन्तु अब मुझे यह सन्देह होने लगा है कि क्या यह सब वास्तव मे ही सन्तोष-दायक है, जैसा कि इसके वारे मे दावा किया जाता है ? जहाँ तक मेरा सम्बन्ध

है, यद्यपि मैं सब देशो के प्रति सहिष्णु हूँ पर मेरा वतन एक ही है और कहने मे यद्यपि यह कुछ विचित्र लगता है—वह इगलैण्ड नही अपितु भारत है। मेरी अपनी यह धारणा है कि परम्परागत विचारो व लोकाचारो की सम्पत्ति जिससे किसी जाति व राष्ट्र का निर्माण होता है एक ऐसी मूल्यवान् वस्तु है, कि जिसे कुर्बान करके लन्दन से लेकर योकोहामा तक समस्त ससार की परम्पराओ की एक खिचडी नही बनाना चाहिए। यदि हम अपने-आपको केवल यूरोप तक ही सीमित रखें (कम-से-कम पश्चिमी यूरोप तक) तो वह इससे भिन्न बात है, क्योकि वहाँ के लोकाचार बहुत-कुछ आपस मे मिलने-जुलते है, परन्तु क्या इगलैण्ड व भारत को केवल लोक-हित की भावना से बिना एक-दूसरे को सख्त हानि पहुँचाये, आपस मे मिलाया जा सकता है? जब किसी जाति की परम्परायें नष्ट होती है तो वह जाति ही विनष्ट हो जाती है, और यदि वह ससार मे एक महान् शक्ति के रूप मे विद्यमान भी रहती है, तो वह ऐसे निरर्थक व्यक्तियो के एक समूह के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो दृढतापूर्वक अपने घृणित उद्देश्यो की पूर्ति कर रहे है। इतिहास एक प्रतीक है और वह प्रतीक जिस तथ्य की ओर निर्देश करता है, वह तथाकथित घटनाओ के क्रम के साथ तुच्छतया चिपटे रहने की अपेक्षा लाखो दर्जे अधिक मूल्यवान् है। मूल-सत्य सब जगह एक ही है और वह शाश्वत तत्त्व है। जो कुछ उसे अभिव्यक्त करने मे सहायक है, वही सत्य है और जो कुछ उसे ढक देता है, वही मिथ्या है, चाहे ससार-भर के सब मूर्ख मनुष्य मिलकर भी उसका क्यो न प्रतिपादन करे।

तुम्हारा प्रीतिभाजन
रोनल्ड
(बाद मे कृष्णप्रेम)

८-११-२९
अलमोडा

प्रिय दिलीप,

'क' ने मुझे "मन के विकास द्वारा नित्य नवीन की खोज के बारे मे लिखा है"· जोकि मुझे (कला को साधना कहकर पुकारने के समान) एक इतनी अस्पष्ट भावना प्रतीत होती है, जिससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता। इसके अतिरिक्त मैं जिस वस्तु की खोज करना चाहता हूँ, वह 'नित्य नवीन' नही है, परन्तु वह'वे सनातन श्रीकृष्ण है, जो सदा एकरस रहने वाले है, जो कल थे, वही आज है और वैसे ही कल रहेगे, जो परिवर्तनो के बीच भी अपरिवर्तनशील है, और अपरिवर्तनशीलता मे भी जो परिवर्तित हो रहे है।"

दिलीप, मैं तुमसे सर्वथा सहमत हूं, मैं उन लोगो से कभी भी सहमत नही हो सकता जो विज्ञान व कला (अथवा सामाजिक कार्यो) मे योग-साधना को देखने का दावा करते है। यह सब एक प्रकार के अभ्यास व अनुशासन हो सकते हैं, परन्तु विज्ञानोपासक का बौद्धिक उत्साह व कलाकार का भावुक हर्षोन्माद, दोनो हो कायले की खान मे काम करने वाले श्रमिक के बहादुराना प्रयत्न, तथा विलासी के क्षणिक प्रेम की अपेक्षा योग के अधिक सन्निकट नही है। निस्सन्देह सच्चे योगी भी इनका अनुसरण कर सकते है, परन्तु साधारणतया वे ऐसा नही करते और ये तभी वास्तविक यौगिक साधना कहला सकती है, जब कोई योगी इसी उद्देश्य से इनका अनुसरण करे, परन्तु ऐसा करने मे बडी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। परन्तु चाहे ये साधना हो या न हो, लेकिन ये सब लीला के अश हैं, और लीला के जिस अश को जो कार्य सृष्टिकर्ता ने सौप दिया है, उसे वही कार्य करना चाहिए और इसलिए मैं उनकी या ईश्वरीय सृष्टि के किसी अश की भी कोई निन्दा या तिरस्कार नही करना चाहता। अन्तत जैसा गीता मे कहा है—"सदृश चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि" अर्थात् "हर कोई व्यक्ति, चाहे वह कैसा ही ज्ञानवान् भी क्यो न हो, अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है।" मनुष्य जो कार्य करता है, उसका वह कार्य योग नही है, परन्तु उसके कार्यों के प्रति उसकी जो अनुभूति है, वही योग है, अथवा और भी अधिक सचाई के साथ कहा जाय, तो उसके द्वारा जो कार्य सम्पादित किया जा रहा है, उसके बारे मे उसकी अनुभूति ही योग है।

मैं नही कह सकता कि किस भावना से प्रेरित होकर तुम्हे यह सब लिख डाला है, जबकि तुम्हारे लिए यह सब बाते इतनी स्पष्ट हो चुकी हैं कि उनका दोहराना निरर्थक है। मेरे खयाल मे अपनी जाति व परिवार के व्यक्ति से विचार-विनिमय करने मे जो एक विशेष आनन्द की उपलब्धि होती है, उसी भावना ने मुझे इसके लिए प्रेरित किया है।

प्रेमास्पद
कृष्णप्रेम

३ दिसम्बर १९२९
अलमोड़ा

प्रिय दिलीप,

गत पत्र मे विज्ञान व कला के बारे मे मेरी आलोचना के बारे मे तुम्हारी व्याख्या सर्वथा उपयुक्त है। मेरे कथन का अभिप्राय केवल इतना ही था कि ये सब वस्तुएँ अपने-आप मे योग के स्तर से सर्वथा भिन्न स्तर की वस्तुएँ है। पर्वत

के ऊँचे शिखर पर खड़े होकर एक कुत्ते व हाथी में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। योग इसी प्रकार का उच्च पर्वत है और जैसा गीता में एक स्थान पर कहा है, "योग का जिज्ञासु भी वेदों का अतिक्रमण कर जाता है" तो निश्चय ही वह विज्ञान व कला इत्यादि का अतिक्रमण कर जाता है। परन्तु तो भी जैसा मैं तुम्हें अनेक बार कह चुका हूँ, दिव्य लीला के अन्य अंगों की तरह मैं इनमें से किसी का भी तिरस्कार नहीं करता।

तुमने अपने पत्र में विज्ञान और योग में समझौते की आशा की बात लिखी है, परन्तु खेद है कि मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि वह दिन निकट ही आने वाला है जब वैज्ञानिक भी योगी हो जायेंगे। ऐसा क्यों सम्भव नहीं है, इसकी व्याख्या करने में बहुत देर लगेगी, परन्तु मैं यह अनुभव करता हूँ कि वर्तमान मनोविज्ञानशास्त्र का अन्तर्ज्ञानवाद (Subjectivism) निकट भविष्य में ही एक ऐसे पर्दे का निर्माण करेगा जो शिक्षित मनुष्यों को वास्तविक सत्ता के साक्षात्कार से, प्राचीन ढग के भौतिकवाद की अपेक्षा भी अधिक निश्चित रूप से वंचित कर देगा। यौगिक अनुभवों की भी इतने स्पष्ट रूप से व जाहिरा तौर पर विश्वसनीय ढंग से व्याख्या की जाएगी कि थोड़े ही इसके आगे टिक पाएँगे। तथापि सम्भव है कि मेरा विचार गलत हो और अभी वह समय न आया हो।

मैं श्री अरविन्द के कैंडविक को लिखे गये पत्र में वर्णित भारतीय व पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के अन्तर को, जिसका उन्होंने जीवन के प्रति पाश्चात्य व भारतीय दृष्टिकोण का अत्यन्त सुन्दरता व स्पष्टता के साथ भेद दिखाते हुए निर्देश किया है, पूर्ण रूप से स्वीकार करता हूँ। उदाहरणतः उन्होंने लिखा है "सम्पूर्ण यूरोपियन दार्शनिक विचारधारा, यहाँ तक कि उन विचारकों की भी, जो ईश्वर या परम सत्य सत्ता के अस्तित्व व स्वरूप को सिद्ध करने और उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं अपनी शैली व परिणाम में बुद्धि के क्षेत्र से आगे नहीं जाती। परन्तु बुद्धि चरम सत्य को जानने में असमर्थ है, यह सत्य की खोज करने के लिए इधर-उधर भटकती है और उसकी आंशिक झलक को ग्रहण कर सकती है, और उन्हें जोड़कर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करती है, परन्तु वह पूर्ण सत्य वस्तु को ग्रहण नहीं कर पाती। मन भी सत्य तक नहीं पहुँच सकता, वह उसे अभिव्यक्त करने के लिए केवल एक गढ़ी हुई तस्वीर या कई चित्रों का मिश्रण बना सकता है। इसलिए यूरोपियन विचार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अज्ञेयवाद में ही जाकर अन्त होता है। बुद्धि यदि सचाई के साथ अपने अन्त तक पहुँचने का प्रयास करती है, तो उसे लौट कर यही रिपोर्ट देनी पड़ती है— "मैं नहीं जान सकती, ऐसी कोई अन्तिम सत्य सत्ता अवश्य है, या होने की सम्भावना है, या अवश्य होनी चाहिए, जो मेरी पहुँच से परे है और जिसके बारे में मैं सिर्फ कल्पना मात्र कर सकती हूँ, यह सत्ता या तो सर्वथा अज्ञेय है, अथवा

मेरे द्वारा नही जानी जा सकती।" और यदि बुद्धि ने विकास के मार्ग पर चलते हुए उनके बारे मे ऊपर से कुछ प्रकाश उपलब्ध किया हो तो वह यह भी कह सकती है—"मन से परे शायद कोई चैतन्य है क्योकि उसकी झलक कभी-कभी मुझे दिखाई देती प्रतीत होती है और मै उससे सकेत भी पाती हूँ।" यदि वह चैतन्य परम सत्ता के सम्पर्क मे है, अथवा यदि यह स्वय ही उस दूरस्थ सत्ता का चैतन्य है और तुम उस तक पहुँचने का कोई मार्ग खोज सकते हो, तभी यह अज्ञात वस्तु जानी जा सकती है, अन्यथा नही।

'केवल बुद्धि के द्वारा चरम सत्य की खोज के प्रयास का अन्त या तो इस प्रकार के अज्ञेयवाद मे होता है, अथवा किसी बौद्धिकवाद या मन कल्पित सिद्धान्त मे होता है। इस प्रकार के सैकडो वाद व सिद्धान्त मौजूद है, और सैकडो ही और भी हो सकते हैं, परन्तु कोई भी निश्चयात्मक नही हो सकता। मन के लिए प्रत्येक वाद की अपनी कीमत हो सकती है, और विभिन्न वाद अपने भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी परिणामो के साथ समान शक्ति व योग्यता वाली बुद्धियो को समान रूप से प्रभावित करते रहते है। मानवीय मन को शिक्षित करने व उसके सन्मुख किसी ऐसी अन्तिम परम सत्ता का विचार उपस्थित करने मे जिसकी ओर इसका मुडना आवश्यक है, यह सब कल्पनात्मक प्रयास अपनी उपयोगिता रखता है परन्तु बौद्धिक तर्क केवल अस्पष्ट रूप से उक्त सत्ता की तरफ निर्देश करता है, अथवा अधेरे मे इसे टटोलता प्रतीत होता है, अथवा इस ससार मे इसकी अभिव्यक्ति के आशिक व परस्पर-विरोधी पहलुओ की ओर निर्देश करने की कोशिश करता है, वह न तो इसके अन्दर प्रवेश ही कर सकता है, न इसे जान ही सकता है। जब तक हम केवल बुद्धि के राज्य मे विचरण करते है, तब तक जिस वस्तु के बारे मे हम विचार करते है, व जिसकी खोज मे हम लगे हुए हैं, उसके बारे मे निष्पक्ष विचार, विचारो का, सब सभव विचारो का निरन्तर विकास व इस या उस दार्शनिक विश्वास, सम्मति व निश्चय का निर्माण, यही सब हम कर सकते हैं। किसी भी विस्तृत व लचीली बुद्धि के लिए सत्य की इस प्रकार निष्पक्ष खोज ही एकमात्र सभव रुख है। परन्तु इस प्रकार जिस परिणाम पर भी पहुँचा जाएगा, वह केवल कल्पनात्मक ही होगा, इसका कोई आध्यात्मिक मूल्य न होगा, जिस निर्णयात्मक अनुभव व आध्यात्मिक निश्चय को हमारी आत्मा खोजने का प्रयत्न करती है वह यह नही दे सकती। यदि अतिभौतिक (Supraphysical) सत्य पर पहुँचने के लिए बुद्धि ही हमारा सबसे अधिक विकसित साधन है, और इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है तब एक बुद्धिमत्तापूर्ण विशाल अज्ञेयवाद ही हमारा अन्तिम रुख होना चाहिए। अभिव्यक्ति मे आने वाली वस्तुएँ किसी सीमा तक जानी जा सकती है, परन्तु परम तत्व व जो वस्तु भी मन की पहुँच से परे है, वह सदा अज्ञात ही बनी रहेगी।

"यदि मन से परे कोई अन्य महत्तर चैतन्य विद्यमान है और उस चैतन्य तक पहुँचना हमारे लिए सम्भव है, तभी हम अन्तिम सत्ता को जान सकते है, और उसमे प्रवेश कर सकते है। क्या वास्तव मे ऐसा महत्तर चैतन्य है या नहीं, इसके बारे मे बौद्धिक कल्पना व तर्क हमे बहुत दूर तक नही ले जा सकते। इसके लिए हमे इसका अनुभव करने, इस तक पहुँचने इसके अन्दर प्रविष्ट होने व निवास करने के मार्ग की खोज की आवश्यकता है। यदि हम इसमे सफल हो जाएँ, तो बौद्धिक कल्पना व तर्क बहुत गौण वस्तु हो जाती है, और उनकी आवश्यकता ही नही रह जाती। दर्शनशास्त्र, जो सत्य की बौद्धिक अभिव्यक्ति है, कायम रह सकता है, परन्तु वह इस महत्तर खोज और इसके उन अंगो को, जो मानसिक शब्दो मे प्रकट किये जा सकते है, उन मनुष्यो के सन्मुख, जो मानसिक बुद्धि के क्षेत्र मे विचरण करते है, प्रकट करने के साधन रूप मे ही कायम रह सकता है।

"इससे ब्रैडले आदि पाश्चात्य विचारको के बारे मे, जो बुद्धि द्वारा 'विचार से परे अन्य वस्तु' की सत्ता तक पहुँचे है, अथवा ब्रैडले के समान जिन्होने उक्त सत्ता के बारे मे अपने निर्णय ऐसे शब्दो मे प्रकट किए है, जो 'आर्य' के कुछ वाक्यो की व्याख्या की याद दिलाते है, उन सबके बारे मे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। यह विचार अपने-आप मे कोई नया विचार नही है, यह इतना ही पुराना है, जितने वेद। और इसी विचार को बौद्ध धर्म, ईसाई ज्ञेयवाद, व सूफीवाद मे दूसरे रूपो मे दोहराया गया है। शुरू-शुरू मे बौद्धिक विचार द्वारा इसकी खोज नही हुई, किन्तु आध्यात्मिक साधना मे निरत योगियो को ही इसका पता लगा था। जब ईसा से पूर्व सातवी और पाँचवी शताब्दी के बीच किसी समय पूर्व व पश्चिम दोनो देशो मे मनुष्यो ने ज्ञान को बौद्धिक रूप देना प्रारम्भ किया, तब पूर्व मे यह सत्य जीवित बच सका, परन्तु पश्चिम मे, जहाँ बुद्धि को ही सत्य की खोज का एकमात्र सर्वोच्च साधन समझा जाने लगा, यह धीरे-धीरे विलुप्त होने लगा। परन्तु वहाँ पर भी यह निरन्तर पुन. लौटने का प्रयत्न करता रहा है। नवीन प्लेटो-मतानुयायियो ने इसका पुनरुद्धार किया, और अब ऐसा प्रतीत होता है कि नव-हीगलवादियो व अन्य विचारक (उदाहरण के लिए रूस का आस्पेन्सकी व एक-दो जर्मन विचारक) इसी सत्य पर पहुँचते प्रतीत होते हैं। परन्तु फिर इसमे कुछ अन्तर है।

"पूर्व मे भी, विशेषत भारत मे, दार्शनिक विचारकों ने पाश्चात्य विचारकों की भाँति बुद्धि द्वारा चरम सत्य के स्वरूप का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। परन्तु प्रथमत उन्होंने मानसिक विचार को सत्य की खोज के साधन के रूप में सबसे उत्कृष्ट साधन नही माना है, उन्होंने हमेशा इसे गौण स्थान दिया है। इसके लिए उन्होंने आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, दिव्य प्रकाश व आध्यात्मिक अनुभव को ही सदा प्रमुख स्थान दिया है, और कोई भी बौद्धिक परिणाम, जो इस उत्कृष्ट

अनुभूति के विरुद्ध जाता है, उसे असत्य व अप्रमाणिक ठहरा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा ने किसी-न-किसी ऐसी क्रियात्मक प्रणाली का आश्रय लिया है जिससे वह उच्चतम चैतन्य की अवस्था को प्राप्त कर सके, इसलिए जब वह 'विचार' से भी प्रारम्भ करता है, तब भी उसका लक्ष्य एक ऐसे चैतन्य की प्राप्ति है जो मानसिक विचार से परे है। दर्शनशास्त्र का प्रत्येक प्रवर्तक (व उसके अनुयायी) दार्शनिक विचारक होने के साथ-साथ योगी भी हुआ है। जो व्यक्ति केवल दार्शनिक विचारक मात्र हुए हैं, उनको उनके ज्ञान के लिए, प्रतिष्ठा होने पर भी, उन्हे सत्यान्वेषक के रूप में कभी सम्मान प्राप्त नही हुआ। और वे दार्शनिक सम्प्रदाय जिनके पास आध्यात्मिक अनुभव के पर्याप्त शक्तिशाली साधन विद्यमान नही थे विनष्ट हो गए और अतीत की वस्तु बन गए, क्योकि आध्यात्मिक खोज व उपलब्धि के लिए वे पर्याप्त क्रियाशील नही थे।

"परन्तु पाश्चिम मे सर्वथा इसके विपरीत हुआ। वहाँ विचार, बुद्धि व तर्क इन्हे ही उच्च से उच्च लक्ष्य समझा जाने लगा, दर्शनशास्त्र मे 'विचार' ही एकमात्र सार वस्तु व सर्वोच्च लक्ष्य है। बौद्धिक चिन्तन व कल्पना द्वारा ही सत्य की खोज सभव है, आध्यात्मिक अनुभवो को भी अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए बुद्धि की परीक्षा मे सफल होना आवश्यक है—इस प्रकार उन्होने भारतीय स्थिति के ठीक विपरीत रुख धारण किया। यहाँ तक कि वे लोग भी, जो यह देखते हैं कि मानसिक विचार को अतिक्रमण करने की आवश्यकता है और एक अतिमानस 'अन्य सत्ता' को स्वीकार करते है, इस भावना से मुक्त होते नही प्रतीत होते कि मानसिक विचार के ऊर्ध्वकरण व रूपान्तर द्वारा ही उस सत्य पर पहुँचा जाए, और वह सत्य मानसिक सीमितता व अज्ञान का स्थान ग्रहण कर ले। और इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विचार की क्रियाशीलता भी विनष्ट हो गई है, यह वस्तुओ की कल्पना करने का प्रयत्न करता है, परन्तु अनुभूति व उपलब्धि का नही। प्राचीन ग्रीक लोगो के विचारो मे यह गतिशीलता विद्यमान थी, यद्यपि वह आध्यात्मिक आदर्शो की अपेक्षा नैतिक व सौन्दर्यात्मक आदर्शों के लिए ही अधिकतर थी। और बाद मे इसने भी विशुद्ध बौद्धिक व तार्किक रूप ही ग्रहण कर लिया तथा यह केवल बौद्धिक कल्पना मात्र शेष रह गया और इसमे किसी भी आध्यात्मिक परीक्षण, आध्यात्मिक खोज व आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा सत्य की प्राप्ति के क्रियात्मक मार्ग व साधनो का सर्वथा अभाव हो गया। यदि यह अन्तर न होता तो तुम्हारे जैसे सत्य के खोजियो को मार्ग-प्रदर्शन व नेतृत्व के लिए पूर्व की ओर मुडने की आवश्यकता न होती, क्योकि बौद्धिक क्षेत्र मे यूरोपियन विचारक भी पूर्वीय विद्वानो के समान ही समर्थ व शक्तिशाली है। यूरोप के मन की इस अति बुद्धिपरायणता ने बुद्धि के स्तर से परे ले जाने वाले, व जीवन

की बाह्य सत्ता से अन्तरवस्थित आत्मा की तरफ ले जाने वाले इस आध्यात्मिक मार्ग को भुला दिया है।

"ब्रैडले व जोशिम के जो उद्धरण तुमने मुझे भेजे है, उनमे भी बुद्धि से अगम्य वस्तु को जानने के लिए ही बुद्धि का प्रयास है, और उसके बारे मे बौद्धिक युक्तियुक्त व कल्पनात्मक निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा है। पर वह इतनी गतिशील नही है कि जिस परिवर्तन का वह वर्णन करना चाहती है, उसे कर सके। यदि ये लेखक इस 'विचार के अगोचर' के बारे मे मानसिक शब्दो मे किसी अनुभव का—चाहे वह मानसिक ही क्यो न हो या कोई आन्तरिक अनुभव हो, वर्णन कर रहे हो, तो वह व्यक्ति जो इस अनुभव के लिए तैयार है उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के पर्दे मे से इसे अनुभव कर सकता है, और अपने-आप भी उसी अनुभव के निकटतर पहुँच सकता है। अथवा यदि वे बौद्धिक निर्णय पर पहुंचने के बाद मार्ग पा जाने पर, अथवा पहले से पाये गए मार्ग का अनुसरण करके आध्यात्मिक अनुभव पर पहुँच जाते है, तव उनके विचार का अनुसरण करके कोई भी व्यक्ति अपने-आपको उस परिवर्तन के लिए तैयार कर सकता है। परन्तु इस सब कठिन विचारधारा मे इस प्रकार की कोई वस्तु नही है। यह बुद्धि के क्षेत्र मे ही सीमित रहती है, और उस क्षेत्र मे यह निस्सन्देह प्रशसनीय भी है, परन्तु यह आध्यात्मिक अनुभव के लिए सहायक नही होती। मैं इस विचारधारा के सार तथा इसकी सीमितता पर वाद मे प्रकाश डालने का यत्न करूंगा, फिल-हाल इसे यही समाप्त करता हूँ।

पूर्ण सत्ता को विचार द्वारा पूरी तरह ग्रहण करने के प्रयास से नही, अपितु चैतन्य के परिवर्तन द्वारा ही अज्ञान से ज्ञान तक पहुँच जा सकता है—उस ज्ञान तक, जिसके जान लेने पर, हम वही हो जाते है, जिसे कि हम जानते है। बाह्य चैतन्य से सीधे और गहरे आन्तरिक चैतन्य की ओर अभिगमन, शरीर व अह बुद्धि की सीमा का लघन करके चेतना का विस्तार, आन्तरिक सकल्प, अभीप्सा और प्रकाश के प्रति उद्‌घाटन द्वारा उसे यहाँ तक ऊँचे उठाना कि वह अपने आरोहण मे मन की सीमा को पार कर जावे और आत्मोत्सर्ग तथा आत्मसमर्पण द्वारा अतिमानस ईश्वरीय सत्ता का अवतरण और उसके परिणामस्वरूप मन, शरीर व प्राण का रूपान्तर—यही सत्य प्राप्ति के लिए पूर्णयोग का मार्ग है। (मैंने पहले भी कहा है कि अतिमानस का विचार प्राचीन समय से ही चला आ रहा है। भारत तथा अन्य देशो मे ऊपर उठकर इस तक पहुँचने के प्रयत्न भी होते चले आये है, परन्तु कमी यह रही है कि उसे जीवन के लिए पूर्ण बनाने व समस्त प्रकृति यहाँ तक कि भौतिक प्रकृति मे भी परिवर्तन लाने के लिए उसके अवतरण की ओर ध्यान नही दिया गया।) इसे ही हम यहाँ सत्य कहकर पुकारते हैं और यही हमारी योग साधना का लक्ष्य है।

'मैं 'आर्य' के सम्बन्ध मे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इसी पत्र के सिलसिले मे दूंगा, तथा और भी जो कुछ इस सम्बन्ध मे मुझे लिखना है, लिखूंगा।"

दिलीप, सर्वथा सत्य है। और पाश्चात्य दार्शनिको के बारे मे उनकी आलोचना भी सर्वथा उचित है। यहाँ तक कि जब वे एक ही प्रकार की वस्तुओ के बारे मे भी बात करते हैं, तब भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न होता है, और दिखाई देने वाली समानता के नीचे वास्तव मे कोई समानता नही होती। मैक्टेगर्ट के समान यदि कोई पाश्चात्य दार्शनिक एक पत्थर को आत्माओ का निवासस्थान बताता है, अथवा बर्कले के समान उसे ईश्वर के मन का एक विचार बतलाता है अथवा बर्ट्रेन्ड रसेल के सदृश उसे एक उदासीन तत्त्व के परिप्रेक्ष्यो का समूह बताता है (उसका चाहे जो भी अर्थ हो) परन्तु व्यवहार मे वह कुछ भी क्रियात्मक वस्तु नही कहता, और उसकी स्थिति एक पत्थर को पत्थर कहने वाले साधारण मनुष्य के ही समान है। ये सम्पूर्ण पाश्चात्य 'वाद' इसी के सदृश हैं। बौद्धिक अभ्यास के तौर पर वे उत्कृष्ट वस्तु है, परन्तु व्यवहार मे उनका कोई मूल्य नही है। (मैंने प्राय देखा है कि बहुत से पाश्चात्य विद्वान् भारतीय वेशभूषा व रहन-सहन के तरीको के सौन्दर्य, स्वास्थ्यवर्द्धन व सुविधा के पक्ष मे बडे विद्वत्तापूर्ण ढग से व्याख्यान देते हैं, परन्तु यदि कोई यूरोपियन उनके कथन को सत्य मानकर धोती पहन ले, तो उसकी उसी समय शामत आ जाएगी। ठीक यही बात पाश्चात्य विचारधारा के साथ है। यह बडे जोर-शोर से पूर्वीय विचारो की तारीफ करेगी, परन्तु कभी भी 'धोती पहनना' स्वीकार नही करेगी, और यदि तुम वैसा करोगे तो तुम्हे भी असभ्य व जगली समझने लगेगी।)

यही कारण है कि मैं उन आश्चर्यपूर्ण उदारमना मनुष्यो से, जो भारत तथा लन्दन के बीच एक पुल बनाकर वहाँ के निवासियो के लिये (स्पेंगलर के कथनानुसार) यह सुविधा पैदा कर देना चाहते है कि वे सायकाल की सैर मे भारत का चक्कर लगाकर पिकेडिली वापस चले जाएँ कभी सहमत नही हूँ। मैं तो इस बात को पसन्द करता हूँ कि ये लन्दनवासी दोनो मे से एक को सदा के लिए चुनने के लिए बाधित हो जाएँ, और यदि वे भारत को पसन्द करे, तो सदा के लिए अपने सास्कृतिक गर्व को त्यागकर उस रज मे, जिस पर श्रीकृष्ण के चरण-कमल पडे थे अपना माथा टेक दे। इसीलिए मैं वुडरोफ के वर्तमान विज्ञान के साथ शाक्त दर्शन शास्त्र के कई बातो मे सादृश्य दिखलाने के प्रयास को कोई महत्त्व नही देता। मैं तो सीधी सी यह बात पसन्द करता हू" कि 'यह सत्य है, चाहे इसे स्वीकार करो या छोड दो।' यदि विज्ञान अपने तरीके से ऐसा कहता है, तो यह उसका अहोभाग्य है परन्तु यदि नही तो वह अभागा है ··।

तुमने अन्तर्राष्ट्रीयतावादियो के बारे मे लिखा है। परन्तु यह सब निस्तेज व दुर्बल अन्तर्राष्ट्रीयता हमे किसी लक्ष्य पर नही पहुँचा सकती, और जबर्दस्त

राष्ट्रीय भावना की भीषण बाढ के सामने इसका टिक सकना असंभव है। यद्यपि देखने में यह सौम्य प्रतीत होती है तथापि रूस की समाजवादी तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सभा के सजीव यद्यपि आसुरिक जीवन के सम्मुख यह अत्यन्त निस्तेज प्रतीत होता है। और अन्तर्राष्ट्रीय कलाकार के प्रति मेरी मुख्य आपत्ति यह है कि मैं यह सन्देह करता हूँ कि यह कला के अस्पष्ट अनुभवो को एक उधार ली हुई शानो-शौकत प्रदान करने के लिए उन शब्दो व वाक्यो का प्रयोग करता है, जो ऋषियो व योगियो ने अपने अनुभव को प्रकट करने के लिए निर्माण किये थे। परन्तु कला के यह अनुभव यदि वास्तविक भी हो तो भी यौगिक अनुभवो के सामने उनका अस्तित्व सूर्य के सम्मुख चन्द्रमा के सदृश है। इस प्रकार वह एक तरह से जाली सिक्को के प्रयोग को प्रोत्साहित करता है।

नैडविक को मेरा स्नेह देना, और अपने बारे मे भी अन्य समाचार देना।

स्नेहभाजन
कृष्णप्रेम

दिलीप,

कृष्णप्रेम के पत्रों को पढकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इनके पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य के स्रोत से कोई ऐसी सीधी धारा प्रवाहित होकर चली आ रही है, जिसका मिलना साधारणतया अत्यन्त दुर्लभ है। उसका मन वस्तुओ के बारे मे न केवल विचार करता है, बल्कि उन्हे स्पष्ट रूप से देखता है, और वह भी उनका बाह्य स्वरूप ही नही, जिसको लेकर प्राय बहुत-सा बौद्धिक चिन्तन बिना किसी लक्ष्य व विशेष परिणाम के संघर्ष करता रहता है, मानो कि बाह्य रूप के सिवाय और कुछ है ही नही, अपितु वह उनके हृदय तक देखता है। तान्त्रिक लोग जिसे 'पश्यन्ती वाक्' 'देखने वाली वाणी' कहकर पुकारते हैं, वह वाक्शक्ति के एक विशेष स्तर, द्रष्टा शब्द का निर्देश करती है। कृष्णप्रेम मे 'पश्यन्ती बुद्धि' 'देखने वाली बुद्धि' पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका कारण यह हो सकता है कि वह विचार के क्षेत्र को अतिक्रमण करके अनुभव के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो चुका है, परन्तु बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं, जिनके पास अनुभव की पर्याप्त सम्पत्ति विद्यमान होने पर भी, उसने उनके विचार-चक्षुओ को इस सीमा तक निर्मल नहीं किया है। उनकी आत्मा अनुभव करती है परन्तु मानसिक विचारो मे अस्पष्टता और अव्यवस्था जारी रहती है। कृष्णप्रेम की प्रकृति के अन्दर पहले से ही सत्य-दृष्टि का गुण पूर्णतया विद्यमान होना चाहिए था।

वर्तमान बुद्धिवाद बुद्ध के जिस चचल व धुंधले प्रकाश को सत्य का आलोक मानकर ग्रहण करता है, उससे इस प्रकार शीघ्रता व निश्चय के साथ मुक्त हो

जाना एक महन् सफलता है। आधुनिक मन और उसके साथ हम भी इतने दीर्घ-काल से झूठी चमक-दमक की घाटी मे निरन्तर भटकते चले आ रहे है, कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह सुगम नही है कि वह इसकी धुन्ध व कोहरे को स्पष्ट दृष्टि रूपी सूर्य के प्रकाश से इतनी जल्दी और पूर्णतया छिन्न-भिन्न कर दे, जैसे कि उसने स्वय कर दिखाया है। आधुनिक मानव हितवाद व विश्वभ्रातृत्ववाद तथा भावुक आदर्शवादियो एव प्रभावशून्य बुद्धिवादियो के निरर्थक प्रयत्न तथा सश्लेषणात्मक चुनाववाद व अन्य इसी प्रकार की वस्तुओ के बारे मे वह जो कुछ भी कहता है उससे उसके मन की स्पष्टता प्रकट हो जाती है, वह ठीक निशाने पर चोट करता है। मनुष्य जाति के लिए अपने जीवन के तरीको मे जो क्रान्तिकारी परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक होता जा रहा है, वह इन उपायो द्वारा सम्भव नही है, वह तो केवल मात्र इन सबके पीछे अवस्थित वस्तु-सत्ता की तह तक पहुँचने से ही सम्भव है। केवल मानसिक कल्पनाओ व विचारो द्वारा नही, अपितु चेतना के परिवर्तन द्वारा ही यह सभव है। परन्तु यह एक ऐसा सत्य है, जिसे विविध स्वर-युक्त वर्तमान कोलाहल गडबड व उथल-पुथल के बीच सुन सकना कठिन है।

बाह्य प्रकृति अर्थात् घटनाओ की प्रक्रिया के क्षेत्र तथा ईश्वरीय सत्ता के क्षेत्र के बीच भेद को बताने के लिए आन्तरिक ज्ञान के सर्वोत्तम शब्द प्रयुक्त किये गये है। कृष्णप्रेम ने इसे जो रूप दिया है, वह केवल चातुर्यपूर्ण व्याख्या ही नही है, यह बहुत सुन्दर ढग से उन निश्चितताओ मे से एक का वर्णन करना है जो बाह्य समर की सीमा का लघन करके आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभव की भूमि पर खडे होकर बाह्य ससार का निरीक्षण करने पर तुम्हारे सन्मुख आती है, तुम जितना ही अन्तर्मुख व उन्मुख होते जाते हो उतना ही वस्तुओ का दृश्य-स्वरूप बदलता जाता है और वह बाह्य ज्ञान, जिसे विज्ञान सघटित व व्यवस्थित करता है, अपना वास्तविक व अत्यन्त सीमित स्थान ग्रहण कर लेता है। बहुत से मानसिक व अन्य बाह्य ज्ञानो की तरह विज्ञान भी केवल प्रक्रिया का ही सत्य हमे बताता है और मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वह प्रक्रिया सम्बन्धी सत्य को भी पूरा-पूरा नही बता सकता, क्योंकि तुम केवल उन चिन्तनीय वस्तुओ को ही जिन्हे मन सोच सकता है, ग्रहण कर लेते हो, परन्तु उन अत्यन्त आवश्यक, अचिन्तनीय वस्तुओं की, जिन्हे मन नही सोच सकता उपेक्षा कर देते हो, तुम 'कैसे' को भी मुश्किल से ही जान सकते हो, सिवाय उन परिस्थितियो के ज्ञान के, जिनमे कोई वस्तु प्रकृति मे घटित होती है, तुम प्रक्रिया को भी ठीक तरह नही समझ सकते। विज्ञान की सब सफलताओ व चमत्कारो के बावूजद रहस्य को स्पष्ट करने वाला तत्त्व, इस सब लीला का आन्तरिक अभिप्राय पहले की तरह ही अन्धकारपूर्ण व रहस्यमय बना रहता है, बल्कि पहले से भी अधिक रहस्यमय हो जाता है। विकास-वाद की जो कल्पना इसने न केवल समृद्ध, विस्तृत व नाना रूप भौतिक जगत्

के बारे मे, बल्कि जीवन, चैतन्य व मन के बारे मे भी की है, और जिसके अनुसार उनकी चेष्टाओ को उन अचेतन परमाणुओ के समूह का कार्य-कलाप बतलाया है, जो परमाणु नित्य एक रूप रहते हुए भी सख्या व मिश्रण के भेद से भिन्न-भिन्न पदार्थो की सृष्टि करते है, वह भा सर्वथा युक्तिशून्य एक इन्द्र-जाल मात्र है, और उनकी यह कल्पना किसी भी रहस्यवादी कल्पना से कही अधिक जटिल व परेशान करने वाली है। विज्ञान अन्त मे हमे एक मूर्तिमान् विरोधाभास के सन्मुख ले जाकर खडा कर देता है, जहाँ हमे एक सगठित व निश्चित आकस्मिक घटना का सामना करना पडता है, एक ऐसी असभावितता का, जो किसी प्रकार घटित हो गयी है, इसने हमे एक नवीन भौतिक व जड अघटन-घटना-घटीयसी माया का साक्षात्कार कराया है, असभव को कर दिखाने मे अत्यन्त चतुर है, एक चमत्कार जो तर्कसिद्ध नही है, परन्तु फिर भी विद्यमान है, जो वास्तविक है, अदम्य रूप से सगठित है, परन्तु फिर भी अयुक्तियुक्त है और अनिर्वचनीय है। और यह स्पष्टतया इसीलिए है, क्योकि विज्ञान ने किसी अत्यन्त आवश्यक वस्तु की उपेक्षा की है, उसने इन्द्रियो द्वारा जो कुछ घटित होते देखा है, उसी के बारे मे सूक्ष्म निरीक्षण व विवेचन द्वारा यह जानने की चेष्टा की है कि यह कैसे घटित हो गया है, परन्तु जिस अगोचर शक्ति ने इस असभव को सभव बना दिया है, उसकी तरफ से उसने अपनी आँखे मूँद रखी है, उस शक्ति को व्यक्त करना उसका फर्ज है। यदि ईश्वरीय सत्ता तुम्हारी दृष्टि से ओझल हो जाती है तो वस्तुओ मे कोई मौलिक अर्थ ही नही रह जाता, क्योकि उस दशा मे तुम काबू मे आ सकनेवाली व उपयोग मे आनेवाली बाह्य दृष्टिगोचर सत्ता की विस्तृत सतह के आवरण पर ही घँसे रहते हो। यह जादूगर का जादू है जिसे तुम विश्लेषण करने की चेष्टा कर रहे हो, परन्तु जब तुम उस महान् जादूगर की चेतना को अपने अन्दर धारण कर लोगे, तभी उसकी लीला के सच्चे उद्भव, तात्पर्य तथा चक्रो को ठीक-ठीक अनुभव करना प्रारम्भ कर सकोगे। मैंने यहाँ प्रारम्भ शब्द का प्रयोग इसलिए किया है, क्योकि जैसा तुमने भी सुझाया है, ईश्वरीय सत्ता इतनी साधारण वस्तु नही है, कि इसके प्रथम स्पर्श मे ही तुम इसके बारे मे सब कुछ जान सको, या इसे किसी एक सूत्र में प्रकट कर सको, यह तो अनन्त है, और तुम्हारे लिए एक ऐसे अनन्त ज्ञान का द्वार खोल देती है, जिसके सामने विज्ञान का समस्त भण्डार भी कुछ महत्त्व नही रखता। परन्तु फिर भी तुम उस आवश्यक व सनातन वस्तु को, जो सब वस्तुओ के पीछे विद्यमान है, स्पर्श करते हो, और उसके प्रकाश मे सब लीला अत्यन्त देदीप्यमान और अच्छी तरह समझ मे आने वाली प्रतीत होने लगती है। मैंने एक दफा पहले भी तुम्हारे सामने कुछ सद्भावनाशील वैज्ञानिको के वस्तुओ के पीछे रहने वाली इस आध्यात्मिक

सत्ता के बाह्य पृष्ठ को भेदन करने के लिए किये गये प्रभाव-रहित प्रयत्नों के बारे में अपने विचार प्रकट किये थे, उसका विस्तार करने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। कृष्णप्रेम ने आध्यात्मिक व अतिभौतिक अनुभव की सत्यता के विरोध में उनके विरोधियों ने उसे स्वीकार करके व अपने नये अर्थ में उसकी व्याख्या करके उसका विनाश करने की जो नयी नीति अपनायी है, उसमें जिस महान् खतरे की पूर्व सूचना देखी है, वह काफी दिलचस्प है, और उसमें उसकी आशंका के लिए दृढ आधार मौजूद है। परन्तु मुझे सन्देह है कि जब यह वस्तुएँ एक बार सूक्ष्म निरीक्षण का विषय बन जाएँगी, तब मानवीय मन इन मूर्खतापूर्ण, दिखावटी व बाहरी व्याख्याओं से, जो किसी घुंडी को नहीं खोलती, अधिक देर तक सन्तुष्ट रह सकेगा? यदि धर्म के हिमायती आध्यात्मिक अनुभव की केवल आन्तरिक सत्यता को स्वीकार करके एक ऐसे दुर्बल आश्रय का सहारा लेते हैं, जिसका आसानी से निराकरण किया जा सकता है तो मेरे विचार में उनके विरोधियों ने भी आध्यात्मिक व अतिभौतिक अनुभवों के अस्तित्व की स्वीकृति व परीक्षा में अपनी सहमति देकर अनजाने में ही भौतिकवाद के गढ़ के द्वारों को प्रतिद्वन्द्वी के प्रवेश के लिए खुला छोड़ दिया है। भौतिक जगत् की परिधि में बँधे रहना और अतिभौतिक वस्तुओं के अस्तित्व तथा परीक्षा से इंकार करना—यही उनका अभेद्य दुर्ग था, जब एक बार उन्होंने उसे त्याग दिया, अभावात्मक से कम अभावात्मक व अधिक उपयोगी भावात्मक की तरफ बढ़ने वाला मानवीय मन उनकी कल्पनाओं के शवों व उनकी विनाशकारी व्याख्याओं तथा चातुरीपूर्ण मनोवैज्ञानिक लेबलों के खण्डहरों पर से गुजरता हुआ आध्यात्मिक अनुभूति की ओर बढ़ जाएगा। उस समय एक और खतरा उत्पन्न हो सकता है, और वह सत्य की अन्तिम इनकारी का नहीं, अपितु प्राचीन व नवीन रूप में एक पुरानी गलती के दोहराने का, एक तरफ अन्ध, जोशीले व कट्टर रूढ़िवादी साम्प्रदायिक धर्मवाद के पुनरुज्जीवित होने का, और दूसरी ओर प्राणिक-रहस्यवाद व मिथ्या-अध्यात्मवाद की गलतियों के गहन गर्त व दलदलों में ठोकर खाकर गिर जाने का है। ये वे गलतियाँ हैं, जो भूतकाल में धर्म और उसके विश्वासों के विरुद्ध आक्रमण करने में भौतिकवादियों की वास्तविक शक्ति रही हैं। परन्तु ये वे छायामूर्तियाँ हैं जो भौतिक अन्धकार तथा पूर्ण प्रकाश के मध्यप्रदेश में उसकी सीमा पर हमेशा ही दृष्टिगोचर होती हैं। पर इन सबके बावजूद अन्धकारमय पार्थिव चैतन्य तक में भी परम प्रकाश की विजय एकमात्र अन्तिम निश्चय के रूप में विद्यमान रहती है।

कला, कविता, संगीत ये सब योग नहीं हैं, न ही दर्शनशास्त्र व विज्ञान के समान ही अपने-आप में ये कोई आध्यात्मिक वस्तुएँ हैं। यहाँ आधुनिक बुद्धि

की एक और विचित्र अयोग्यता छिपी हुई है, यह मन और आत्मा मे भेद करने मे असमर्थ है, यह मानसिक, नैतिक व सौन्दर्य सम्बन्धी आदर्शो को भूल से आध्यात्मिकता समझने के लिए तत्पर रहती है और उनके निम्न अशो को आध्यात्मिक मूल्य मान बैठती है। यह एक सीधा-सा सत्य है कि एक दार्शनिक व कवि के मानसिक अन्त स्फुरण प्राय एक स्पष्ट आध्यात्मिक अनुभव की अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र वस्तु है, वे दूर स्थित प्रकाश की क्षणिक झलक के समान है, और एक प्रकार के धुंधले प्रतिबिम्ब की तरह है, वे प्रकाश के केन्द्र से विकीर्ण होने वाली रश्मियाँ नही है। यह कम सत्य नही है कि उच्च शिखर पर चढकर देखने से मानसिक उत्कर्ष की ऊँचाइयो तथा इस बाह्य सत्ता की निम्नतर चढाइयो मे कोई विशेष अन्तर नही है। ऊँचे से देखने मे लीला की सब शक्तियाँ समान है—वे सभी ईश्वर के आवरण है। परन्तु साथ ही यह भी कहना पडता है कि इन सबको ही ईश्वर-अनुभूति का प्रथम साधन बनाया जा सकता है। आत्मा के बारे मे दार्शनिक विवरण एक मानसिक सूत्र है, यह ज्ञान या अनुभव नही है, परन्तु फिर भी कभी-कभी ईश्वर इसे ही स्पर्श का साधन बना लेता है और आश्चर्यपूर्ण तरीके से मन के अन्दर की एक दीवार टूट कर गिर पडती है और कोई वस्तु दिखायी पडती है, जिससे किसी आन्तरिक भाग मे एक गम्भीर परिवर्तन हो जाता है और मानव प्रकृति की भूमि मे कोई शान्त, सम व अवर्णनीय वस्तु प्रवेश करती है, एक व्यक्ति पर्वत के शिखर पर विराजमान होकर अपने मन के अन्दर एक विस्तार व व्यापकता और प्रकृति मे एक नामरहित विशालता अनुभव करता है, और तब अचानक वह स्पर्श होता है, एक नवीन साक्षात्कार होता है व प्रकाश का आक्रमण होता है और मन अपने-आपको आत्मा मे विलीन कर देता है, और वह व्यक्ति अनन्त के प्रथम आक्रमण को सहन कर पाता है। या जब तुम पवित्र गगा नदी के किनारे काली के मन्दिर के सामने खडे होते हो तो तुम क्या देखते हो ? एक मूर्ति, स्थापत्यकला का एक शानदार नमूना, परन्तु एक ही क्षण मे किसी रहस्यपूर्ण तरीके से सर्वथा अप्रत्याशित रूप से उसके स्थान पर एक जीवित सत्ता, एक शक्ति, एक चेहरा जो तुम्हारी दृष्टि-से-दृष्टि मिलाता है, दिखायी देने लगता है, तुम्हारी अन्तर्दृष्टि 'जगन्माता' के दर्शन करती है। कला, सगीत व कविता द्वारा इसी प्रकार के स्पर्श उसके उस रचयिता व श्रोता के हृदय मे पैदा हो सकते है, जो शब्द के आघात का अनुभव करता है व बाह्य आकृति के गुप्त अर्थ को समझ लेता है, अथवा ध्वनि के उस गुप्त सन्देश को, जो शायद गायक को भी स्पष्टतया अभिव्यक्त न हो, पकड लेता है। लीला की प्रत्येक वस्तु उस गुप्त सत्ता को प्रकट करने के लिए झरोखे का रूप धारण कर सकती है। तो भी जब तक कोई व्यक्ति झरोखे

के मार्ग से ही उसके दर्शनो से सतुष्ट रहता है, तब तक उसे प्रारम्भिक लाभ ही है, एक-न-एक दिन उसे हाथ मे दण्ड धारण करके उस स्थान की यात्रा के लिए निकलना पडेगा जहाँ पर वह अनन्त सत्ता हमेशा अभिव्यक्त व विद्यमान रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन छाया-प्रतिबिम्बो के साथ रहना और भी कम सतोषजनक हो सकता है, जिस प्रकाश को वे चित्रित करते है उसे ढूँढने के लिए एक अन्त तृष्णा प्रबल हो उठती है। परन्तु चूँकि यह सत्ता व प्रकाश मानवीय स्तर से ऊचे स्तर मे जिस मात्रा मे विद्यमान है, हमारे अन्दर भी उससे कम मात्रा मे मौजूद नही है, इसलिए हम उसकी खोज के लिए जीवन की नाना प्रकार की चेष्टाओ व बिम्बो का प्रयोग कर सकते है, जैसे कोई देवता के चरणो मे पुष्प, प्रार्थना व कर्म का अर्पण करता है, इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपनी सौन्दर्य रचना, सगीत, कविता, मूर्ति व राग-ध्वनि को भी उसे अर्पित कर सकता है और उसके द्वारा एक सम्पर्क व एक प्रत्युत्तर व अनुभूति प्राप्त कर सकता है और जब कोई ईश्वरीय चेतना मे प्रविष्ट हो जाता है, अथवा जब यह अपने अन्दर विकसित हो जाती है, तब भी जीवन मे इन वस्तुओ के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति का योग बहिष्कार व निषेध नही करता, इन रचनात्मक कलाओ का अपना स्थान फिर भी बना रहता है, यद्यपि तात्विक दृष्टि से ईश्वरीय उपयोग व सेवा मे प्रयुक्त होने से बढकर उनका कोई महत्तर उपयोग नही हो सकता। अपनी साधारण क्रिया मे कला, कविता व सगीत मानसिक व प्राणिक मूल्य ही पैदा करते है, न कि आध्यात्मिक, परन्तु उन्हे एक उच्चतर आदर्श की ओर प्रेरित किया जा सकता है, और फिर उन वस्तुओ के समान, जो हमारी चेतना को ईश्वरीय चेतना से सयुक्त करने मे समर्थ है, वे भी परिवर्तित हो जाते है, और आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेते है, और तब उन्हे भी यौगिक जीवन के अश के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु अपना नया मूल्य अपने आप नही आँक सकती, परन्तु जिस चेतना द्वारा यह प्रयुक्त होती है, उसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है, क्योकि केवल एक ही वस्तु ससार मे परम आवश्यक, उपयोगी व अनिवार्य है, और वह है ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति, उसमे निरन्तर वास और सदा उसे अपने जीवन से व्यक्त करना है।

१७ मार्च, १९३२

श्री अरविन्द—

दिलीप,

तुम्हे लिखे मेरे पत्रो मे व्यक्त किए गए विचारो के बारे मे श्री अरविन्द की अनुकम्पापूर्ण व उत्साहवर्द्धक आलोचना को पढकर मन मे यही भाव उदित होते है कि मैं वास्तव मे उनकी प्रशसा का योग्य पात्र बन सकूँ। ऐसे

महापुरुष की अनुकूल सम्मति का पात्र बनना वास्तव मे बडे सौभग्य की बात है। कृपा करके उनके व माताजी के चरणो मे मेरा भक्तिपूर्वक प्रणाम कहना। उन दो विषयो पर, जहाँ उन्होने मेरे विचारो मे कुछ परिवर्तन का निर्देश किया है मुझे कुछ कहना नही है। मेरी हार्दिक कामना है कि जनसाधारण मनोवैज्ञानिक कल्पनाओ के इधर-उधर बिखरे हुए खण्डहरो पर कदम रखता हुआ दृढतापूर्वक आगे बढ सके। और यदि वे अपने वर्तमान दृष्टिकोण पर कायम रहते है तो वे निश्चयपूर्वक ऐसा करने मे सफल भी हो सकेंगे, परन्तु विशुद्ध बौद्धिक व भावात्मक आदर्श से प्रेरित आधुनिक शिक्षा की शक्तिशाली ताकतो द्वारा साधारण मनुष्य के जीवन मे एक परिवर्तन का खतरा है। इससे जो मेरा अभिप्राय है उसका एक दृष्टान्त हाल ही में युँग नामक एक विख्यात मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रकाशित पुस्तक के रूप मे, जो उसने चीन मे योग पर लिखी पुस्तक 'स्वर्ण पुष्प के रहस्य' की व्याख्या के रूप मे प्रकाशित की है, सम्मुख आया है। पुस्तक यद्यपि अस्पष्ट है (शायद जानबूझकर ऐसी ही लिखी गयी है) परन्तु फिर भी सुन्दर है, और युँग ने भक्ति के बारे में कुछ न जानते हुए भी अपनी व्याख्या मे बहुत-सी दिलचस्प तथा उपयुक्त बाते लिखी है। सरसरे तौर पर पढने पर कोई भी यह कहने के लिए प्रलुब्ध हो सकता है, "आखिर! एक सच्चा वैज्ञानिक भी योग के अन्दर वास्तव मे कुछ सारवस्तु देखने लगा है।" परन्तु ध्यानपूर्वक पढने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे कोई स्वीकारोक्ति नही है, अपितु यह एक भयानक अशुद्ध व्याख्या है, जो अपनी अत्यन्त सूक्ष्मता तथा आशिक सत्य के कारण और भी खतरनाक हो गयी है। वास्तव में यह एक ऐसा प्रयत्न है, जिसके द्वारा धर्म व योग के ईश्वरीय अनुभवो को भगवान् के हाथ से छीनकर मनुष्य के हाथ मे सौप देने की चेष्टा की गयी है, उस मनुष्य के हाथो मे जो मनुष्य के रूप मे उसकी आज्ञापालन करने के लिए उद्यत है। इस सम्बन्ध मे माताजी के वार्त्तालाप मे वर्णित सचाई हमेशा याद रखने योग्य है, 'योग मानवता के लिए नही है, यह ईश्वर के लिए है।

कला आदि के सम्बन्ध मे श्री अरविन्द के गम्भीर विचारो का जहाँ तक सम्बन्ध है, मैं उनसे पूर्ण रूप से सहमत हूँ। अन्य वस्तुओ के समान कला व विज्ञान भी योग द्वारा रूपान्तरित किए जा सकते हैं। अपने-आप मे वे योग नही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से कला के विकास की प्रेरणा मे धर्म का स्थान सबसे ऊँचा है। यदि मैंने विज्ञान व कला के प्रत्यक्ष मूल्य के बारे मे अधिक कुछ नही कहा है, तो उसका मुख्य कारण यही है कि आज के युग मे इन सम्मानित व्यवसायो का मूल्य कम आँका जा सकने की कोई आशका ही नही है। कला से उत्पन्न होने वाला मुख्य खतरा यही है कि कविगण कभी-कभी ऐसे अत्यन्त रहस्यपूर्ण वाक्यो का प्रयोग करते है जैसाकि वर्ड्सवर्थ का प्रसिद्ध वाक्य है "वह

प्रकाश जो कभी पृथ्वी और सागर पर न था।" और यह असली वस्तु का वर्णन करने के लिए नहीं, जिसे कि उन्होंने कभी देखा भी नहीं होता, परन्तु उस वस्तु के किसी निर्जीव भावात्मक प्रतिबिम्ब को वर्णन करने के लिए, जिसे कि बाद में असली वस्तु ही मान लिया जाता है। सच्ची कला एक महान् वस्तु है, एक अत्यन्त महान् वस्तु है, परन्तु यह सबसे महान् नहीं है, और इसलिए सर्वोच्च सिंहासन को ग्रहण करने का उसे न तो प्रयत्न करना चाहिए और न वह उसे ग्रहण कर ही सकती है।

धर्म या योग चाहे जिस शब्द से भी इसे पुकारें यह एक ही वस्तु है। यह शक्ति प्राप्त करने के लिए, या ज्ञान-प्राप्ति के लिए ज्ञान की खोज करना नहीं है, यद्यपि योगी भी ज्ञान का अनुसरण कर सकते हैं। यह सुन्दर आकृतियों व मूर्तियों का निर्माण नहीं है, यद्यपि योगी भी सौंदर्य की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। यह अस्पष्ट सिद्धांतों के बारे में उच्च व गंभीर चिन्तन भी नहीं है, यद्यपि योगियों के विचार भी अत्यन्त गंभीर व उच्च हो सकते हैं। यह कष्टों से पीड़ित मनुष्य जाति की सेवा भी नहीं है, यद्यपि एक सन्त योगी बुद्ध के शब्दों में जीवमात्र से इस प्रकार स्नेह करता है, जैसे माता अपने इकलौते पुत्र से करती है। एक मेंढक के समान यौगिक भावनाओं व विभूतियों का आश्रय लेकर अपने-आपको फुलाने का प्रयत्न भी यह कदापि नहीं है, जिसका अंतिम परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह तो श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वतोभावेन अपना आत्मसमर्पण है, जिसके बदले में कोई दावा नहीं, कोई आकांक्षा नहीं, कोई प्रश्न नहीं—केवल आत्मबलिदान की अनुमति की कामना है। वह सब चेष्टाएँ, जो इस उत्सर्ग में सहायक हैं या इसका प्रतीक-स्वरूप हैं, साधना कहलाती हैं, और वे सब कार्य, जो इस आत्मबलिदान के फलस्वरूप घटित होते हैं, ईश्वरीय लीला के अंग हैं।

सप्रेम
कृष्णप्रेम

दिलीप,

कृष्णप्रेम का अन्तिम पत्र भी उसके पहले पत्रों के समान ही प्रसन्न करने वाला है वह किसी भी वस्तु को उसके ठीक सिरे से ग्रहण करता है, और उसका उन्हें प्रकट करने का ढंग भी अत्यन्त स्पष्ट और सीधा होता है, जैसाकि एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो किसी वस्तु के मूल तक पहुँच जाता है, सर्वथा स्वाभाविक है। परन्तु मैं युंग व अन्य मनोवैज्ञानिकों के विचारों को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता, यद्यपि शायद देना चाहिए क्योंकि अर्द्ध-ज्ञान एक महान शक्तिशाली वस्तु है, और वह वास्तविक सत्य के समक्ष आने में एक बड़ी रुकावट बनकर

खड़ा हो सकता है। इसमे सन्देह नही कि अपने क्षेत्र मे वे बडे विशिष्ट व्यक्ति है, परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह नवीन मनोविज्ञान उन बालको के समान है जिन्होने पूर्ण वर्णमाला को न पढकर उसके किसी प्रकार के सार को याद कर लिया है, और जो अस्पष्ट आरम्भ की अपनी पहली पुस्तक मे (अ+ब=अब, क+म+ल=कमल) को ही सम्पूर्ण ज्ञान का आधार कल्पना कर खुश होते है। वे अपनी अध चेतन की अ, आ, इ, रूपी वर्णमाला की रहस्यपूर्ण प्रच्छन्न वृहत् अहभाव (Super-ego) के साथ जोडकर उसे ही पूर्ण ज्ञान का आधार मान बैठे है। वे नीचे से ऊपर की तरफ देखते है, और उच्च शिखरो की अधोवर्ती अस्पष्टताओ द्वारा व्याख्या करते है, परन्तु वस्तुओ का आधार ऊपर है, नीचे नही, 'उपरि बुध्ना एशम'। ऊर्ध्वचेतन (Super-conscient) ही वस्तुओ का असली आधार है, अध चेतन (Sub-conscient) नही। कमल का महत्त्व उसकी जड के रहस्य का विश्लेषण करने से जिसमे वह यहाँ उत्पन्न हुआ है, प्राप्त नही हो सकता, इसका रहस्य कमल के उस स्वर्गीय नमूने मे है, जो ऊपर अवस्थित प्रकाश मे हमेशा विकसित रहता है। इसके अतिरिक्त इन मनोवैज्ञानिको ने अपने लिए जो क्षेत्र चुना है, वह भी हीन, अन्धकारमय तथा सीमित है, अश के ज्ञान से पूर्व हमे पूर्ण वस्तु को जानना आवश्यक है, और निम्नतम के सम्यक् ज्ञान के लिए उच्चतम का ज्ञान आवश्यक है। यह एक महत्तर मनोविज्ञान का क्षेत्र है। समय की प्रतीक्षा कर रहा है, और जिसके सम्मुख यह सब दुर्बल अन्धकार मे टटोलना विलुप्त हो जायगा।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

कविता के सम्बन्ध मे प्रत्येक आलोचना मे दृढ आन्तरिक तत्त्व का रहना आवश्यक है, और यही कारण है कि एक समान विख्यात आलोचको द्वारा किसी एक लेखक की आलोचना व मूल्याकन मे भी बडा जबर्दस्त अन्तर हो जाता है। ससार मे प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, कला व सौदर्य के बारे मे भी यही नियम लागू है, और वस्तुओ के बारे मे हमारे दृष्टिकोण और उनका मूल्य निर्धारण उस चेतना पर निर्भर करता है। जो उन्हे देखती है, और उनका मूल्य निर्धारित करती है। कई आलोचक इस तथ्य को स्वीकार करते है, और वेधडक आन्तरिक समालोचना करते है—"मैं इसलिए इसे पसद करता हूँ, और उसे नापसन्द करता हूं, मैं अपने ही मापदण्ड से मापता हूँ!" परन्तु फिर भी वहुत-से आलोचक अपनी वैयक्तिक पसन्द या नापसन्द को आलोचना के किसी ऐसे मापदण्ड के अनुकूल वनाना चाहते है, जिसे वह अपने

से वाह्य वस्तु कल्पना करते है, यह बाह्यता की आवश्यकता किसी ऐसे अवैयक्तिक सत्य के आश्रय की आवश्यकता ही, जोकि हमारे व्यक्तित्व से पृथक् हो, कला की मापक भिन्न-भिन्न कल्पनाओ व नियमो का मुख्य स्रोत है। परन्तु यह कल्पनाये, यह नियम व मापदण्ड भी बदलते रहते है और एक युग मे स्थापित सिद्धात व नियम अगले ही युग मे छिन्न-भिन्न कर दिये जाते है। क्या सौदर्य केवल हमारे मन की कल्पना मात्र है और हमारे विचारो व इन्द्रियो की रचना है, परन्तु अन्य प्रकार से इसका हमसे कोई अस्तित्व नही है ? इस हालत मे प्रकृति मे सौदर्य का कोई आस्तित्व नही रहता है, हमारे मनो ने अध्यारोपण द्वारा प्रकृति के ऊपर इसको आरोपित कर दिया है। परन्तु इससे इस तथ्य का विरोध हो जाता है कि यह एक बाह्य विषय की हमारे मन पर प्रतिक्रिया है, और सुन्दर व असुन्दर का भाव मूलत इस बाह्य विषय से पृथक् हमारे मन मे उदित नही होता। वह बाह्य विषय जिसे हम देखते है, उसमे सौदर्य विद्यमान है, परन्तु उसके दो पहलू है -सारभूत सौदर्य और वह रूप जिसे यह धारणा करता है। "सनातन सौदर्य, जो निरन्तर अपने मार्ग पर परिभ्रमण करता है" वह यह परिभ्रमण आकृतियो के असख्य प्रकार के परिवर्तन द्वारा ही करता है, जो आकृतियाँ चेतना के असख्य परिवर्तनो को प्रभावित व आकृष्ट करती रहती है। यहाँ कठिनाई उपस्थित होती है। प्रत्येक वैयक्तिक चेतना एक आकृति-विशेष मे (किसी एक कविता व कला के कार्य के रूप मे) सनातन सौदर्य को पकडने का प्रयत्न करती है, परन्तु या तो वह आकृति उसे सहायता देती है, अथवा उसे परे हटाती है, पूर्णतया खीचती है या पूर्णतया परे हटाती है, अथवा आशिक रूप से खीचती है व आशिक रूप से परे हटाती है। एक कवि या कलाकार के सौदर्य के चित्रण मे गलतियाँ होना सभव है, जिससे उसका उचित स्वागत नही होता, परन्तु इनका भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। परन्तु मन की रचना मे परिवर्तन व इसकी प्रतिक्रिया द्वारा ही अधिक मौलिक मतभेद पैदा होते है। इसके अतिरिक्त ऐसे मन भी है, और अधिक सख्या प्राय उन्ही की है, जो कलात्मक सौदर्य से सर्वथा प्रभावित ही नही होते—उनके अन्दर सौदर्य की जो भी भावना है, उसे अकलात्मक वस्तुएँ ही अधिक आकृष्ट व प्रभावित करती है—अथवा वे सौदर्य की खोज ही नही करते, अपितु केवल प्राणिक सुख ही उनका लक्ष्य है।

एक समालोचक इन सीमाओ से मुक्त नही हो सकता। वह अपने-आपको उदार व वाह्यापेक्षी बनाने का प्रयत्न कर सकता है, और जो कविता वह पढता है, या जो कला वह देखता है, उनके उसके अन्दर कोई विशेष सहानुभूति तथा गभीर प्रभाव पैदा न करने पर भी, वह उनमे किसी विशेष गुण व सौन्दर्य को खोजने की चेष्टा कर सकता है। पोप व ड्राइडन की बहुत-सी

रचनाओ से मैं अपने स्वभाव की अनुरूपता नही देख पाता, परन्तु फिर भी उनके अपने क्षेत्र मे मै उनकी आश्चर्यजनक पूर्णता व शक्ति को देख सकता हूं। किस उत्कृष्ट सक्षिप्तता, शक्ति, तीव्रता व पूर्ण निश्चितता के साथ वे अपने विचारो की अभिव्यक्ति व काव्य की सृष्टि करते है, और मै यह भी देख सकता हूं कि केवल एक और गुण के अल्प समावेश से ही उनकी शैली वास्तव मे एक महान् कवित्व-शैली का आधार हो सक्ती थी, जैसा कि ड्राइडन ने स्वय अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना मे दिखाया है। परन्तु मेरा उनका गुणगान यही समाप्त हो जाता है, उनके बारे मे मेरी प्रशसा इससे ऊँचे नही जाती, मै उन व्यक्तियो से, जो उन्हे वर्ड्सवर्थ, कीट्स व शैली के समकक्ष बतलाते है, अथवा उनसे भी उच्च श्रेणी मे रखते है, सहमत नही हूं। मै यह अनुभव किये बिना नही रहता कि उनकी रचना अपने रूप मे व अपनी सीमा के अन्दर अत्यन्त सगत तथा पूर्ण होते हुए भी (कम-से-कम पोप की) कवित्व के गुण मे इतनी ऊँची नही है। यह सब सौन्दर्य की भावना व सौन्दर्य के लिए अनुभूति से उत्पन्न होता है जोकि स्वभाव से सम्बन्ध रखती है। हाउसमैन ने ब्लेक की जो अत्यधिक प्रशसा की है, वह कवित्व सौन्दर्य के बारे मे उसकी इस विशेष प्रकार की धारणा के कारण है कि वह एक आन्तरिक अनुभूति की अपील करता है और सगत बौद्धिक विचार से विनष्ट हो जाता है। परन्तु मैं उस पर इस समय कोई विवाद नही करूँगा। तथापि इसका यह अर्थ नही है कि समालोचना मात्र ही व्यर्थ है। एक समालोचक जिस प्रकार का सौन्दर्य वह स्वय देखता है, उसे पाठको के मन पर अकित करने मे सहायक हो सकता है। वह न केवल उन तत्त्वो की खोज मे जो किसी रचना को सुन्दर बनाते और उसके सौन्दर्य को विलक्षणता प्रदान करते है, उन्हे सहायता प्रदान करता है, वरन् उन्हे पूर्ण रूप से उस सौन्दर्य का मूल्याकन करने योग्य बनाता है। उदाहरण के तौर पर हाउसमैन की समालोचना से बहुत से व्यक्ति ब्लेक मे वे गुण देख पायेंगे, जो वे पहले नही देख पाये थे। बहुत सभव है कि वे शेक्सपीयर के साथ ब्लेक की तुलना करने मे उससे सहमत न हो, परन्तु वे कवित्व सौन्दर्य के उस तत्त्व को, जिसपर वह आवश्यकता से अधिक जोर देता है और इस प्रकार जिसे सजीव ढग से स्पष्ट कर देता है, पहले की अपेक्षा किसी हद तक अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर सकते है।

हाँ, निस्सन्देह मनुष्य के अन्दर महानता का एक सहज बोध है, जिसके द्वारा वह एक महान् कवि व कलाकार मे उसकी अपेक्षा कम महान् कवियो व कलाकारो से भेद करता है और उन नीची श्रेणी के महान् कवियो व कलाकारो को उन व्यक्तियो से पृथक् करता है, जो सर्वथा ही महान् नही है। परन्तु यदि तुम इस सहजबोध से यह आशा करो कि वह यान्त्रिक तत्परता तथा

व्यापकता से इस प्रकार कार्य करे कि सब मनुष्यो की एक ही सम्मति हो व सब मनुष्य एक वस्तु का एकसा ही मूल्य आके, तो यह असभव है। शेक्सपीयर, दान्ते व उस श्रेणी के अन्य कवियो की महानता मे कोई सन्देह नही कर सकता, क्योकि उनका सम्मान उनके समय मे भी तथा बाद मे भी एकसा ही होता चला आया है। वर्जिल और होरेस अपने समय मे प्रथम श्रेणी के कवि माने जाते थे, और उनकी वह ख्याति वैसे ही बनी हुई है। उनकी ख्याति के क्षेत्र मे परिवर्तन सभव है, प्रथमत कुछ लोगो ने ही उसे देखा होगा, बाद मे बहुतो ने उसे देखा, और अन्त मे सभी उससे परिचित हो गये। प्रारम्भ मे कुछ विरोधी समालोचक व आक्रमण करनेवाले भी होते है, परन्तु वे विरोधी स्वर धीरे-धीरे विनष्ट हो जाते है। ऐसे सन्देह कभी-कभी जरूर उठते रहते है—जैसे, क्या वर्जिल की अपेक्षा लुक्रेटियस महान् कवि नही था—परन्तु यह सन्देह वैयक्तिक ही है, साधारण निर्णय हमेशा स्थायी रहता है। यहाँ तक कि नीची श्रेणी के कवि भी, उनकी प्रसिद्धि मे कुछ हेरफेर होने के बावजूद अपने पद व प्रतिष्ठा पर कायम रहते है। तुमने कुछ कवियो की अप्रतिष्ठा, तथा अप्रतिष्ठितो की पुन प्रतिष्ठा के बारे मे लिखा है। पोप और ड्राइडन के साथ ऐसा ही हुआ है। कोट्स व उसके समकालीन कवियो ने उनके नियमो को भग करके उनकी लाशो को कुचलते हुए भावात्मक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की चेष्टा की, परन्तु अब पुन उनकी पूर्व प्रतिष्ठा स्थापित हो गयी है। लेकिन यह सब एक भ्रान्ति के समान है– क्योकि इस बात पर गौर करो कि उनकी अत्यन्त अप्रतिष्ठा के समय मे भी पोप व ड्राइडन का स्थान अग्रेजी कविता साहित्य के मुख्य नामो मे था। कोई भी विवाद या निन्दा उनसे इस ख्याति व स्थान को नही छीन सकी। इससे मेरी उस धारणा की पुष्टि होती है कि कवित्व महत्ता का एक स्थायी सहजबोध है।

हाउसमैन व इलियट सदृश समालोचको के तुलना के प्रयत्नो का क्या होगा ? मुझे यह असम्बद्ध व निरर्थक प्रतीत होते है। दान्ते व शेक्सपीयर दोनो ही कवित्व ख्याति के शिखर पर विराजमान है, परन्तु प्रत्येक की प्रतिभा शैली मे इतना अधिक अन्तर है कि उनमे किसी प्रकार की तुलना निरर्थक है। शैक्सपीयर के अन्दर वह शक्तियाँ है, जिनका दान्ते मुकाबला नही कर सकता, दान्ते के अन्दर वह उच्चता है जिस तक शेक्सपीयर नही पहुँच सकता, परन्तु तत्वत दोनो ही समान शक्तिशाली है। शेक्सपीयर और ब्लेक की तुलना तो एक वैयक्तिक कल्पनामात्र है, उसका कोई विशेष अर्थ नही। पवित्रता व महानता एक वस्तु नही है, हाउसमैन के अनुसार ब्लेक की कविता शुद्ध कविता हो सकती है, जबकि शेक्सपीयर

की एक-दो स्थल को छोडकर वैसी नही है, परन्तु यह कोई नही कह सकता कि ब्लेक की प्रतिभा मे शेक्सपीयर की प्रतिभा का-सा विस्तार, घनत्व या समृद्धि विद्यमान है। यदि तुम यह कहते हो कि एक रहस्यवादी कवि के रूप मे ब्लेक शेक्सपीयर से महत्तर है—यह निस्सन्देह सत्य है—कारण शेक्सपीयर रहस्यवादी कवि कदापि नही है। परन्तु जीवन-क्रीडा के कवि के रूप मे शेक्सपीयर सब कुछ है, ब्लेक कुछ नही। भाषा की चातुरी व रुचि की विचित्रताये नि.सन्देह है। यदि हम प्रत्येक वस्तु को उसके उचित स्थान पर रखे, और विवादग्रस्त विषयो को परस्पर मिला न दें, तो हम हाउसमैन द्वारा की गयी ब्लेक की प्रशसा का समर्थन कर सकते है, परन्तु उसका सब बातो मे उसे शेक्सपीयर से ऊँचा बनाना, इन वस्तुओ के उस स्थायी सहजबोध के सर्वथा प्रतिकूल है जो किसी भी वैयक्तिक निर्णय से प्रभावित नही होता।

महान् कवियो की अपने समकालीन कवियो के बारे मे निर्णय करने मे होने वाली गलतियाँ उनके वैयक्तिक वहम है—अर्थात् वे मन की सामयिक गतियो द्वारा सहजबोध के मार्ग मे होनेवाली रुकावट के कारण सहजबोध की असफलतायें है। गेटे और बकिम की गलतियाँ, किसी नवीन प्रतिभा व बुद्धि का, जो नवीन होने के कारण उस समय अत्यन्त आकर्षक व प्रभावशाली प्रतीत होती थी, अत्यधिक मूल्य आकने मे ही है। रिचार्डसन का 'पामेला' आधुनिक उपन्यास का प्रभात काल था। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, साधारण सहजबोध, तत्काल व यन्त्र के सदृश बिलकुल नही कार्य नही करता। एक समकालीन व्यक्ति के गुणो का अतिशयोक्तिपूर्ण व लाघवपूर्ण मूल्याकन प्राय हो जाता है। परन्तु अधिकतर एक वास्तविक कवि प्रारम्भ मे कुछ ऐसे थोडे से व्यक्तियो की ही प्रशस्ति प्राप्त करता है, जिनकी आँखें खुली हुई होती है—और प्राय उन व्यक्तियो के आक्रमण का लक्ष्य हो जाता है जिनके चक्षु बन्द होते है—और फिर वह धीरे-धीरे सख्या मे बढते जाते है, और अन्त मे साधारण सहजबोध उनके निर्णय की पुष्टि कर देता है।

एक फ्रासीसी कवि के बारे मे एक अग्रेज के निर्णय के सम्बन्ध मे, अथवा इसकी विपरीत दशा मे, यह एक विदेशी भाषा की सूक्ष्मतर भावना व बारीकियो मे प्रवेश करने मे होने वाली कठिनाइयो के कारण है। एक फ्रासीसी के लिए शैली व कीट्स के गुणो को ठीक तरह समझ सकना कठिन है, और इसी प्रकार एक अग्रेज के लिए रेसीन को समझना उतना ही कठिन है। परन्तु मौरिये के समान फ्रासीसी, जो एक अग्रेज की ही तरह अग्रेजी जानता है, शैली के गुणो का ठीक-ठीक मूल्य आँक सकता है। इन विभिन्नताओ का ध्यान रखना आवश्यक है, मानवीय मन एक पूर्ण यन्त्र व साधन नही है, इसके सर्वोत्कृष्ट सहजबोध भी

असम्बद्ध मानसिक रचनाओ के आवरण से बहुत ढके रहते है, परन्तु इन मामलो मे मानसिक आकाश के सब परिवर्तनो के बीच सत्य अपने आपको प्रकट कर देता है, और दृढता के साथ अपने सार रूप मे साफ-साफ खडा रहता है ।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

मैं नही कह सकता कि तुम्हारे सन्देहो के तर्क को ठीक-ठीक समझ सका हूँ । कारागृह के अस्पताल मे रुग्णशैया पर पडा हुआ एक नि स्वार्थ मित्र योग की आशा पर कैसे पानी फेर देता है ? ससार मे अनेक निराशाजनक दृश्य है, परन्तु अन्त मे यही तो कारण है कि योग क्यो करना चाहिए । यदि ससार सर्वथा सुखी, सुन्दर व आदर्शरूप होता, तो इसमे परिवर्तन लाने की आवश्यकता ही कौन अनुभव करता और भौतिक मन व प्रकृति मे एक उच्चतर चेतना के अवतरण की आवश्यकता ही क्यो होती ? तुम्हारी दूसरी युक्ति यह है कि योग अपने आप मे सुगम वस्तु नही है—यह लक्ष्य प्राप्ति का सुखद मार्ग नही है । निस्सन्देह यह नही है, क्योकि ससार व मानवीय प्रकृति जो है, सो है । मैने यह कभी नही कहा कि यह एक सरल कार्य है अथवा इसके मार्ग मे दुस्तर कठिनाइयाँ नही है ।

फिर भी मैं तुम्हारी यह बात कि मैं प्रतिदिन दस घण्टे तुच्छ से पत्र लिखकर एक नयी जाति का निर्माण करूँ, इसे भी नही समझ पाया । निस्सन्देह नही—महत्वपूर्ण पत्रो के लिखने से भी नही, और यदि मैं अपना सारा समय सुन्दर कवितायें लिखने मे भी व्यतीत करूँ, तो उससे भी नव जाति का निर्माण सभव नही । प्रत्येक क्रिया अपने स्थान पर एक महत्व रखती है, एक अणु या एक परमाणु अथवा एक कण अपने आप मे क्षुद्र वस्तु हो सकते है, किन्तु विश्व की रचना मे अपने स्थान मे वे अनिवार्य होते है ससार का निर्माण केवल पर्वतो, सूर्यास्तो और ध्रुवो से आनेवाली वैद्युतिक प्रकाश की धाराओ से नही होता—यद्यपि इनका भी इसमे स्थान है । इन सब वस्तुओ के पीछे रहनेवाली शक्ति व इन क्रियाओ के उद्देश्य के ऊपर सब कुछ निर्भर करता है—और वह उस विश्व आत्मा को विदित है जो निरन्तर कार्य कर रही है, और मैं यह भी कह दूं कि यह विश्व आत्मा मन द्वारा या मानवीय मापदण्डो के अनुसार अपना कार्य नही करती अपितु एक महत्तर चैतन्य द्वारा अपना कार्य करती है, जो एक अणु से प्रारम्भ करके एक महान् विश्व का निर्माण कर सकती है, और एक शिराग्रन्थियो के समूह का प्रयोग करके उन्हे यहाँ पर प्रकृति मे मन व आत्मा के कार्यों के लिए आधार बना सकती है, एक रामकृष्ण व एक नैपोलियन और एक शेक्सपीयर को जन्म दे

सकती है। क्या एक महान् कवि का जीवन केवल शानदार व आवश्यक वस्तुओ से बना होता है ? एक 'किग लीयर' व एक 'हैमलेट' के निर्माण से पूर्व न जाने कितनी छोटी-छोटी बातो से वास्ता पडा होगा और न जाने कितनी ही छोटी-छोटी बातें करनी पडी होगी ?

और फिर तुम्हारे ही तर्क के अनुसार यदि लोग तुम्हारी इस परेशानी पर तुम्हारी हँसी उडावे तो क्या वे युक्तिसगत न होगे ? छद, छद-विन्यास और शब्द भाग कितनी तरह से पढा जा सकता है, इस बारे मे जो तुम परेशान रहते हो, उस पर वे ऐसा कहेगे—मैं नही कहता—कि दिलीप राय इन तुच्छ नीरस वस्तुओ मे अपना समय क्यो नष्ट कर रहा है, जबकि वह इसका उपयोग एक सुन्दर भजन व सगीत के निर्माण मे कर सकता था। परन्तु कार्य करने वाला उस उपादान को जानता व उसका आदर करता है जिससे उसे कार्य करना है और वह यह भी जानता है कि वह इन तुच्छ व क्षुद्र वस्तुओ के सूक्ष्म विवरण मे क्यो व्यस्त रहता है, और उसके परिश्रम की पूर्णता मे इनका क्या स्थान है।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

मेरी दृष्टि मे मनुष्य का अन्तिम मूल्य उसके शब्दो द्वारा नही लगाया जा सकता, न उसके कार्यो द्वारा ही लगाया जा सकता है, परन्तु जो कुछ वह बन जाता है, उसीसे उसका मूल्य निर्धारण करना उचित है।

धर्मवेत्ता, उपन्यासकार व नाटकलेखक मानवीय प्राणियोको जितना विचार-शील व अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी बतलाते है, वास्तव मे वे उतने विचार-शील व उत्तरदायी नही है, और मैं यह देखने की चेष्टा करता हूँ कि मनुष्य जब कोई इरादा व निश्चय करता प्रतीत होता है, तब उसे वैसा करने के लिए उन शक्तियो के अतिरिक्त, जिनका वह मनुष्य स्वय अनुमान करता है, किन शक्तियो ने उसे बाध्य किया है। हमारे अनुमान प्राय गलत होते हैं और जब वे ठीक भी होते है तब भी वास्तविकता की ऊपरी सतह को ही स्पर्श करते है।

इस प्रश्न के बारे मे कि क्या ईश्वर मनुष्य को चाहता है, मेरा उत्तर यह है कि यदि ईश्वर न चाहता होता, तो मनुष्य भी ईश्वर को न चाहता। ईश्वर से ही मनुष्य के अन्दर अमरत्व के लिए इच्छा व उत्कट अभिलाषा आयी है और उसके अन्दर अवस्थित दिव्य आत्मा ही उसका बीज अपने साथ लाई है।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

वह अश जो तुमने उद्धृत किया है श्री रामकृष्ण के बारे मे मेरी विचारपूर्वक सम्मति है।

"बारी-बारी से प्रत्येक योग की साधना की थका देने वाली प्रक्रिया मे जो परिश्रम का अपव्यय है, उसका खयाल न करते हुए भी, हमारी सीमित शक्तियो को देखते हुए मनुष्य जीवन के इस क्षुद्र जीवन काल मे व्यवहार मे वह कर सकना सुगम कार्य नही है। कभी-कभी निस्सन्देह हठयोग और राजयोग का क्रमश अभ्यास किया जाता है। और श्री रामकृष्ण परमहस के हाल ही के विलक्षण उदाहरण मे हम एक महान् आध्यात्मिक सामर्थ्य देखते है, जो पहले सीधी ईश्वरीय साक्षात्कार की ओर जाता है, मानो वह ईश्वरीय राज्य पर धावा बोलकर उस पर विजय पा लेती है, और फिर क्रमश एक-एक करके यौगिक साधनो को पकडकर अविश्वसनीय शीघ्रता के साथ उनमे से सारवस्तु को निकालकर हमेशा समस्त साधना के स्तर तक लौट आती है। वह सार क्या है? प्रेम की शक्ति द्वारा व अन्त उत्पन्न आध्यात्मिकता के विविध अनुभवो मे विस्तार द्वारा तथा सहज-वोधात्मक ज्ञान की स्वाभाविक क्रीडा द्वारा भगवान की अनुभूति व उपलब्धि।"

(योग समन्वय)

यह कल्पना करना कि मैं भक्ति अथवा भावपूर्ण भक्ति के विरुद्ध हूँ —जिसका अर्थ भी अन्त मे वही निकलता है, क्योकि बिना भाव के भक्ति नही हो सकती—केवल भ्रान्त धारणा है। बल्कि सत्य तो यह है कि योग के सम्बन्ध मे अपने लेखो मे मैंने भक्ति को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। किसी समय मैंने जो ऐसी बात कही है जिससे यह भ्रान्त धारणा हो सकती है, वह उस अशुद्ध भक्तिवाद के विरुद्ध कही गयी है, जो मेरे अनुभव के अनुसार सतुलन के अभाव मे विक्षुब्ध व असगत प्रलाप, यहाँ तक कि विरोधी प्रतिक्रियाओ और अन्तत स्नायविक विकार को पैदा करती है। परन्तु भावो की पवित्रता पर बल देने का अभिप्राय यह नही है कि मैं सच्चे भावो का निरादर करता हूँ, इस तरह तो मन व सकल्प की पवित्रता पर बल देने से कोई मुझे विचार व सकल्प विरोधी भी कह सकता है। इसके विपरीत भाव जितना ही गभीर होता है उतनी ही भक्ति भी गभीर होती है, और उसी अनुपात मे उसकी साक्षात्कार व परिवर्तन पैदा करने की शक्ति भी तीव्र होती है। भाव की तीव्रता से ही प्राय आन्तर सत्ता जागृत हो जाती है और अन्तर के पट ईश्वर मे खुल जाते है।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

तुमने जो डिकिन्सन का वह उद्धरण दिया है, जिसमे उसने कहा है "निश्चय ही यदि कोई आशावाद के प्रति अयुक्तियुक्त झुकाव के साथ इस प्रश्न को न देखे, तो उसके लिए यह कल्पना करना ही असभव है कि किसी भी महत्वपूर्ण बात मे 'प्रगति' नाम की कोई सारवान् वस्तु है। अथवा यहाँ हम भी टेलीफोन और मोटरकार जैसो उन मूर्खतापूर्ण व असम्बद्ध बातो से ही प्रभावित हो जाते है ?—यदि हम प्रगति की कुछ आशा करते भी हैं तो वह आशा हमे मनुष्य के अन्दर करनी चाहिए। और मुझे इस बात की कोई साक्षी नही दिखाई देती कि मनुष्य साधारणतया पहले से बेहतर है, बल्कि इसके विपरीत ऐसी साक्षी विद्यमान है जिससे सिद्ध होता है कि वे पहले से बदतर है।"

क्या उसके पिछले विचार निराश आदर्शवाद की रुग्ण परछाई से आवृत न थे। मैं भी मनुष्य जाति और जो कुछ भी यह है, उसके लिए अपने मन मे बहुत अधिक सन्मान नही रखता—परन्तु यह कहना कि मनुष्य ने जरा भी उन्नति नही की है, इतना ही अतिशयोक्तिपूर्ण निराशावाद है, जितना कि प्रगतिशील मनुष्य जाति के प्रति उन्नीसवी शताब्दी के उन्मत्त स्तुतिगान मे अतिशयोक्तिपूर्ण आशावाद भरा हुआ है ।अन्तत मनुष्य जाति को उन्नत बनाने का सबसे उत्तम साधन पहले अपने आपको आगे बढाना है, सुनने मे यह अहवादी या व्यक्तिवादी प्रतीत होती है, परन्तु व स्तव मे यह ऐसी नही है, यह एक साधारण बुद्धिगम्य वस्तु है। जैसाकि गीता मे कहा है "यद्यदा चरति श्रेष्ठ स्तत्तवेतरो जन" (जो सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति करते है, जनसाधारण उसी को अपना आदश मानकर उनका अनुकरण करते है)।

कुछ पाशविक अश हमेशा मनुष्यो को पीछे की तरफ खीचते रहते है, और विभक्त कौन नही है ? किन्तु सर्वोत्तम मार्ग यही है कि मनुष्य अपने अन्दर विद्यमान ईश्वर की चिनगारी रूप आत्मा मे विश्वास करके उसे तीव्र ज्वाला के रूप मे प्रदीप्त करने का प्रयास करें।

—श्री अरविन्द

दिलीप,

मै ईश्वरीय अनुग्रह के बारे मे कुछ कहना चाहता हूँ—ऐसा प्रतीत होता है कि तुम ऐसा विचार करते हो कि यह एक प्रकार की ईश्वरीय बुद्धि है जो बहुत कुछ मानवीय बुद्धि के समान ही कार्य करती है। परन्तु ऐसी बात नही है। और न यह सार्वभौम ईश्वरीय दया है जो उस तक पहुँचने वाले सभी व्यक्तियो पर

निष्पक्ष रूप से कार्य करती है, अथवा उनकी सब प्रार्थनाओ को स्वीकार कर लेती है। यह धर्मात्मा लोगो को ही वरण करती है और पापियो को त्याग देती है, ऐसी बात भी नही है। यह ईश्वरीय अनुग्रह अत्याचारी सारमुस, विषयलोलुप सन्त आगस्टाइन अपनी दुष्ट करतूतो के लिए प्रसिद्ध जगई मधई तथा बिल्वमगल व और अनेक ऐसे व्यक्ति जिनका आकस्मिक मानसिक नैतिक पुनर्जन्म मानवीय नैतिक बुद्धि की पवित्रता की भावना को धक्का पहुँचा सकता है उन सबकी सहायता के लिए आया था। परन्तु यह धार्मिक व्यक्तियो की मदद के लिए भी आ सकता है—और उन्हे उनके सात्विक अहकार से मुक्त कर इन सब चीजो से ऊपर वास करने वाली गुणातीत पवित्रतर चेतना तक पहुँचा सकता है। यह वह शक्ति है जो किसी भी नियम से, यहाँ तक कि विश्व नियम से भी ऊँची है—कारण सभी आध्यात्मिक द्रष्टा ऋषियो ने नियम और अनुग्रह के बीच भेद किया है। फिर भी यह विवेक रहित नही है—परन्तु इसका अपना ही विवेक है जो वस्तुओ और व्यक्तियो तथा ठीक काल व ऋतु को मन अथवा अन्य किसी साधारण शक्ति की अपेक्षा भिन्न दृष्टि से देखता है। एक व्यक्ति अन्दर प्राय गहन पर्दो के पीछे मन से अविज्ञेय साधनो द्वारा अनुग्रह की अवस्था की तैयारी होती है—और जब वह अनुग्रह की अवस्था आ जाती है तब वह अनुग्रह स्वय कार्य करता है। यह तीन शक्तियाँ है (१) कर्म (या और जो कुछ वह हो) उसका विश्वव्यापी नियम। (२) ईश्वरीय कृपा जो नियम के जाल के बीच से जिन अधिक व्यक्तियो तक पहुँच सकती है, उन पर अपना कार्य करती है और उन्हे अवसर प्रदान करती है और (३) ईश्वरीय अनुग्रह, जो रहस्यमय तरीके से पर साथ ही अन्यो की अपेक्षा अधिक अदम्य रूप से कार्य करता है। प्रश्न केवल यही है कि जीवन की सब अनियमितताओ के पीछे क्या कोई ऐसी वस्तु है जो पुकार का प्रत्युत्तर दे सकती है और अपने आपको, चाहे कैसी ही कठिनाई से क्यो न हो, खोल सकती है, जब तक कि यह ईश्वरीय अनुग्रह के प्रकाश के लिए तैयार न हो—और वह एक मानसिक व प्राणिक चेष्टा नही हो सकती, लेकिन कोई अन्य आन्तरिक वस्तु ही हो सकती है जिसे अन्तवर्ती चक्षु अच्छी तरह देख सकता है। यदि वह वहाँ विद्यमान है तो जब यह सन्मुख होकर क्रियाशील होती है तब दया कार्य कर सकती है, यद्यपि अनुग्रह का पूर्ण कार्य फिर भी निश्चयात्मक निर्णय व परिवर्तन की प्रतीक्षा कर सकता है, क्योकि इसे किसी भविष्यत्‌काल के लिए भी स्थगित किया जा सकता है। कारण, सत्ता का कोई अश जो अभी ग्रहण करने को तैयार नही है बीच मे आकर बाधा डाल सकता है। परन्तु अपने व ईश्वर के बीच मे किसी वस्तु, किसी विचार या किसी घटना को क्यो दखल देने देते हो? जब तुम मिलन की अभीप्सा से पूर्ण

आनन्दमग्न अवस्था मे हो, तब किसी वस्तु की परवाह मत करो, ईश्वर व तुम्हारी अभीप्सा के अतिरिक्त किसी वस्तु को भी महत्व मत दो। यदि कोई शीघ्रता के साथ पूर्ण रूप से व सर्वभाव से ईश्वर को चाहता है तो उस तक पहुँचने के लिए ऐसी एकान्तिक लगन की आवश्यकता है कि एकमात्र वही लक्ष्य हर समय सन्मुख रहे, अन्य कोई वस्तु बीच मे दखल न देने पाए।

ईश्वर का क्या स्वरूप होना चाहिए, वह किसी प्रकार कार्य करता है, या उसे क्या कार्य नही करना चहिए—इत्यादि मानसिक विचारो का क्या मूल्य है, ये सब केवल मार्ग के प्रतिबन्ध है। असली महत्त्व की वस्तु तो केवल स्वय ईश्वर ही है, उसी का मूल्य है। जब तुम्हारी चेतना ईश्वर का आलिंगन करती है, तभी तुम ईश्वर को जान सकते हो, उससे पूर्व नही। कृष्ण कृष्ण ही है, भक्त को इस बात की चिन्ता नही कि वह क्या करता है या क्या नही करता, उसका दर्शन, स्पर्शन, उसके प्रकाश, साक्षात्कार, प्रेम व आनन्द का अनुभव—यही उसके लिए मूल्यवान् वस्तु है। आध्यात्मिक अभीप्सा के लिए सदा ऐसा ही होता है—यही आध्यात्मिक जीवन का नियम है।

८ मई, १९३४

—श्री अरविन्द

गुरु,

गत रात्रि मैं विश्वविख्यात ज्योतिषी कैरो की १९२५ मे प्रकाशित 'विश्व भविष्यवाणियाँ' नामक पुस्तक पढ रहा था। उसने कुछ आश्चर्यजनक भविष्य-वाणियाँ की है। उनमे से केवल एक ही मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ क्योकि मैं वह पुस्तक ही आपके पढने के लिए भेज रहा हूँ, उसमे से आप और भी देख सकते है। उसमे किंग जार्ज पष्ठ के बारे मे लिखा है—

"उसके बारे मे यह ध्यान देने लायक़ है कि उसकी आयु की वृद्धि के साथ-साथ उसमे राजकीय जुपीटर ग्रह बढता जाता है।" और आगे प्रिंस आफ वेल्स के बारे मे "उसकी कुण्डली परेशानी पैदा करनेवाले व निराश करनेवाले प्रभावो से भरी हुई है, जो निश्चित रूप से ऐसे परिवर्तनो की ओर निर्देश करते है, जिनसे इगलैण्ड के राज्यसिंहासन पर महत्त्वपूर्ण असर पडने की सभावना है—वह एक विनाशकारी प्रेम-घटना का शिकार होगा। और यदि ऐसा हुआ तो मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि वह अपनी प्रेमिका के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग कर देगा, यहाँ तक कि राज्यसिंहासन को भी लात मार देगा।" (!!!)

परन्तु यदि यह सब पहले ही इसी प्रकार होना निश्चित था तो गुरु! यह स्पष्ट है कि शेक्सपीयर गलत था, जबकि उसने यह कहा—

"ब्रूटस, हमारा दोष हमारे ग्रहो मे नही है, यह हमारे मे ही है कि हम दास हैं।' और उसका यह कथन ठीक है जहाँ उसने कहा है—

"जीवन एक चलती-फिरती परछाई है, यह एक विचारा गरीब पात्र है जो रगमच पर दो घडी के लिए अकडकर चलता है, और खिजते हुए रोष प्रकट करता है, और जिसके बारे मे फिर कुछ सुनाई नही देता यह एक पागल द्वारा कही हुई कहानी है जो क्रोध व कोलाहल से भरी हुई है परन्तु सर्वथा अर्थशून्य है।"

कम-से-कम मैं तो अपने-आपको सर्वथा एक दास ही अनुभव करता हूँ, जो यह सोचने के लिए बाधित है कि ग्रहो की गति से यह निश्चित है कि १५ दिसम्बर, १६३६ की मध्यरात्रि मे दिलीप एक पुस्तक पढेगा, और अगले दिन प्रात.काल अपने गुरु को अपनी उदासी की कहानी लिखेगा जिसके उत्तर मे अगले दिन गुरु बुद्धिमत्ता के शब्दो मे गभीर उत्तर द्वारा समाधान करेगे। मुझे बताने की कृपा कीजिए कि क्या ये ग्रह यह जानते है कि आपकी बुद्धि कल क्या उत्तर लिखेगी ?

—दिलीप

दिलीप,

तुम्हारे उद्धरण पृथक् रूप से पढने पर अत्यन्त प्रभावजनक हैं, परन्तु पूरी पुस्तक पढने पर वह प्रभाव कम हो जाता है और धीरे-धीरे विनष्ट हो जाता है। तुमने कैरो की सफलताओ का निर्देश किया है, परन्तु उसकी असफलताओ के बारे मे चुप्पी क्यो ? मैंने पुस्तक का अवलोकन किया है, और उन भविष्यवाणियो की सख्या को देखकर, जो सत्य सिद्ध नही हुई हैं, मेरा विश्वास लड़खडा गया है। थोडी-सी भविष्यवाणियो के आधार पर, चाहे वह कितनी ही सत्य क्यो न हो तुम यह परिणाम नही निकाल सकते कि तुम्हारे पत्र द्वारा प्रश्न करने से लेकर मेरे उत्तर देने तक सब कुछ पहले से ही निश्चित है। इसकी सभावना हो सकती है, परन्तु इसकी पुष्टि के लिए कोई उपयुक्त साक्षी नही है। जो स्पष्ट है वह केवल इतना ही है कि घटनाचक्र मे ठीक-ठीक व विस्तारपूर्वक व मुख्य-मुख्य बातो मे भविष्य कथन का एक अश विद्यमान है। परन्तु यह पहले भी ज्ञात था, और इससे यह प्रश्न हल नही होता कि क्या सभी वस्तुओ के भविष्य के विषय मे पहले से ही बताया जा सकता है ? क्या जीवन-सत्ता मे भाग्य ही एकमात्र निर्णायक तत्त्व है, या और भी कोई निर्णायक तत्त्व हैं जो भाग्य में परिवर्तन कर सकते हैं— अथवा भाग्य-निर्णय हो जाने पर भी क्या भाग्य के भिन्न-भिन्न स्रोत शक्ति व स्तर नही हैं ? और क्या हम, जिस भाग्य से हमने प्रारम्भ किया है, उसे दूसरे भाग्य के स्रोत, शक्ति व क्षेत्र के अपने जीवन मे प्रवेश द्वारा व उसे अपने जीवन मे क्रिया-

शील बनाकर परिवर्तित नही कर सकते ? दार्शनिक प्रश्न इतने सरल नही हैं कि वे एक दिशा या उससे सर्वथा विपरीत दिशा मे निश्चयात्मक रूप से हल किए जा सकें—साधारण जनो का किसी वस्तु के बारे मे निर्णय करने का ढग है, परन्तु यह सर्वथा जल्दबाजी का तरीका है, और किसी सन्तोपजनक परिणाम पर पहुँचाने वाला नही। स्वतन्त्र सकल्प ही सब-कुछ है या भाग्य ही सब कुछ है—यह प्रश्न भी इतना सरल नही है। यह स्वतन्त्र सकल्प व भाग्य का प्रश्न दार्शनिक प्रश्नो मे सबसे जटिल व दुरूह है और अब तक कोई भी इसका समुचित हल नही कर पाया है—कारण, भाग्य व सकल्प दोनो का ही अस्तित्व है, और स्वतन्त्र सकल्प भी अवश्य कही विद्यमान है, कठिनाई केवल यही है कि उसे किस तरह प्राप्त किया जाए और कैसे प्रभावशाली बनाया जाए।

ज्योतिष विद्या ? बहुत-सी ज्योतिष की भविष्याणियाँ ठीक निकली है, यदि उन सबको एक जगह एकत्रित कर दिया जाए, तो काफी बडा सग्रह हो सकता है। परन्तु इससे यह परिणाम नही निकलता कि ग्रह हमारे भाग्य को शासित करते हैं, यह ग्रह पूर्व-निश्चित भाग्य का निर्देश मात्र कर सकते है, इसलिए ये एक प्रकार के शब्द-चित्र है, एक शक्ति नही है—और यदि उनका कार्य एक शक्ति का कार्य भी है, तो यह एक वाहक शक्ति है, उत्पादक शक्ति नही। कोई ऐसी सत्ता है जिसने निर्णय कर दिया है, अथवा कोई ऐसी वस्तु है जिसे हम भाग्य कहते है, ग्रह केवल निर्देश मात्र है। ज्योतिषी लोग स्वय यह कहते है कि दैव और पुरुषकार, भाग्य और वैयक्तिक शक्ति, ये दो शक्तियाँ है, और यह वैयक्तिक शक्ति परिवर्तन कर सकती है, यहाँ तक कि भाग्य के प्रभाव को बिलकुल नष्ट भी कर सकती है। इसके अतिरिक्त ग्रह प्राय भाग्य की कई भिन्न प्रकार की सभावनाओ का निर्देश करते है, उदाहरण के लिए अमुक व्यक्ति आधी आयु मे मर जाएगा, परन्तु यदि इस निश्चय को किसी प्रकार जीत लिया जाए, तो वह अपनी पूर्ण आयुष्य का सेवन करेगा। और अन्तत ऐसे दृष्टान्त भी दृष्टिगोचर होते है, जिनमे किसी निश्चित आयु तक जन्मपत्री की भविष्यवाणियाँ सर्वथा सत्य सिद्ध होती हैं, परन्तु उसके बाद नही। जब कोई व्यक्ति साधारण जीवन से विरक्त होकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है, तब प्राय ऐसा होता है। किसी व्यक्ति मे यह परिवर्तन जितना ही मौलिक होता है, उतना ही तत्सम्बन्धी भविष्यवाणी का अन्त भी तात्कालिक होता है, अन्यथा कुछ परिणाम काफी समय के लिए जारी रह सकते हैं, परन्तु उनके बारे मे पूर्ण अपरिहार्यता कायम नही रहती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक भाग्य की कोई ऐसी उच्चतर शक्ति, उच्चतर स्तर व उच्चतर स्रोत विद्यमान है जो समय आने पर निम्नतर शक्ति, निम्नतर स्तर व

निम्नतर स्रोत के प्राणिक व भौतिक भाग्य को, जिसके कि ग्रह सूचक है, अतिक्रमण कर सकते है। मैंने प्राणिक शब्द का प्रयोग इसलिए किया है, क्योंकि जन्म-पत्री से जीवन की घटनाओ के समान चरित्र का भी उनसे कही अधिक पूर्णता व सन्तोप के साथ पूर्व-निर्देश किया जा सकता है।

भाग्य की भारतीय व्याख्या कर्म है। हम अपने कर्मों दारा स्वय ही अपने भाग्य है, परन्तु जिस भाग्य का हमने निर्माण कर दिया है, उसीसे हम बँध जाते है, क्योकि जो हमने वोया है, वही इस जन्म मे या अगले जन्म मे काटना होगा। परन्तु अपने पूर्व-भाग्य का फल वर्तमान मे भुगतान करते हुए भी हम अपने भविष्य के भाग्य का निर्माण करने रहते है। इससे हमारे सकल्प व कर्म को एक महत्त्व प्राप्त हो जाता है, और जिस कठोर नपुसक भाग्यवाद मे यूरोपियन समालोचक भूल से विश्वास करते है, वह यह नही है। और फिर हमारा सकल्प व हमारे कर्म हमारे पूर्व-कर्मफल को भी प्राय: परिवर्तित व विनष्ट कर सकते है, केवल कुछ थोडे से दृढ प्रभाव के कर्म ही, जिन्हे उत्कट कर्म कहते है, ऐसे हैं जो परिवर्तनशील नही है। इसमे भी आध्यात्मिक चेतना व आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति द्वारा ही पूर्व कर्म के विनाश तथा विनाशक शक्ति की प्राप्ति की सभावना कीकल्पनाकी जाती है। क्योकि उस अवस्था मे हमारा उस विश्वव्यापी विश्वातीत ईश्वरीय सकल्प के साथ मेल हो जाता है जो किन्ही विशेष परिस्थितियो के लिए निर्धारित आज्ञा को रद्द कर सकता है और अपने पूर्व-निर्माण का नए सिरे से निर्माण कर सकता है, सकुचित निश्चित रेखाएँ मिट जाती है, वहाँ एक अधिक लचकीली स्वतन्त्रता व विशालता का आविर्भाव होता है। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र व कर्म दोनो ही एक कठोर व अपरिवर्तनीय भाग्य की ओर निर्देश नही करते।

जहाँ तक भविष्यवाणी का सम्बन्ध है, मेरी आजकल किसी भी ऐसे भविष्य-वक्ता से चाहे वह कितना ही प्रसिद्ध क्यो न हो, भेट नही हुई जिसकी भविष्य-वाणी सर्वदा अटल रही हो। उनकी कुछ भविष्यवाणियाँ अक्षरश सत्य सिद्ध हुईं, परन्तु कुछ नही हुईं, कभी वे अर्द्ध-सत्य हुईं और कभी सर्वथा ही गलत हुई। परन्तु इससे यह प्रमाणित नही होता कि भविष्यकथन की शक्ति ही अवास्तविक है, अथवा सत्र सत्य होने वाली भावष्यवाणियो की उन्हे एक अति सभावना, दैवयोग, अवसर या आकस्मिक सयोग मात्र कहकर व्याख्या की जा सकती है। जिन घट-नाओ की इस प्रकार व्याख्या नही की जा सकती, उनकी सख्या बहुत अधिक है। भविष्यवाणियो की पूर्ति मे कमी-वेशी की व्याख्या कभी भविष्य-वक्ता के अन्दर किसी शक्ति की अपूर्णता द्वारा, जो कभी क्रियाशील रहती है और कभी निष्क्रिय हो जाती है, की जा सकती है, अथवा यह कहकर की जा सकती है कि घटनाओ

के बारे मे आशिक रूप से ही भविष्यवाणी सभव है, वे कुछ अ श मे ही पूर्व-निश्चित रहती है, और या भिन्न तत्त्वो या शक्ति की लाइनो द्वारा, अथवा सभावित और वास्तविक शक्तियो की विभिन्न श्रेणियो द्वारा निश्चित होती है। जब तक कोई भविष्यवक्ता एक लाइन के सम्पर्क मे रहता है, वह ठीक-ठीक भविष्यवाणी करता है, अन्यथा नही, अथवा यदि शक्ति की लाइन परिवर्तित हो जाती है तो उसकी भविष्यवाणी भी ठीक नही उतरती। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यदि घटनाओ के बारे मे भविष्यवाणी करना सभव है तो कोई-न-कोई ऐसी शक्ति या स्तर अवश्य होना चाहिए जिसके द्वारा या जिस पर से सब तथ्यो बारे मे सब-कुछ पहले ही देखा जा सकता है, यदि कोई ईश्वरीय सर्वज्ञता या सर्वशक्तिमत्ता है तो ऐसा होना ही चाहिए। और तब भी, जो पहले से देखा गया है उसे कार्यान्वित करना होता है—वह वास्तव मे कार्यान्वित होता है आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक व शारीरिक शक्तियो की क्रीडा द्वारा, और शक्तियो के उस स्तर मे पूर्ण कठोरता उपलभ्य नही है। वैयक्तिक सकल्प व प्रयत्न उन्ही शक्तियो मे से एक शक्ति है। नेपोलियन से जब पूछा गया कि वह भाग्य मे विश्वास करते हुए भी क्यो निरन्तर नई-नई योजनाओ के बनाने व काम करने मे जुटा रहता है, उसने उत्तर दिया—"क्योकि मेरे भाग्य मे यही लिखा है कि मै योजनाएँ बनाता रहूँ और कार्य मे जुटा रहूँ।" दूसरे शब्दो मे उसका योजनाए बनाना व कार्य करना भाग्य के ही अश थे, और भाग्य जिस परिणाम को दृष्टि मे रखता था, उसे ही पूर्ण करते थे। यदि मैं किसी विरोधी परिणाम का भी पूर्व निर्देश देखता हूँ, तो भी मुझे उस परिणाम के लिए कार्य करना चाहिए, जिसे मै फलीभूत होते देखना चाहता हूँ, क्योकि वह शक्ति, वह सत्य का सिद्धान्त अनुप्राणित होता है, जिसकी मैं उपासना करता हूँ, और वह भविष्य मे उसकी विजय को सभव बना देता है। और वर्तमान भाग्य के विरोधी होने पर भी वह भावी अनुकूल की क्रिया का अश बन जाता है। मनुष्य किसी ध्येय या लक्ष्य की तात्कालिक असफलता को देखकर अथवा उसकी भावी असफलता की सभावना को देखकर ही उसका परित्याग नही कर देते, और अपने इस धैर्यपूर्वक दृढ प्रयत्न के लिए वे आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा ठीक मार्ग पर हैं। इसके अतिरिक्त हम केवल बाह्य परिणाम के लिए ही जीवित नही रहते, जीवन का उच्चतर लक्ष्य आत्मा का विकास है, न कि सामयिक बाह्य सफलता अथवा सन्निकट भविष्य मे होनेवाली सफलता है। भौतिक भाग्य के विरोध में व उसके द्वारा भी आत्मा विकसित हो सकती है।

अन्तत यदि सब कुछ पूर्व-निश्चित है तो शेक्सपीयर या मैकबैथ के शब्दो मे यह क्यो कहते हो कि, जीवन एक पागल का प्रलाप है जो कोलाहल और जोश से

पूर्ण है, परन्तु सर्वथा अर्थ-शून्य है।" जीवन ऐसा तब होता, यदि वास्तव मे सब दैवात् आकस्मिक व अनिश्चित होता। परन्तु यदि यह कोई पूर्व-निर्दिष्ट व सूक्ष्म ब्यौरेवार पूर्व-नियन्त्रित वस्तु है, तो क्या इससे यह स्पष्ट नही है कि जीवन कोई अर्थ रखता है व कोई ऐसा गुप्त लक्ष्य है जिसकी पूर्ति के लिए युग-युगान्तर से पूर्ण शक्ति के साथ निरन्तर प्रयत्न होता चला आ रहा है, और हम सब उसीके एक अश है ग्रौर उस अजेय लक्ष्य की पूर्ति मे सहकर्मी हैं।

१७ दिसम्बर, १९३६ —श्री अरविन्द

पुनश्च—हाँ, सवसे महान् आनन्द इस बात मे हो सकता है कि हम यह अनुभव करे कि हम ईश्वर द्वारा प्रेरित हो रहे है, कर्म (भाग्य) अथवा ग्रहो द्वारा नही, क्योकि कर्म व ग्रहो से प्रेरित होना मशीन की गति की तरह एक नीरस, कष्टदायक व अवाछनीय वस्तु है—यन्त्रारूढानि मायया।

१८ दिसम्बर, १९३६ —श्री ग्ररविन्द

दिलीप,

दर्शन भी अनेक प्रकार के होते है। एक बाह्य दर्शन है जो केवल क्षणिक तौर पर या कुछ समय के लिए उस सत्ता की, जिसके हम दर्शन करते हैं, मूर्ति को हमारे सन्मुख खडा कर देता है, परन्तु जब तक आन्तरिक भक्ति उसे परिवर्तन का साधन नही वनाती, वह किसी प्रकार का परिवर्तन नही ला सकता। एक ऐसा भी दर्शन है कि जिसमे एक जीवित मूर्ति का उसके किसी एक विशेष रूप मे अपने अन्दर, मानो हृदय के अन्दर इस प्रकार ग्रहण होता है कि उसका तात्कालिक प्रभाव होता है, और वह हमारे आध्यात्मिक विकास के दीक्षा काल का प्रारम्भ करता है। ऐसा भी दर्शन है जिसमे एक व्यक्ति का अपने से पृथक् बाह्य रूप मे सूक्ष्म भौतिक रूप मे दर्शन होता है।

जहाँ तक मिलन का सम्बन्ध है, स्थायी मिलन अन्दर होता है, और वह वहाँ प्रत्येक समय हो सकता है, बाह्य मिलन या सम्पर्क साधारणतया स्थायी नही होता। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो जब भी पूजा करते है तब उन्हे प्राय लगभग सदा ही मिलन व सम्पर्क हो जाता है, जिस चित्र व मूर्ति द्वारा वे किसी देवता की पूजा करते है, वह देवता उन्हे उस चित्र व मूर्ति मे साक्षात् जीवित रूप से विद्यमान व उसीके द्वारा नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता दिखाई देता है। दूसरे साधक उसे हर समय बाह्य रूप से व सूक्ष्म देहधारी के रूप मे जहाँ पर व जिस मकान मे वे रहते है, उसमे ही अपने साथ रहता हुआ अनुभव करते है, परन्तु कभी-कभी यह केवल

कुछ समय के लिए ही होता है। अथवा वे उसकी अपने साथ उपस्थिति का अनुभव कर सकते है, बार-बार देह रूप मे उसका दर्शन कर सकते है (परन्तु भौतिक रूप मे कभी-कभी ही) उसके स्पर्श व आलिंगन का अनुभव कर सकते है, व उसके निरन्तर सभाषण भी कर सकते हैं—यह भी एक प्रकार का मिलन है। परन्तु सबसे उत्कृष्टतम मिलन वह है जिसमे साधक अपने आराध्य देवता की अपने अन्दर व ससार की प्रत्येक वस्तु के अन्दर उपस्थिति का अनुभव करता है, वह यह अनुभव करता है कि वह देवता समस्त विश्व को अपने अन्दर धारण किए हुए है, समस्त सत्ता के साथ एक हुआ है, परन्तु साथ ही सारे विश्व से बहुत परे है परन्तु इस विश्व मे भी भक्त सिवाय उसके और किसी वस्तु का दर्शन-श्रवण या स्पर्श नही करता, उसकी इन्द्रियाँ केवल उसकी ही साक्षी देती है।

२८ अप्रैल, १९४३ —श्री अरविन्द

गुरु,

निस्सन्देह हम सबको मित्र राष्ट्रो की सब प्रकार की सहायता के पक्ष मे प्रयत्न करना चाहिए, और प्रत्येक समझदार मनुष्य इस बात मे आपसे सहमत होगा कि हिटलर मनुष्य जाति की सभ्यता तथा आध्यात्मिक मूल्यो के लिये इतना बडा खतरा है कि इस समय की सबसे मुख्य आवश्यकता उसका पतन है। परन्तु मुझे 'क' का एक लम्बा पत्र हाल ही मे मिला है, जिसमे हमारी इस वर्तमान युद्ध की कुरुक्षेत्र के युद्ध से वह हिटलर की दुर्योधन से तथा मित्र राष्ट्रो की धर्म के रक्षक पाण्डवो से तुलना के बारे मे इस प्रकार आपत्ति प्रकट की है।" यदि मुझे बाह्य सघर्ष मे भाग लेने की प्रेरणा होती तो मैं अवश्य ही तहेदिल से हिटलर के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करता। परन्तु अभी तक इस विश्वव्यापी महाभारत के युद्ध मे मुझे कोई बाह्य अर्जुन दिखायी नही देता, जिसके कारण मेरे हृदय मे सन्देह ने घर कर लिया है, क्या ऐंग्लो-अमेरिकन वायुयानो का गरजता हुआ शोर ही उसके गाण्डीव धनुष की टकार है ?" इसके अलावा मुझे गत कुछ दिनो मे ऐसे अनेक पत्र मिले हैं, जिनमे लेखको ने यह प्रतिपादन किया है कि पाण्डवो ने धर्मराज्य की स्थापना के लिए युद्ध किया था, जबकि मित्र राष्ट्रो का दृष्टिकोण अब भी मुख्यतया साम्राज्यवादी ही प्रतीत होता है। यदि युद्ध की समाप्ति के बाद भी उनका वही दृष्टिकोण बना रहे, तब क्या होगा ? वे यह युक्ति पेश करते है कि उस हालत मे हमारी सहायता उनके साम्राज्यवाद की स्थापना के लिए ही होगी, न कि प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए। मै ऐसे प्रश्नकर्त्ताओ से सहमत नही हूँ, परन्तु फिर भी मैं यह सोचने के लिए बाध्य हूँ कि मित्र राष्ट्रो के बहुत-से कार्य आपके

दृष्टिकोण को गलत समझने मे कारण बन सकते है। इसीलिए मै इस बारे मे आपसे प्रश्न कर रहा हूँ।

—दिलीप

दिलीप, १ सितम्बर, १९४३

मैं जो कहता हूँ, वह यह नही है कि मित्र-राष्ट्रो ने अनुचित कार्य नही किये हैं, बल्कि वह यह है कि वे प्रगतिशील शक्तियो के पक्ष मे खडे हुए है। और मैंने बात बिना किसी आधार के नही कही है, बल्कि स्पष्ट तथ्यो के आधार पर ही कही है। तुमने जिसका चित्रण किया है वह केवल अन्धकारमय पहलू है। सभी जातियाँ व सरकारे दूसरी जातियो व सरकारो के साथ व्यवहार करने मे इस प्रकार के कार्य करती आयी है—जो शक्तिशाली है, व जिन्हे कभी अवसर मिला है, उन्होने कम-से-कम ऐसा ही किया है। मै आशा करता हूँ कि तुम मुझसे यह उम्मीद नही करते होगे कि मैं किसी ऐसी सरकार व जाति की विद्यमानता व भूतकाल मे उपस्थिति मे विश्वास करता हूँ जो सर्वथा धर्मपरायण, नि वार्थ व निष्पाप हो। परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। तुम आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के आधार पर मित्र-राष्ट्रो को दोपी ठहराते हो कि उन्हे भूतकाल मे भी इन्ही आदर्शों के अनुसार कार्य करना चाहिए था, परन्तु इस तरह देखने से सभी का भूतकालीन लेखा कालिमा से पूर्ण है। परन्तु स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, समानता, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय आदि उच्च आदर्शो की स्थापना किन राष्ट्रो ने की है, व किन्होने इनकी स्थापना मे सबसे अधिक भाग लिया है? अमेरिका, फ्रास, इगलैंड,—यही वह देश है जो आजकल मित्र-राष्ट्रो के रूप मे सगठित है। ये सब देश साम्राज्यवादी रहे हैं, और अब भी अपने अतीत का बोझ वहन कर रहे है, परन्तु उन्होने जानबूझकर उन आदर्शो का भी प्रचार किया है और उन सस्थाओ का प्रसार किया है, जो उक्त आदर्शो को मूर्तरूप दे रही हैं। इन वस्तुओ का सापेक्ष मूल्य कुछ भी क्यो न हो—परन्तु अग्रगामी विकास मे वह एक सीढी है, चाहे वह कैसी ही अपूर्ण क्यो न हो। (परन्तु दूसरो के बारे मे क्या है? उदाहरण के लिए हिटलर कहता है कि काली जातियो को शिक्षा देना एक जुर्म है, उन्हे गुलाम व मजदूर बनाकर ही रखना चाहिए) इगलैंड ने बिना किसी निजी स्वार्थ के कुछ जातियो को स्वतन्त्र करने मे मदद दी है, उसने एक सघर्ष के बाद मिस्र व आयरलैंड को स्वतन्त्रता देना स्वीकार किया है, और ईराक को बिना किसी सघर्ष के ही स्वतन्त्रता दी है। वह निश्चित रूप से, यद्यपि धीरे-धीरे साम्राज्यवाद से हटकर सहयोग की तरफ बढ रहा है, उपनिवेशो व इगलैंड का ब्रिटिश कामनवेल्थ एक अद्वितीय व अभूतपूर्व सस्था है, यह उस दिशा मे एक नया कदम है, वह एक प्रकार के ऐसे विश्वव्यापी सघ की भावना की ओर बढ रहा है जिसमे आक्रमण

को असम्भव बनाया जा सके, उसकी नयी पीढी अब पूर्वीय जातियो के उत्थान के मिशन मे विश्वास नही करती, उसने भारत के सामने भी औपनिवेशिक स्वतत्रता पेश की है—और यदि वह चाहे तो युद्ध के बाद उसे सर्वथा पूर्ण रूप से भी स्वतन्त्रता देना स्वीकार किया है, जिसमे भारतीय जनता अपनी इच्छा से स्वतन्त्र विधान का निर्माण कर सकती है इस सबको मै उचित दिशा मे प्रगति कहता हूँ—यद्यपि यह कितनी ही अपूर्ण, धीरे-धीरे व हिचकिचाहट के साथ क्यो न हो। जहाँ तक अमेरिका का सम्बन्ध है, उसने मध्य व दक्षिणी अमेरिका के सम्बन्ध मे अपनी भूतकालीन साम्राज्यवादी नीति का परित्याग कर दिया है और क्यूबा व फिलिपीन को उसने स्वतन्त्रता दे दी है । क्या धुरी-राष्ट्रो के पक्ष मे भी कोई ऐसा रुख दिखायी देता है ? वस्तुओ को स्थिरता से व पूर्ण रूप मे देखने के लिए उनके प्रत्येक पहलू को देखना आवश्यक है। एक बार फिर मैं यही कहता हूँ कि मुझे बाह्य अनावश्यक बातो मे नही उलझना है, बल्कि उनके पीछे कार्य करने वाली शक्तियो को देखना है। हमे भविष्य की रक्षा करनी है, तभी वर्तमान कष्टो व विरोधो के समाधान का अवसर मिल सकता है, व उन्हे दूर किया जा सकता है ।

हमारे लिए यह प्रश्न नही उठता। हमने यह उस पत्र मे, जो पहले प्रकाशित किया जा चुका है[1] स्पष्ट कर दिया है कि हम वर्तमान युद्ध को जातियो व सरकारो

---

१ श्री अरविन्द ने एक शिष्य को लिखा था (२९ जुलाई, १९४२) "तुम्हे इस युद्ध को किन्ही जातियो का दूसरी जातियो के विरुद्ध या भारत के विरुद्ध युद्ध नही समझना चाहिए, यह एक आदर्श के लिए युद्ध है जो मनुष्य जाति के बीच इसके जीवन-काल मे प्रतिष्ठित होना है, यह एक ऐसे सत्य के लिए युद्ध है जिसे उस अधकार और असत्य के विरुद्ध, जो इसे जीतने का प्रयत्न कर रहे है, अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करती है। हमे उन शक्तियो को देखना चाहिए, जो इस युद्ध के पीछे कार्य कर रही है, न कि इस या उस ऊपरी परिस्थिति (घटना) को देखना चाहिए। जातियो की त्रुटियो व गलतियो को देखना निरर्थक है, सब मे ही कोई-न-कोई त्रुटि है, और सभी भयानक गलतियाँ भी करते है, परन्तु वास्तव मे देखना यह है कि युद्ध मे किस पक्ष को उन्होने अपनाया है। यह युद्ध मनुष्य जाति के विकास की स्वतन्त्रता के लिए, उन परिस्थितियो के लिए, जिनमे मनुष्य जाति को अपने अन्दर के प्रकाश के अनुसार सोचने व कार्य करने की स्वतन्त्रता होगी, और सत्य व आत्मा के विकास के लिए लड़ा जा रहा है। इसमे तिलमात्र भी सन्देह नही कि यदि धुरी-पक्ष विजयी होता है तो ऐसी सब स्वतन्त्रता व प्रकाश की आशा का अन्त हो जायगा, जो मनुष्य के लिए उसको क्रियान्वित

के बीच (या श्रेष्ठ पुरुषो व नीच पुरुषो के बीच) लडाई नही मानते, बल्कि दैवीय और आसुरिक दो शक्तियो के बीच सघर्ष मानते है। जो वस्तु हमे देखनी है, वह यही है कि मनुष्य व राष्ट्र किस पक्ष को अपनाते है, यदि वे सत्य का पक्ष लेते है, तो वे अपनी उन सब त्रुटियो, गलतियो व उन मिथ्या हरकतो के बावजूद, जो मनुष्य प्रकृति व सामूहिक मानवीय सघो मे सर्वथा स्वाभाविक है, अपने आपको ईश्वरीय उद्देश्य का साधन बनाते है। एक पक्ष (मित्र-पक्ष) की विजय विकास की शक्तियो के लिए मार्ग को खुला रखेगी, दूसरे पक्ष की विजय मनुष्य जाति को पीछे धकेल देगी, इसका भयानक रूप से अध पतन कर देगी, और बहुत सम्भव है कि एक जाति वे रूप मे अन्तत इसकी असफलता का ही कारण न बन जाय, जैसाकि भूत की प्रगति मे औरो का पतन हुआ है। यही सबसे मुख्य प्रश्न है, अन्य सब विचार या तो असगत है या गौण महत्त्व रखते हैं। मित्र-पक्ष कम-से-कम मानवीय मूल्यो को लेकर खडे हुए है, यद्यपि वे भी प्राय अपने उच्च आदर्शो से गिर जाते है, (जैसा कि मनुष्य प्राय करता है), परन्तु हिटलर राक्षसी आदर्शो का प्रतीक है, अथवा उन मानवीय मूल्यो के लिए खडा है, जो विपरीत दिशा मे यहाँ तक आगे बढ गये है कि वे राक्षसी हो गये है (उदाहरणार्थ वे जर्मन जाति को सर्वोत्कृष्ट शासक जाति समझते है)। इससे यह अभिप्राय न निकालना चाहिए कि अमेरिकन व अग्रेज जातियाँ सर्वथा निर्दोष देवताओ के समान है, अथवा जर्मन जाति एक दुष्ट व पापी जाति है, परन्तु निर्देशक के तौर पर इसका मुख्य महत्त्व है ।

कुरुक्षेत्र की उपमा सब तरह के पूर्ण सादृश्य की द्योतक नही है, बल्कि दो विश्वव्यापी शक्तियो के बीच युद्ध का एक रूढिगत उदाहरण है, जिसमे जिस पक्ष को ईश्वरीय शक्ति का अनुग्रह प्राप्त हुआ, वही विजेता हुआ, क्योकि उस पक्ष के नेताओ ने अपने-आपको उसका साधन बनाया। इसे धर्म और पाप अथवा

करना असम्भव बना देगी, उस दशा मे सर्वत्र ही असत्य व अन्धकार का राज्य होगा और मनुष्य जाति के एक बडे अश को ऐसे भीषण अत्याचार व अवनति का सामना करना पडेगा, जिसकी कल्पना भी असम्भव है। परन्तु यदि दूसरा पक्ष, जिसने मनुष्य जाति के स्वतन्त्र भविष्य की घोषणा की है, विजयी होता है, तो यह खतरा टल जायगा, और वह परिस्थितियाँ पैदा हो जायेगी जिनमे आदर्श के विकास के लिए ईश्वरीय कार्य को करने के लिए, और जिस आध्यात्मिक सत्य को हम पृथ्वी पर प्रतिष्ठित करना चाहते है, उसकी प्रतिष्ठा के लिए अवसर प्राप्त हो सकेगा। इसलिए वे लोग जो इस लक्ष्य के लिए लड रहे है, वे ईश्वरीय पक्ष के लिए और असुर के सम्भावित राज्य का अन्त करने के लिए युद्ध कर रहे है।

अच्छे और बुरे आदमियो का सघर्ष नही समझना चाहिए। क्योकि अन्तत क्या पाण्डवो मे कोई भी त्रुटि नही थी, क्या वे सर्वथा स्वार्थशून्य और वासनाओ से रहित थे ?

क्या पाण्डव अपने अधिकारो और निजी स्वार्थ की रक्षा के लिए युद्ध नही कर रहे थे ?—यह ठीक है कि उनके वह स्वार्थ निस्सन्देह युक्तिसगत व न्याययुक्त थे, परन्तु फिर भी उनके वे दावे व स्वार्थ व्यक्तिगत ही थे। उनका वह युद्ध धर्म-युद्ध था, परन्तु वह उनके ही वैयक्तिक अधिकार व न्याय-प्राप्ति के लिए था। और यदि साम्राज्यवाद या शक्ति व शस्त्रास्त्र का आश्रय लेकर साम्राज्य निर्माण सब अवस्थाओ मे ही एक पाप है, तो पाण्डव भी उस पाप से मुक्त नही हो सकते, क्योकि उन्होने भी साम्राज्य स्थापना के लिए अपनी विजय का प्रयोग किया, जिसकी रक्षा उनके पश्चात् परीक्षित व जनमेजय ने की। क्या आधुनिक मानव-हितवाद व शान्तिवाद धर्मात्मा पाण्डवो के विरुद्ध (जिसमे कृष्ण भी सम्मिलित है) यह लाञ्छन नही लगा सकता कि उन्होने भारत मे अपना अखड साम्राज्य स्थापित करने के लिए अनेक स्वतन्त्र राजाओ व देशवासियो का भीषण सहार किया था ? प्राचीन घटनाओ को आधुनिक आदर्शो की तराजू मे तोलने से इसी प्रकार का परिणाम निकल सकता है। परन्तु वास्तव मे उस समय साम्राज्य स्थापना उचित दिशा मे उठाया हुआ एक कदम था, जैसा कि आजकल स्वतन्त्र राष्ट्रो का विश्वव्यापी सघ उचित दिशा मे उठाया हुआ कदम है—दोनो ही अवस्थाओ मे भयानक नर-सहार के उचित परिणाम है।

हमे याद रखना चाहिए कि पराधीन जातियो पर विजय व शासन करना प्राचीन काल व मध्यकाल मे तथा अब से कुछ ही दिन पूर्व तक निन्दित नही समझा जाता था, अपितु वह एक महत्त्व और गौरव की वस्तु मानी जाती थी। मनुष्य, विजेताओ या विजयी राष्ट्रो मे किसी प्रकार की कोई दुष्टता या पाप-भावना नही देखते थे। पराधीन देशो व जातियो का न्यायपूर्वक शासन ही उनका लक्ष्य था इससे ज्यादा और कुछ नही, शोषण भी उसमे सम्मिलित था। इस विषय पर आधुनिक विचारधारा, जैसे प्रत्येक व्यक्ति व राष्ट्र का स्वतन्त्रता का अधिकार, विजय अथवा साम्राज्य की अनैतिकता, अथवा ऐसे समझौते व मध्यवर्ती मार्ग जैसा कि अग्रेज जाति का पराधीन जातियो को प्रजातन्त्रात्मक स्वतन्त्रता के लिए शिक्षित करने का विचार है—यह सब नये आदर्श है, एक विकासवादी आन्दोलन है, यह एक नया धर्म है जिसने अभी धीरे-धीरे व्यवहार पर प्रभाव डालना शुरू किया है—यदि हिटलर अपने 'अवतारी' ध्येय मे सफल हो जाता और सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपने नवीन 'मजहब' की स्थापना कर लेता तो उपर्युक्त शिशु धर्म का गला सदा के लिए ही घुट जाता। पराधीन राष्ट्र स्वभावत ही नवीन धर्म को स्वीकार करते है और पुराने साम्राज्यवाद की कटु आलोचना करते है, यह आशा

करनी चाहिए कि जव वे स्वय शक्तिशाली व समृद्ध हो जायेंगे, तब भी जिस धर्म का वे प्रचार करते हैं, उसी का पालन करेंगे। परन्तु सर्वोत्तम तो यह है कि विश्व की व्यवस्था एक ऐसे नये रूप मे विकसित हो, चाहे वह प्रारम्भ मे कैसी ही ठोकरे खा-खाकर व अपूर्ण रूप मे ही क्यो न हो, जिसमे पुरानी बाते सर्वथा असम्भव हो जायें—यह कार्य कठिन होते हुए भी सर्वथा असम्भव नही है।

ईश्वर मनुष्यो को, जिस रूप मे वे विद्यमान है उसी रूप मे ग्रहण करता है, और उनके सर्वथा निर्दोष, दिव्यगुण, धर्मात्मा व पवित्र न होने पर भी उन्हे अपना साधन वना लेता है। बाइबिल के शब्दो मे यदि वे शुभकामना रखने वाले है तो वे भगवान् के पक्ष मे है और काय की सफलता के लिए यही पर्याप्त है। यदि मुझे यह भी मालूम हो जाय कि मित्र-राष्ट्र अपनी विजय का दुरुपयोग करेंगे और शान्तिकाल मे अपने वायदो को पूरा नही करेंगे, अथवा उनकी विजय से मानवीय ससार को जो अवसर मिला है उसे वे कम-से-कम किसी अश तक विनष्ट कर देंगे तो भी उनके पक्ष मे ही मैं अपनी शक्ति लगाऊँगा, क्योकि किसी भी अवस्था मे हिटलर की विजय से जो सर्वनाश की आशका है, उसका शताश भी मित्र-राष्ट्र की बुराइयो से नही हो सकेगा। ईश्वर के मार्ग फिर भी खुले रहेंगे—और उनको खुला रखना ही आवश्यक कार्य हो। हमे वास्तविक और केन्द्रीय सत्य को पकडना चाहिए और अन्धकारमय दासता व पुनरुज्जीवित व बर्बरता का जो महान् खतरा भारत व ससार के सामने उपस्थित है, उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और उन अन्य सब गौण विवादो व काल्पनिक समस्याओ को, जो हमारे सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन-मरण के प्रश्न को आवृत कर रही है, भविष्य के लिए छोड देना चाहिए।

३ सितम्बर, १९४४ —श्री अरविन्द

श्री अरविन्द के साथ एक घण्टे की मुलाकात

चूँकि श्री अरविन्द से अगली मुलाकात का विषय मुख्यतया यौगिक शक्तियो औरजीवन पर उनके प्रभाव से सम्वन्ध रखता है, इसलिए आवश्यक भूमिका के तौर पर इससे सम्वद्ध एक वैयक्तिक अनुभव का वर्णन करता हूँ। यह साहस मैं विशेषत इसलिए कर रहा हूँ कि इससे उस विषय पर कुछ प्रकाश पडता है जो नाना प्रकार की वैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार की भ्रान्त धारणाओ व अन्धविश्वासो के तम से आच्छन्न है। आधुनिक शिक्षित व्यक्ति की बुद्धिजन्य वैज्ञानिक आपत्तियो के वारे मे, यदि आज्ञा हो तो जो श्री अरविन्द ने मुझे एक पत्र मे समझाया था, उसे ही यहाँ उद्धृत कर दूँ?

प्रसग इस प्रकार है मेरी एक महिला-मित्र मोटर लारी मे सफर करते हुए

(जिसमे कि उसका कोई अन्य इष्ट सम्बन्धी पास न था) थ्रोम्बोसिस का शिकार हुई, और उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि वह मर रही है। उसने मन-ही-मन श्री अरविन्द तथा माताजी से सहायता की प्रार्थना की, और अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि पाँच मिनट के अन्दर ही वह बिलकुल स्वस्थ हो गयी और किसी प्रकार की दुर्बलता का कोई चिह्न उसके शरीर पर बाकी न था। वह इस बात से अत्यन्त प्रभावित हुई, क्योंकि साधारणतया थ्रोम्बोसिस का आक्रमण रोगी को अत्यन्त असहाय व दुर्बल बना देता है। मैने श्री अरविन्द को एक पत्र लिखकर पूछा कि क्या यह उस महिला की मानसिक कल्पनामात्र है, अथवा श्री माताजी ने उसकी सहायता की पुकार को वास्तव मे सुना था। इसके उत्तर मे श्री अरविन्द ने अपने २४ मार्च, १९४९ के पत्र मे इस प्रकार लिखा —

"जहाँ तक उसके अनुभव का सम्बन्ध है, सहायता के लिए उसकी पुकार निश्चित रूप से माताजी के पास पहुँची, यद्यपि वह सब ब्योरा, जो उसने अपने पत्र मे दिया है, सभव है माताजी के भौतिक मन मे उपस्थित न हो। इस तरह की पुकार माताजी के पास सदा आती रहती है, कभी-कभी तो सैकडो पुकारें एक साथ ही आ जाती है और सदा उनका उत्तर दिया जाता है। अवसर सब प्रकार के होते हैं और पुकार का चाहे जो भी कारण हो, उसका उत्तर देने के लिए शक्ति वहाँ विद्यमान है। यौगिक स्तर पर यही इस कार्य का सिद्धान्त है। यह साधारण मानवीय कार्य के समान नही है, और न ही इसे उस व्यक्ति द्वारा, जो पुकार करता है किसी लिखित या मौखिक सन्देश की आवश्यकता है आन्तर सूचना (Psychic communication) का आदान-प्रदान ही उस शक्ति को गति प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। साथ ही यह कोई अवैयक्तिक शक्ति भी नही है, और यह कल्पना करना कि कोई दिव्य शक्ति वहाँ पुकारकर्त्ता को उत्तर देने व सतुष्ट करने के लिए विद्यमान है—सर्वथा असगत है। यह तो माताजी के लिए एक वैयक्तिक वस्तु है, और यदि उनमे यह शक्ति और इस प्रकार की कार्यक्षमता न होती तो वे अपना कार्य करने मे समर्थ न हो पाती, लेकिन यह भौतिक स्तर की बाह्य व्यावहारिक कार्य-विधि से, जिसकी कार्यप्रणाली अनिवार्यतः उससे भिन्न ही होनी चाहिए, सर्वथा भिन्न है, यद्यपि यौगिक क्रिया और भौतिक क्रिया एक-दूसरे से मिल सकती हैं और मिलती भी है, और यौगिक शक्ति भौतिक कार्यप्रणाली को अत्यन्त प्रभावोत्पादक बना देती है। जहाँ तक उस व्यक्ति का सम्बन्ध है जिसे सहायता प्राप्त हुई है, पर जिसे शक्ति के कार्य का कोई भान नही है, उसका बोध शक्ति के प्रभावपूर्ण कार्य सम्पादन मे बहुत कुछ सहायता कर सकता है, लेकिन इसका होना अनिवार्य नही है, क्योंकि उसे यह बोध हुए बिना भी कि किस प्रकार कार्य हुआ है—शक्ति का उस पर पूरा प्रभाव हो सकता है। उदाहरण के लिए कलकत्ता और अन्य स्थानो मे मेरी सहायता सदा तुम्हारे साथ रही है और

मैं नही सोचता कि यह कहा जा सकता है कि वह प्रभावशून्य थी, लेकिन यह सहायता उसी गुह्य प्रकार की थी, और यदि तुम्हे मेरी सहायता का कोई बोध न भी होता, तो भी उसका प्रभाव उतना ही होता।"

१९२४ मे मैं ऐसी मानसिक अवस्था लेकर कलकत्ता लौटा जब आत्म-विश्वास का तो कहना ही क्या, आशावाद के अन्तिम चिह्न तक भी मेरे मन से मिट चुके थे, क्योकि मुझे निकट भविष्य मे गुरुदीक्षा की कोई आशा दिखायी न देती थी। चाहे मैं कुछ भी करता पर मैं अपने मन को उनके अन्तिम शब्दो का, जो एक भर्त्सना के तुल्य थे, चिन्तन करने से न रोक सका "तुम्हारी अभी तक मानसिक जिज्ञासा है, मेरे योग के लिए इससे कुछ और अधिक की आवश्यकता है।" मुझे उसका भी ध्यान आया जो इस विषय मे उन्होने योग-समन्वय मे लिखा था "किसी उच्चतर व परे वस्तु का केवल विचार या उसके प्रति बौद्धिक जिज्ञासा, चाहे मन की रुचि द्वारा कितनी ही प्रबलता से पकडी हुई क्यो न हो, तव तक प्रभावशून्य है जब तक कि वह हृदय द्वारा एकमात्र इच्छित वस्तु और सकल्प द्वारा एकमात्र कर्तव्य-कर्म के रूप मे ग्रहण नही की जाती। कारण, आत्मा का सत्य केवल चिन्तन की वस्तु नही बल्कि जीवन मे कार्यान्वित करने की वस्तु है, और उसे जीवन मे लाने के लिए सत्ता की सम्पूर्ण एकाग्रचित्तता की आवश्यकता है, वह महान् परिवर्तन जिसकी हम योग द्वारा अपेक्षा करते हैं, विभक्त सकल्प व शक्ति के अल्प अश अथवा झिझकते हुए मन से सम्पन्न नही हो सकता। जो ईश्वर को पाना चाहता है, उसे अपने-आपको ईश्वर और केवल ईश्वर के चरणो मे समर्पित कर देना चाहिए।" (अध्याय २, पृष्ठ २३)

कई वर्ष पश्चात् मैंने उनके सावित्री के वर्णन मे वह चीज पढी जिसे कि मैं तव प्रतिक्षण अनुभव कर रहा था।

लेकिन जैसे-जैसे 'सुख के क्षण' कम होते गये और 'कोहरा' गहनतम होता गया, वैसे-वैसे ही 'मार्ग' अधिकाधिक 'नैराश्यपूर्ण' प्रतीत होने लगा। इस विकट समय मे मैंने श्री रामकृष्ण के सीधे शिष्य स्वामी अभेदानन्द का एक व्याख्यान सुना। उन्होने वहुत-सी वातो के साथ-साथ 'वैराग्यमेवाभयम्' के बारे मे भी कहा और वलपूर्वक यह समझाया कि जीवन से विमुख होने का अर्थ निश्चय ही भय और वन्धन से मुक्ति है। मैं उनके पास गया और वे कृपापूर्वक मुझे दीक्षा देने को सहमत हो गये। लेकिन मेरे एक मित्र, जो कभी पहले श्री अरविन्द के शिष्य रह चुके थे, ठीक समय पर आ पहुँचे और मुझे अपने एक मित्र के यहाँ, जिन्हे अनेक यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त थी, ले गये। एक दूर स्थित ग्राम मे हम रात्रि मे उनके अतिथि हुए। मैंने उन्हे वताया कि मुझे गुरु की कितनी प्रवल आवश्यकता है और उनसे सलाह माँगी। "वैठ जाओ और अपनी आँखे वन्द कर लो।" यही उनका

उत्तर था जो उन्होने मुझे दिया। कुछ उद्विग्न-सा हो मैने उनकी आज्ञा का पालन किया।

मैं नही जानता कि हम कितनी देर तक आँखे बन्द किये वहाँ बैठे रहे, क्योंकि एक गम्भीर शान्ति ने मेरे समय के बोध को समाप्त कर दिया था, उसने मेरी प्यासी आत्मा के प्रत्येक छिद्र को अमृत से भर दिया। मेरे मित्र ने कोहनी के इशारे से मुझे उद्बुद्ध किया। मैने अपने मेजबान की आँखो-से-आँखे मिलायी, जो सूक्ष्मता से मेरा निरीक्षण कर रही थी। मैं लजा गया। वह मुस्कराने लगे।

"लेकिन तुम गुरु की तलाश क्यो कर रहे हो?" उन्होने यकायक मुझसे पूछा, "जबकि श्री अरविन्द ने स्वय तुम्हे स्वीकार कर लिया है?"

'लेकिन यह कैसे सभव है?" मैंने सदिग्ध स्वर मे पूछा— "मैं आपको बता चुका हूँ कि उन्होने मुझे स्वीकार नही किया है।"

"लेकिन मैं कहता हूँ कि उन्होने तुम्हे स्वीकार कर लिया है।"

मेरे हृदय की गति तीव्र हो गयी। मैने लडखडाते स्वर मे कहा—"क्या कुछ और अधिक स्पष्ट करने की कृपा करेगे?"

उन्होने मन्द स्मित के साथ उत्तर दिया—"यह तो बिलकुल सीधी-सी बात है।" और फिर एक या दो क्षण तक मानो मुझे आँकने की चेष्टा करते हुए कहने लगे "वे अभी यहाँ प्रकट हुए थे, ठीक तुम्हारी पीठ के पीछे, और मुझे तुम्हे प्रतीक्षा करने का परामर्श देने का आदेश दे गये है। उन्होने मुझे कहा है कि मैं तुम्हे यह सन्देश दे दूँ कि जब भी तुम तैयार हो जाओगे, वे तुम्हे अपने समीप बुला लेंगे। क्या यह स्पष्ट नही है?"

उनके नेत्र व्यग्य से चमक उठे। मैं मूढ-सा रह गया। क्या यह मेरी मजाक कर रहे है? "परन्तु तब "

उन्होने मधुर स्वर मे कहा—"क्या तुम्हे किसी और निश्चयात्मक प्रमाण की आवश्यकता है?"

मैं उनकी तरफ देखता ही रह गया—हृदय की धडकन तेज होती गयी। एक क्षण तक विचारशील मुद्रा मे रहने के बाद उन्होने कहा—"क्या तुम्हारे पेट के बाये पार्श्व मे कभी कोई बीमारी हुई है?"

मैं आश्चर्यचकित हो उनके मुँह की तरफ देखता रह गया "परन्तु आपको कैसे इसका पता लगा?"

"मुझे इसका पता नही था, यह ठीक है, परन्तु उनसे ही मुझे इसका पता लगा है।"

"कि कि किसने आपको कहा है?" मैंने उखडे हुए शब्दो मे पूछा— "प प परन्तु या और किसी ने?"

वह आनन्दपूर्वक मुस्कराने लगे। "और कौन, तुम्हारे गुरु ने ही स्वय आकर

मुझे कहा है कि उन्होने तुम्हे पहले भी यह परामर्श दिया था कि जब तक तुम्हारी यह बीमारी दूर नही हो जाती, तुम्हे योगाभ्यास की दीक्षा के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिए।" कुछ क्षण मौन रहने के बाद उन्हो फिर कहा—"परन्तु यह क्या है ?"

"यह हार्निया की बीमारी है। रस्साकशी से यह बीमारी हो गयी थी।"

वे आत्मसन्तोष के साथ मेरी तरफ देखते हुए बोले—"इससे बात स्पष्ट हो जाती है। कारण, योगाभ्यास मे इन अगो पर—प्राणशक्ति के आधारभूत अगो पर विशेष दबाव पडता है। बहुत सभव है इसलिए उन्होने जब तक तुम्हारा यह रोग दूर नही हो जाता, तुम्हे प्रतीक्षा करने के लिए कहा है।"

मैंने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा—"परन्तु आपका यह अनुमान ठीक नही है, क्योंकि उन्होने मुझसे कहा था कि तुम्हारी जिज्ञासा अभी मानसिक जिज्ञासा है।" और फिर मैंने पाडिचेरी मे उनसे हुई बातचीत का साराश उन्हे सुनाया। उन्होंने ध्यानपूर्वक मेरी बात को सुना, और जब मैं कथा के अन्त मे पहुँचा तो मेरी ओर दयापूर्ण दृष्टि निक्षेप करते हुए कहने लगे "अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया है। वह तब तक तुम्हे प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य करना चाहते थे, जब तक कि तुम उन्हे अपना गुरु पहचान सको। अभी तक तुम ऐसा नही कर पाये हो, अन्यथा तुम किसी अन्य व्यक्ति के पास मार्गदर्शन के लिए न जाते।" इसके बाद वे योग मे तथा योग के द्वारा कार्य करने वाली शक्तियो, गुरुदेव मानसिक पूर्व-धारणाओ की बाधा और सबसे बढकर श्री अरविन्द की महत्ता और उनका एक शक्ति के आवाहन का प्रयत्न—अतिमानस का अवतरण, जिसके लिए अभी भी हमारे मन व पार्थिव चैतन्य तैयार नही है, इन सबके बारे मे बहुत सी बाते कहने लगे। और यह भी कहा कि किस प्रकार उन्होने ध्यानावस्थित होकर इस वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ योगी (युगावतार) के दर्शन किये हैं, और उन माताजी का भी साक्षात्कार किया है, जो श्री अरविन्द की शिष्या होने के साथ-ही-साथ उसी उच्चतम श्रेणी की उनकी सहकार्यकर्त्री भी हैं। और अन्त मे उन्होने मुझे कुछ ऐसे व्यावहारिक निर्देश किये जिनके द्वारा मैं दीक्षाकाल मे श्री अरविन्द की सहायता का श्रेष्ठतम उपयोग कर सकूं। मुझे उनकी वह सब बाते इस समय स्मरण नही है, परन्तु जो अन्तिम चेतावनी उन्होने मुझे दी थी, उसे मैं कभी नही भूल सकता।

उन्होंने कहा—' तुम्हें पुकार हो चुकी है परन्तु याद रखो, वरा जाना इससे कही अधिक कठिन है। इसके लिए तुम्हे अपनी इच्छा को सर्वात्मना गुरु के चरणो मे अर्पण कर देना होगा, ताकि वह अपनी इच्छा के अनुसार तुम्हारा निर्माण कर सके, न कि तुम्हारी इच्छा के अनुसार, ध्यान रखो। इसके लिए तुम्हारे अन्दर श्रद्धा होनी चाहिए—उनकी उत्कृष्टतम बुद्धिमत्ता पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए

और वह न केवल इसलिए कि वे तुम्हारे गुरु हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे यौगिक विभूतियो के शिखर पर पहुँच चुके हैं।"

मेरे शरीर मे एक प्रकार की कँपकँपी दौड गयी। मैंने आजतक योगविभूतियो का कभी साक्षात्कार न किया था, विशेषत इस प्रकार सत्य साबित की जा सकने वाली शक्तियो का इस बात से मैं विशेष रूप से प्रभावित हुआ कि उन्होने भी मुझे ठीक वही परामर्श दिया जो श्री अरविन्द ने स्वय मुझे दिया था—उनके मोनी नामक एक शिष्य ने १९२५ मे मुझे इससे सूचित किया था—यद्यपि मुझे तब भी आश्चर्य होता था कि क्या आश्वासन कि "श्री अरविन्द तब तक मेरी प्रतीक्षा करते रहेगे, जब तक मैं आत्मसमर्पण के लिए तैयार न हो जाऊँ" सत्य भी सिद्ध हो सकेगा? और अन्त मे यद्यपि यह कोई कम महत्त्व की बात नही है कि मैं हमेशा के लिए अपने उस उत्तरदादयित्व की भावना से मुक्त हो गया जो एक क्रूर घुडसवार के समान मुझे अपनी आकाक्षाओ के बारे मे सतत सतर्क रहने के लिए एड लगाती रहती थी।

परन्तु विश्रान्ति चिरस्थायी सिद्ध न हो सकी, क्योकि मैं भावुकतावश एक उलझन मे फँस गया, जिससे मेरी बेचैनी और भी बढ गयी—और उससे बाहर निकलने का मुझे कोई रास्ता दिखायी न दिया। कर्म के रहस्यमय चक्र से बाधित होकर मैंने एक बार फिर यूरोप-यात्रा का निश्चय किया। और ऐसा सयोग हुआ कि ठीक इस नाजुक समय पर आकाश मे अमृत वर्षा के समान ऐडिसन ग्रामोफोन कम्पनी के एजेन्ट ने मुझे न्यूयार्क मे अपनी कम्पनी के लिए कुछ रिकार्ड तैयार करने के लिए आमन्त्रित किया। मेरे अन्दर एक नवजीवन का सचार हुआ और मई, १९२७ मे फ्रास के लिए प्रस्थान कर दिया। पर वहाँ फिर कुछ अप्रत्याशित वस्तु मेरी महत्त्वाकांक्षापूर्ण योजनाओ को विफल करने के लिए घटित हुई, जिससे पाडिचेरी की याद मुझे बुरी तरह सताने लगी, और यहाँ तक कि न्यूयार्क एक मिथ्या वस्तु प्रतीत होने लगा। स्थानाभाव मुझे संक्षिप्तता के लिए बाध्य कर रहा है और आत्मकथात्मक प्रवृत्ति के आवेग मे मैं अपने लक्ष्य से बहुत दूर भी नही जाना चाहता, इसलिए अपने विषय से सम्बन्ध रखने वाली बात तक ही अपने को सीमित रखूँगा, अर्थात् उस दिव्य अतिथि की यौगिक शक्ति तक जो हमारे भाग्य के रहस्यमय निर्माता के समान, "हमारे गहन अन्धकारावृत्त भाग मे अदृश्य रूप से प्रविष्ट होता है, और अन्धकार के आवरण के पीछे तब तक अपना कार्य करता है—जब तक कि वे भी परिवर्तन की आवश्यकता व इच्छा अनुभव नही करते।"[1]

घटना इस प्रकार है। मैंने पूर्व और पश्चिम के प्रसिद्ध मिलनस्थल कोट दी

---

१ श्री अरविन्द की 'सावित्री' से उद्धृत, प्रथम पुस्तक, तृतीय सर्ग।

उन्होंने अपना जीवित रहने का अधिकार खो दिया है। मुझे यह स्वीकार करते लज्जा अनुभव होती है कि मैं केवल स्वभावजन्य मोह के कारण अभी तक जिन्दगी मे चिपटे हुए हूँ। परन्तु आज जब मैं यह देखता हूँ कि मेरे अन्दर लक्ष्य पर पहुँचने का सकल्प नही है, तो मै अपने-आप को एक कायर के समान अनुभव करता हूँ, जो जिन्दा रहना चाहता है, पर इसलिये नही कि वह दूसरो की सहायता कर सकता है, अपितु इसलिए कि जो दूसरो की सहायता कर सकते है, उनके कार्य मे बाधा डालने की अपनी शक्ति मे उसे एक पाशविक आनन्द का अनुभव होता है। और धीरे से उसने कहा —"मैने इस बात का बडे जोर के साथ उस समय अनुभव किया जब मैने पहले-पहल देखा—तुम जानते हो किसे ?"

मैं प्रभावित हो गया। "आपका अभिप्राय ।"

"हाँ, श्री अरविन्द" उसने कहा और कुछ देर मौन रहने के बाद फिर कहना प्रारम्भ किया—"वही एक व्यक्ति है जिसको मैंने अपने समस्त जीवन मे अपने से ऊँचा समझकर उसके चरणो मे अपना सिर नवाया है—और वही एक ऐसा ऋषि है, जिसने जीवन मे कार्य करने वाले और खमीर की तरह इसमे गुप्त रूप से परिवर्तन लाने वाले दिव्य प्रयोजन मे मेरे विश्वास को सुदृढ किया है, और जो 'प्रयोजन' उन व्यक्तियो को जो अपने आपको परिवर्तित नही करना चाहते, एक तरफ छोड देता है।" यहाँ उसने अनुताप के साथ अपने सिर को हिलाया और पुन कहा—"परन्तु मेरे विश्वास ने मेरा साथ नही दिया और मैंने इस प्रयोजन के स्रष्टा से इस कारण सहयोग करने मे इनकार कर दिया, क्योकि उसने मुझे अपना एकमात्र सम्पादक घोषित नही किया और भविष्य मे प्रकाशित होने वाली ग्रथमाला का सर्वाधिकार मुझे प्रदान नही किया,—एक शब्द मे मै इतना स्वेच्छाचारी था कि जीवन की पुस्तक मे केवल एक सहलेखक के रूप मे अपना अस्तित्व स्वीकार करने के लिए मैं तैयार न था। मेरे अन्दर विनय का अभाव था। यही कारण है कि मुझे उस उपजाऊ नीची जमीन से घृणा करने के कारण जोकि अरविन्द मुझे बनाना चाहते थे, ऊँची चोटी का वह दुर्भाग्य वहन करना पडा जहाँ पर बीज नये पौधो की सृष्टि नही कर सकते।"

मैंने अपने हृदय मे उसके लिए गम्भीर समवेदना का अनुभव किया, परन्तु ऐसी कोई बात न सूझी जिससे उसे सान्त्वना प्रदान कर सकता, और इसलिए मौन ही रहा। पर कुछ देर चुप रहने के बाद उसने कहना शुरू किया —

"मुझे उस प्रकाश को ग्रहण करने के लिए, जिसे उन्होंने स्वय जीत लिया था और जिसे वह उन व्यक्तियोको, जो वास्तव मे उसे ग्रहण करने के इच्छुक हैं, दे सकते थे, विनयशील होने की आवश्यकता थी। मुझे पराधीनता के झण्डे के नीचे खडा होना चाहिए था। यही कारण है जिससे कि मुझे उसकी नव सृष्टि के

उस शक्तिशाली क्षेत्र को छोडना पडा जिसमे मन का सिंहासन अतिमानस द्वारा अधिकृत किया जा रहा है—एक नवीन दिव्य आत्मा हमारी निष्ठा का विषय बन गयी है, जैसाकि मैंने एक बार लिखा था क्योकि हम मुद्दत हुई पराधीनता को पार कर चुके है। और श्री अरविन्द ही अकेले वह व्यक्ति है जिन्होने बाधाओ को चीरकर यह दर्शन प्राप्त किया है और इससे भी बढकर जिनके अन्दर अतिमानस के उद्घाटन द्वारा नवयुग को लाकर इसे जीवन मे क्रियान्वित करने की शक्ति है—हाँ।" कुछ देर रुक कर उसने फिर कहा—"उनके अतिरिक्त अन्य किसी के पास भविष्य के ससार की कुजी नही है, और मेरा दु ख यह है कि मैंने अपने अहंकार के मोह मे उनके सरक्षण को त्याग कर निरुद्देश्य जीवन व्यतीत करने के विकल्प को स्वीकार किया है, वे ऐसे महान् व्यक्ति हैं जिनके साहचर्य को मैं अन्य सब व्यक्तियो के सम्मिलित साहचर्य से भी अधिक मूल्यवान् समझता हूँ। क्या तुम्हे अब भी यह सुनकर आश्चर्य होता है कि मैं बार-बार आत्महत्या का राग क्यो अलापता हूँ ?"

मेरा हृदय काँप उठा। कारण उसने जो कुछ कहा था उससे एक झलक मे ही श्री अरविन्द के दर्शन की महत्ता प्रकट होती थी और उस एक व्यक्ति की गहरी निराशा के विरुद्ध, जिसकी सकल्प की ज्योति अन्धकार का आलिंगन करने के कारण बुझ चुकी है, वह और भी मोटे अक्षरो मे स्पष्ट अकित दिखायी देती थी। उस रात्रि मे जो अन्तिम शब्द उसने कहे वह यह थे—"(मेरे लिए लिए वे शरीरधारी शिव हैं) मनुष्यो मे एक अवतार है।"

यह अन्त का प्रारम्भ था। मैं नीस आया था, पर मुझे अपने गुरु के चरणो से दूर रहने मे शर्म अनुभव होने लगी और यह सोचकर मैं काँप उठा कि कौन जानता है कि इससे मैं भी उसी निराशा की दलदल मे न फँस जाऊँ, जिसका पाल रिचर्ड शिकार हो चुका है। मैने लौटने का विचार किया परन्तु क्या यह अतिभावुकतामय नही प्रतीत होगा ? वे व्यक्ति जो मुझे बहुत-कुछ समझते है, मेरे बारे मे क्या कहेगे ? यही न, कि मैं एक अस्थिर मति निर्जीव पुरुष हूँ, अतिभावुक व स्वप्नदर्शी हूँ, और अधिक-से-अधिक मेरे बारे मे वे यह सम्मति बनायेगे कि मैं एक ऐसा नेकदिल मुसाफिर हूँ जिसका एकमात्र लक्ष्य जीवनभर निरुद्देश्य घूमना है। मै एक मस्त पराश्रित निखट्टू हूँ—जो कही-कही अपने ही जैसे कुछ पराश्रित निखट्टुओ को सान्त्वना दे सकता हूँ। मुझे यह बात पहले कभी इतनी स्पष्ट नही दिखायी दी थी जितनी कि अब, कि मैंने जानबूझकर साँसारिक महत्त्वाकाक्षा व वैयत्तिक यश के मिथ्या चमक वाले जीवन को अपनाया है, और उस जीवन को जो वास्तव मे महत्त्व का जीवन है—भगवान् के एक विनयी सेवक के जीवन को—उत्कृष्ट भक्तिनी मीराबाई की आकाक्षा के जीवन को तिलाजलि दे दी है। मुझे यह सोचकर गहरी वेदना का अनुभव हुआ कि मैंने ईश्वरीय वशी

की पुकार सुनकर भी उसे छोडकर निकृष्ट श्रेणी के यश और प्रेम के सगीत को सुनना पसन्द किया है। इस डाँवाडोल हालत ने मुझे भयभीत बना दिया, अध - पतन के कारण मेरे आत्म-सम्मान को चोट पहुँची और मैंने असहाय की भाँति पुकार की। मेरी पुकार सुन ली गयी, मेरी आत्मा को उस चमत्कारिक व्यक्ति के विनाश ने, जिसके कि अनेक प्रशसक थे, चेतावनी देकर पुन उत्साह प्रदान किया और भविष्य मे जो और स्पष्ट रूप से दिखायी देने वाला था, विशेपत मेरे आध्यात्मिक सकट द्वारा उसका पूर्वाभास मुझे मिलने लगा कि यद्यपि

"अध चेतना के तारो का खिचाव पुन उद्‌बुद्ध होकर अनिच्छुक आत्मा को ऊँचाई से नीचे ले आता है। अथवा एक स्थूल गुरुत्व हमे हमारे भौतिक आधार के अध दास जडत्व की तरफ खीच लाता है।"

तथापि

"परन्तु वह परमोत्कृष्ट राजनीतिज्ञ, उसे भी अपनी प्रयोजन-सिद्धि का साधन बना सकता है। वह हमारे पतन को उच्चतर उत्थान का साधन बना लेता है।"[1]

मैंने घर लौटने का निश्चय किया, परन्तु हार्निया का आपरेशन कराने के बाद ताकि मेरा हार्निया मेरी दीक्षा मे बाधक न हो सके। और मैं रसेल से भी उनके कार्नवाल कुटीर पर मिला और इधर-उधर कुछ व्याख्यान देने के बाद नवम्बर, १९२७ मे स्वदेश के लिए प्रस्थान कर दिया।

परन्तु आश्चर्य यह है कि मैं फिर भी पाडिचेरी के लिए प्रस्थान करने के दिन को पीछे हटा देना चाहता था। यद्यपि मुझे इस समय तक यह स्पष्ट दिखाई देने लग गया था कि मेरे टालमटोल करने के कारण ही मेरे कष्ट अनावश्यक रूप से चिरस्थायी हो रहे है, फिर भी मैंने अपने गुरु से प्रार्थना की (मानसिक रूप से ही) कि वे कुछ समय तक और मुझे इतनी जोर से अपनी ओर न खीचें। परन्तु फिर भी मेरा कुछ वश न चल सका—या यूँ कहिये कि मै विरोध करता ही न था—यहाँ तक कि दूसरे छोर का आकर्षण मेरी इच्छा के मुकाबले मे अत्यन्त प्रबल हो गया।

१९२८ मे मै दूसरी बार पाडिचेरी गया। परन्तु मुझे यह जानकर अत्यन्त निराशा हुई कि इस बीच मे श्री अरविन्द ने एकान्तवास का व्रत ले लिया है और अपना यह नियम बना लिया है कि वे वर्ष मे केवल तीन-तीन के अतिरिक्त किसी से भेट न करेंगे, और तब भी वे उनसे सभाषण न करेंगे, वे केवल उनका दर्शन कर सकेंगे व उन्हे प्रणाम कर सकेंगे और फिर पक्ति मे ही आगे होकर चले जायेंगे। परन्तु साथ ही मुझे ज्ञात हुआ कि आश्रम की अधिष्ठात्री देवी ने, जिन्हे

---

१ श्री अरविन्द की कविता 'सावित्री' पुस्तक।

श्री माताजी' कहकर पुकार जाता है, श्री अरविन्द से परामर्श करके सब अभ्यागन्तुकों का पथप्रदर्शन करना स्वीकार कर लिया है और मुझे बताया गया कि वे एक अत्यन्त तेजस्वी महिला हैं, जिन्हें सब आश्रमवासी पूजा की दृष्टि से देखते हैं, और उनके शिष्य उन्हें श्री अरविन्द के समकक्ष योगी मानते हैं। इसलिए 'दर्शन'[1] दिन के बाद मैंने श्री माताजी से भेंट करने के लिए प्रार्थना की। वे मेरे प्रति अत्यन्त दयाशील थीं और सहानुभूति के साथ उन्होंने मेरी बातों को सुना। मैं उनके व्यक्तित्व से, जो अत्यन्त उज्ज्वल तथा साथ ही अत्यन्त शान्तिप्रद भी था, अत्यन्त प्रभावित हुआ। उनके व्यक्तित्व से सौन्दर्य फूट रहा था, परन्तु यह पार्थिव सौन्दर्य न था। वे स्थूल व वास्तविक होते हुए भी अनिर्वचनीय थीं।

"वह एक साथ ही शब्द और नीरवता थी
स्वतः विकीर्ण होनेवाली शान्ति का महाद्वीप थी
और दुशान्त व विशुद्ध अग्निशिखा का सागर थी
उसकी दृष्टि, उसकी मुसकान भौतिक जगत् में
भी एक स्वर्गीय भावना को उद्बुद्ध करते थे, और उनका
तीव्र आनन्द मनुष्यों के जीवन में
एक दिव्य सौन्दर्य की वृष्टि कर रहा था।"

मैंने एकदम श्री अरविन्द के साथ उन्हें भी अपना गुरु स्वीकार कर लिया, और उन्हें अपने बारे में, अपने सन्देहों, कठिनाइयों व अन्तर्द्वन्द्वों के बारे में सब बातें विस्तार से खोलकर कह दीं। उन्होंने स्नेहपूर्ण मुस्कान से मेरी ओर देखा, परन्तु चुप रहीं। परन्तु उनके मृदु स्वभाव ने मेरे संकोच को कुछ दूर कर दिया था, इसलिए मैंने साहस करके पूछा कि क्या वे मुझे अपना शिष्य बनाना व दीक्षा देना स्वीकार करेंगी? उन्होंने स्वीकृति दे दी और कहा कि श्री अरविन्द ने उन्हें कहा है कि वह अब योग-साधन के योग्य है। मैं यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, परन्तु कुछ उदासी के साथ कहा कि मैंने आजतक कभी भी जिसे प्रचलित भाषा में एक अनुभव' कहते हैं वह नहीं प्राप्त किया है, और इससे मेरे हृदय में यह

---

१ यह वह दिन है जब जनता उनके दर्शन कर सकती है। उन दिनों वे १५ अगस्त (अपने जन्म-दिवस) २१ फरवरी (श्री माताजी के जन्म-दिवस) व २४ नवम्बर (उनके साक्षात्कार की उपलब्धि का दिन) को प्रति वर्ष दर्शन देते थे। परन्तु आजकल इसमें एक दिन की और वृद्धि हो गयी है, वह २४ अप्रैल (जिस दिन १६२१ में श्री माताजी पांडिचेरी में स्थायी रूप से निवास के लिए आयी थीं) का दिन है।

—अरविन्द की कविता 'सावित्री' प्रथम पुस्तक, सर्ग २ से उद्धृत।

सन्देह होता है कि क्या मेरे जैसे सन्देहवादी व्यक्ति को योग से पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। वे केवल मुस्करायी और कहा कि वे प्रयत्न करेंगी। और शाम को नौ बजे, जबकि वे अपने कक्ष मे ध्यानमग्न होगी, मुझे भी अपने कमरे मे ध्याना-वस्थित होने का आदेश दिया।

मैं प्रसन्न था, फिर भी मेरे मन मे एक भय मुझे खाये जा रहा था, पता नही क्यो। परन्तु इस बात का मैंने दृढ निश्चय कर लिया था कि मै अत्यन्त सावधान रहूँगा, दूसरे शब्दो मे मैं किसी भी आने वाले 'अनुभव' को स्वीकार न करूँगा। मुझमे भक्त लोगो की-सी सहज विश्वास-भावना न थी और किसी भी ऐसे अनुभव को, जिसकी स्व-सम्मोहन द्वारा व्याख्या की जा सकती हो, प्रामाणिक मानने के लिए मेरे मन मे गहरी घृणा थी। मेरे लिए किसी भी अन्त अनुभव को सत्य मानने से पूर्व उसका इन्द्रियानुभवो के समान स्थूल व असदिग्ध होना आवश्यक था। (नि सन्देह उन दिनो मैं एक अत्यन्त मूर्ख पहरेदार था जिसको इस बात का बोध न था कि अलौकिक अनुभवो का अन्य अनेक कारणो से विरोध किया जा सकता है, परन्तु कभी भी उनकी अस्पष्टता व सूक्ष्मना के कारण नही) मै इस बात पर इसलिए विशेप बल दे रहा हूँ, क्योकि जो अनुभव मुझे हुआ, वह इतना अप्रत्याशित था कि उसे किसी प्रकार भी स्वय सुझाव या ऐच्छिक चिन्तन नही कहा जा सकता। जो भी हो, मुझे इस बात का निश्चय हो गया कि मेरे अन्दर कोई 'शक्ति' खमीर की तरह कार्य कर रही है, जो इतनी स्थूल व स्पष्ट है कि उसके अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता।

अगले दिन मैंने श्री माताजी व श्री अरविन्द के चरणो मे अपनी इच्छा का समर्पण कर दिया, ताकि वे जिस प्रकार चाहे निर्माण कर सके। मुझे उन्होने स्वीकार कर लिया और तीन महीने पश्चात् २२ नवम्बर को मैंने अन्तिम तौर पर उनके पथप्रदर्शन मे चलना प्रारम्भ कर दिया, अर्थात् जो कुछ भी मेरे पास था, उसे मैंने उस पवित्रतम कार्य के लिए, जिसको मैने पवित्रतम कार्य समझकर नित्य-प्रति अधिकाधिक प्रेम करना सीखा था, और जिसके लिए सभवत मे अपने जीवन को भी अर्पित कर सकता था, सर्मपिन कर दिया।

मैं अपने वैयक्तिक आन्तरिक सघर्षो के बारे मे अधिक लिखने मे पर्याप्त सकोच का अनुभव करता हूँ, परन्तु मैं यह ईमानदारी के साथ कह सकता हूँ कि मैंने ऐसा केवल इसलिए किया है कि यदि मैं ऐसा न करता और अपने-आपको निर्णायक की हैसियत मे रखकर उसी दृष्टिकोण से श्री अरविन्द का चित्रण करता तो मैं (अपनी सब दुर्बलताओ के साथ) जिस रूप मे उन्हे देख रहा हूँ, उस रूप मे उनका चित्रण कभी न कर सकता। प्रचलित शिष्टाचार व विनय की भावना से प्रेरित होकर मैंने उन्हे इस रूप मे चित्रित नही किया है। एक जिज्ञासु के लिए मैं इसे आत्माभिमान से भी अधिक हानिकर समझता हूँ, क्योकि अभिमान

के अन्दर दूसरो को धोखा देने का गुण नही है, जबकि विनय बहुतो पर अपना असर डालती है। अन्तत मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि यदि शिष्य की पूजा भावना वास्तविक है, तब दिव्य नियन्ता द्वारा उसकी त्रुटियो का भी उसके प्रतिनिधि स्वरूप गुरु व अवतार की पूर्णता भी प्राप्त करने मे लाभ उठाया जाएगा।

४ फरवरी, १९४३

मैं उनके उस पवित्र कक्ष मे, जहाँ से वे १९२६ से लेकर अब तक बाहर नही आये थे, प्रविष्ट हुआ और उन्हे प्रणाम किया। उन्होने मुझे आशीर्वाद दिया।

अपने नेत्रो से दया की दृष्टि करते हुए उन्होने पूछा—"अच्छे हो ?"

कुछ कठिनाई के साथ मैंने उत्तर दिया—"हाँ"। मैं द्रवित हो गया। उन्होंने प्रश्नसूचक दिव्य नेत्रो से मेरी ओर देखा। परन्तु मेरे मुख से एक शब्द भी न निकल सका। मेरे लिए यह एक असाधारण घटना थी, क्योकि मैं प्रश्नो के बाणो से अपना तरकश लैस करके लाया था। उन्होने मेरी सहायता की और मौन को भग करते हुए कहा—"तुमने आज प्रात काल मुझे कुछ प्रश्न लिखकर भेजे है। आओ उनमे से पहले प्रश्न से ही प्रारम्भ करे।"

मैंने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया और उनके प्रत्येक शब्द को मुग्ध होकर सुना।

भूमिका के तौर पर इतना ही लिखना पर्याप्त है। मैं केवल इतना ही और बढाना चाहता हूँ कि उनसे उस समय जो मेरी बातचीत हुई, उसे मैंने उसी दिन मध्याह्न मे यथासभव उन्ही के शब्दो मे लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया। बहुत से स्थलो पर मैंने खाली जगह छोड दी क्योकि मैं पहले से भी अधिक विश्वसनीय वर्णन देना चाहता था और अपनी स्मृति पर पूर्ण विश्वास करने की अपेक्षा उन्ही से उन्हे भरवाना चाहता था। सौभाग्य से उन्होने अपने स्वाभाविक धैर्य के साथ मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और मेरी झिझक को समझते हुए मेरे प्रश्नो के स्वय दिए हुए उत्तरो के विवरण को ध्यानपूर्वक सशोधित कर दिया।

मेरा पहला प्रश्न पर्याप्त लम्बा था, पर आगामी विवरण से स्वय ही स्पष्ट हो जायेगा इसलिए मैं उसे यहाँ नही लिख रहा हूँ।

उन्होंने कहा—"तुम्हारे पहले प्रश्न के बारे मे, मोटे तौर पर दो मार्ग है। पहला बुद्ध का मार्ग है जो यह मानता है कि यद्यपि गुरु या अन्य दूसरे व्यक्तियो से तुम कुछ सहायता व पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकते हो, तथापि तुम्हे एकाकी ही अपने पथ पर चलना होगा। अर्थात् अपने प्रयत्न से ही घने जगल मे अपना मार्ग स्वय काटकर बनाना होगा, यह तपस्या का पुरातन मार्ग है। दूसरा मार्ग गुरु को भगवान् का प्रतिनिधि मानना है, गुरु मार्ग को जानता है, और इसलिए स्पष्टत ऐसी स्थिति मे है जिससे जिज्ञासु व्यक्तियो को मार्ग ढूँढने मे मदद पहुँचा सके।

इस आश्रम के जिज्ञासु साधक इसी मार्ग का, जिसे गुरुवाद का मार्ग भी कहते है, अनुसरण करते है।"

मैने सहमति प्रकट करते हुए कहा—"यह मै भी जानता हूँ। परन्तु मेरा एक प्रश्न यह भी है कि जब एक साधक अपने गुरु मे विश्वास के मार्ग की बाधक मानवीय परिमितताओ व दुर्बलताओ को देखता है तो उसका क्या भाव होना चाहिए ? मेरा यह अभिप्राय नही है कि यह प्रश्न मुख्यतया मुझ से ही सम्बन्ध रखता है, क्योकि मुझे तो आप सरीखे गुरु पाने का सौभाग्य प्राप्त है। परन्तु मेरे ऐसे मित्र भी है, जो इतने भाग्यशाली नही हैं, इसीलिए मैंने यह प्रश्न आपके सन्मुख रखा है। आशा है, आप मेरा अभिप्राय समझ गये होगे।"

"हाँ, मै तुम्हारा तात्पर्य समझ गया"—उन्होने मधुर हास्य के साथ उत्तर दिया। "परन्तु मैं इस प्रश्न का उत्तर पहले भी दे चुका हूँ कि यद्यपि साधन अर्थात् गुरु की शक्ति द्वारा भी बहुत कुछ निर्णय होता है, लेकिन उससे कही बढकर है ग्रहीता शिष्य की निर्णायिका शक्ति।" यह कह कर वे कुछ देर रुके और फिर अर्द्धस्मित के साथ कहने लगे—"आधुनिक मन ऐसे प्रश्नो के बारे मे प्राय एक मानसिक गडबड मे पड जाता है, क्योकि आत्मा के मार्ग मे जो शक्ति कार्य करती है वह अपने परिणामो पर मानसिक तर्क द्वारा प्रतिपादित प्रणाली से नही पहुँचती। यही कारण है कि वह इस सीधे-सादे सत्य को नही समझ पाता कि जब शिष्य एक बार गुरु को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर स्वीकार कर लेता है, तो स्वय ईश्वर भी गुरु द्वारा उसे अपनी शरण मे ले लेता है। दूसरे शब्दो मे जब वह गुरु के चरणो मे आत्मसमर्पण करता है, तो वह ईश्वर के ही प्रति आत्मसमर्पण करता है, ताकि वह गुरु अपनी सब मानवीय दुर्बलताओ के बावजूद उस महाशक्ति को आवाहन करके जो गुरु के व्यक्तित्व द्वारा कार्य करती है, तथा जो उसकी मानवीय दुर्बलताओ से पगु नही होती, उसकी सहायता कर सके। मुझे याद पडता है कि मैंने एक बार तुम्हे लिखा था कि उस शिष्य के लिए, जो गुरु द्वारा ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करता है, चाहे वह स्वय गुरु से पहले ही क्यो न हो, गुरु की अपूर्णताएँ उसके मार्ग मे बाधक नही हो सकती, इसलिए अन्तिम विश्लेषण मे मुख्य आवश्यक वस्तु गुरु की वह आध्यात्मिक शक्ति है, जो उसे इच्छित सम्पर्क स्थापित करने मे मदद देती है, न कि उसकी मानवीय दुर्बलताएँ है—क्योकि यह उसके मार्ग की अवरोधक नही होती। तुम मेरा अभिप्राय समझ रहे हो ?"

दूसरा प्रश्न गरिमा (स्थूल शरीर धारण) व आकाश-गमन आदि कुछ यौगिक विभूतियो के बारे मे था। मेरे एक मित्र ने जब उन्हे इन विभूतियो मे मेरी सन्देहशीलता के बारे मे कहा, तो उन्होने उसे कहा था कि ये वस्तुएँ सर्वथा चालाकी व धोखा ही नही है, जैसाकि बहुत-से कट्टर वैज्ञानिको का विचार है।

परन्तु फिर भी मेरा मन इन वस्तुओ के पक्ष मे घटित होने वाली साक्षियो की प्रामाणिकता स्वीकार करने के लिए सर्वथा अनिच्छुक था। इसका परिणाम यह था कि मै अपने अन्दर एक गहरी बेचैनी का अनुभव करता था, क्योकि एक तरफ मैं यह जानता था कि मुझे अपने गुरु की उत्कृष्ट बुद्धिमत्ता व अनुभवो मे सन्देह न करना चाहिए पर दूसरी तरफ मैं सन्देह प्रकट करने के अपने अधिकार की भी रक्षा करता था। सम्भवत अपने आप मे इसका कोई विशेष महत्त्व न होता, परन्तु वर्तमान उदाहरण मे सन्देह का मेरा 'कर्म' दूरगामी परिणामो की शृखला से आवद्ध था, जिसमे सबसे गम्भीर यह था, जैसाकि मुझे हानि उठाकर पता लगा, कि मानसिक विचार मे भी गुरु की आलोचना शिष्य के अहभाव को पुष्ट करती है। मैने उन्हे फिर भी यह स्पष्ट रूप से कह दिया, यद्यपि इस स्पष्टवादिता से मैं स्वय ही परेशान था, और इसलिए मन-ही-मन यह सोच ही रहा था कि किस प्रकार मै ऐसे सुन्दर शब्दो मे इसके लिए उनसे क्षमायाचना करूँ कि अपने मन के प्रति धोखा न हो, जबकि उन्होने पहले ही मेरे मन की बात कहनी प्रारम्भ कर दी।

उन्होने शान्तिपूर्वक कहा—"तुम्हे भयभीत होने की कोई बात नही है, क्योकि योग का चरम लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार या ईश्वरीय जीवन की उपलब्धि है। ये सब गौण वस्तुएँ हैं, और इस कारण आध्यात्मिक अनुभव के लिए इन्हे आधारभूत वस्तु समझने की आवश्यकता नही है। इसलिए अनुभूति के लिए उनमे विश्वास आवश्यक नही है, अपरिहार्य तो कदापि नही है। ऐसे विषयो मे तुम्हे व्यक्तिगत निर्णय करने का अधिकार है।"

मेरे हृदय की धडकन कम हो गयी और मैंने कहा—"मुझे आपके इस कथन से वहुत शान्ति मिली है, क्योकि मैं यह समझता था कि गुरु से किसी बात मे भी शिष्य का मतभेद शायद गुरु के निर्देश से फायदा उठाने की अयोग्यता का निश्चित सूचक न हो।"

उन्होने नम्रतापूर्वक कहा—"तुम निश्चय रखो कि जब मैं कुछ कहता या लिखता हूँ, तो मै अपने अनुभवो का ही वर्णन करता हूँ, या अपना दृष्टिकोण प्रकट करता हूँ। मैं दूसरो के लिए किसी नियम के रूप मे उस पर बल नही देता। और इतने वर्षो से मुझे जानते हुए भी क्या तुम यह कल्पना करते हो कि मुझे अपना दृष्टिकोण दूसरो पर लादना उचित है?[1] मैंने कभी तानाशाह होने की

---

१ गुरु के कार्य के वारे मे श्री अरविन्द ने योग-समन्वय मे लिखा है "बुद्धिमान शिक्षक ग्रहीता मन की अप्रतिरोधात्मक स्वीकृति (Passive acceptance) पर अपने-आपको व अपनी सम्मतियो को लादने की चेष्टा नही करेगा। वह उसी वस्तु को अन्दर डालने का प्रयत्न करेगा जो बीज के

चेष्टा नही की है, न मैने कभी इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति के विचार मेरे ही साँचे मे ढाले जाये, और यहाँ तक कि मैं इस बात का भी आग्रह नही करता कि प्रत्येक व्यक्ति को मेरा व मेरे योग का ही अनुसरण करना चाहिए। वह ठहर गए, और सामने एक कासे की मूर्ति की तरफ इशारा किया। उन्होने कहा —उदाहरण के लिए मुझे वह मूर्ति बहुत सुन्दर लगती है—परन्तु यदि तुम इससे असहमत हो तो मै इसका बुरा क्यो मनाऊँ।

मैंने साहस करके कहा—"कुछ लोग यह कहते है कि गुरु एकता व समन्वय की दृष्टि से इस प्रकार के मतभेद को बुरा मानते है—या—।"

वह फिर मुस्कराये—"परन्तु एकता शब्द समानता का समानार्थक नही है। एक अनेक बन जाता है, इसलिए एक को स्वीकार करने के लिए तुम्हे अनेक को भी स्वीकार करना सीखना होगा, अभिव्यक्त की एकता के साथ-साथ अभिव्यक्ति (सृष्टि) की विविधता को भी स्वीकार करना होगा। समझ रहे हो ?"

"हाँ, मैं समझ रहा हूँ," मैने प्रसन्नता के साथ कहा—"अनैक्य मे एकता का दर्शन, जैसाकि आपने किसी जगह कहा है। परन्तु मैं आपका इतना अधिक आदर करता हूँ कि आपसे किसी छोटी-सी बात मे भी मतभेद मुझे वास्तव मे बहुत कष्ट पहुँचाता है। श्री रामकृष्ण ने कहा है कि विश्वास करना अच्छा है, और विश्वास कीजिए, मै एक श्रद्धालु के समान विश्वास करना चाहता हूँ। मैं यहाँ तक कहने का साहस करना चाहता हूँ कि जो कुछ भी आप कहते है, उसमे विश्वास करना मुझे प्रिय लगता है, और वह यहाँ तक कि यदि मैं उस कासे की मूर्ति को असुन्दर भी पाऊँ, तो मैं आपकी पसन्द के विरुद्ध ऐसा कहने मे सकोच का अनुभव करूँगा। इस या अन्य ऐसी ही बातो मे—उदाहरण के लिए जैसाकि आपने यौगिक विभूतियो के बारे मे कहा है—मेरी वेदना इतनी वास्तविक है कि मै इसे योग—आपके योग के लिए अपनी अयोग्यता का सूचक समझता हूँ। स्वभावत इससे मेरा हृदय दुश्चिंता के बोझ से दब जाता है। इसके अतिरिक्त मै

समान उत्पादक शक्ति रखती है और ईश्वरीय देखरेख मे समय आने पर अवश्य अकुरित हो जायेगी। वह सिखाने की अपेक्षा उद्बुद्ध करने की अधिक चेष्टा करेगा। उसका कार्य एक ईश्वरीय दायित्व है, वह स्वय एक मार्ग या साधन या प्रतिनिधि रूप है। वह एक ऐसा मनुष्य है जो अपने भाइयो की सहायता करता है, एक ऐसा बालक है जो अन्य बालको का नेतृत्व करता है, एक ऐसा प्रकाश है जो दूसरे दीपको को प्रज्वलित करता है, एक जागृत आत्मा है जो दूसरी आत्माओ को जगाती है और सबसे बढकर वह ईश्वर की एक शक्ति व सत्ता है, जो अन्य ईश्वरीय शक्तियो को अपनी तरफ बुलाती है।

अपनी मानसिक पूर्व धारणाओं पर प्रभुत्व पाने के लिए भी स्वयं विश्वास करने की इच्छा करता हूँ। एक शब्द मे मैं अपने मन को पदच्युत करना चाहता हूँ। परन्तु वह नया शासक कहाँ है, जिसे मैं इसके सिंहासन पर आरूढ करूँ—वह नया प्रकाश कहा है जो हमारे अचिराज टिमटिमाती मानसिक दीपशिखा का स्थान ग्रहण करेगा ?"

उन्होंने मेरी तरफ एक दीर्घ दृष्टिपात किया और फिर कहने लगे —"मन के लिए नये प्रकाश को ग्रहण करना सुगम हो जाता है यदि वह इस बात की जिद न करे, जैसी कि यह करता है कि इसका पुराना शासक 'बुद्धि' स्थिति का मुकाबला करने के लिए पूर्ण समर्थ है। क्योंकि इस बात का निष्कर्ष यही है कि तुम इस बात का आग्रह करते हो कि सब अनुभवों का अन्तिम निर्णायक मन ही है। परन्तु आध्यात्मिक अनुभव का मत यह है कि तुम केवल मन के द्वारा किसी भी चीज की तह तक नहीं पहुँच सकते। मन की रचना ही ऐसी है कि वह ईश्वरीय सत्ता व उसकी क्रिया के एक लघु अंश मे अधिक को समझने मे असमर्थ है। यौगिक विभूतियाँ भी इसी क्रिया का एक उदाहरण है। तुम मानसिक परीक्षा द्वारा ऐसी घटनाओं के सत्य स्वरूप को नहीं समझ सकते, और चूँकि यह एक तथ्य है, इसलिए अच्छा यही है कि तुम इन्हे मिथ्या कहकर रद्द न करने के स्थान पर तब तक अपना निर्णय स्थगित कर दो, जब तक कि तुम निर्णय करने के लिए समर्थ नही हो जाते। क्योंकि यह गम्भीर निर्णय शक्ति केवल उस महत्त्व चेतना के अभ्युदय द्वारा ही आ सकती है, जिसके प्रकाश से ही लौकिक व रहस्यमय आवरणों के पीछे तुम ईश्वरीय क्रिया को समझने की आशा कर सकते हो।"

मैंने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा—"कल्पना के तौर पर ये सब बाते ठीक हो सकती है, परन्तु जब वास्तव मे किसी ऐसी चीज का सामना होता है—उदाहरण के लिए श्री विजय गोस्वामी जी का दृष्टांत लीजिए, जिसने कहा था कि उसके गुरु ने उनकी धर्म-पत्नी को बहुत ऊँचे आकाश मे उडाया था। क्या आपका यह अभिप्राय है कि यह भी सम्भव या प्रामाणिक हो सकता है ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"जो कुछ उसने अपनी धर्म-पत्नी के बारे मे कहा था, वह सत्य है या नही—यह मैं नही कह सकता, परन्तु चूँकि आकाशगमन सम्भव देखा गया है और योगियो ने अपने अनुभव से इसकी पुष्टि की है, इसलिए मैं नही समझता कि इसे एकदम असम्भव कहकर अस्वीकृत किया जा सकता है। हजारो अनुभव ऐसी घटनाओं को पुष्ट करते है, जो मन को चकरा देने वाली है। क्योंकि सब तर्क व क्रिया के बावजूद अनुभव ही वास्तविकता की अन्तिम कसौटी है और यही अन्तिम कसौटी होनी चाहिए, और अनुभव इस बात का साक्षी है कि आकाशगमन व स्थूल शरीर धारण सम्भव है।"

मैं बीच मे ही बोल उठा—"आपने मेरे मन की बात पहले ही कह दी है। मै

आपसे स्थूल शरीर धारण के बारे मे अभी पूछने ही वाला था। ऐसी घटनाओ के बारे मे काफी सुनने मे आता है, परन्तु अभी तक मुझे एक भी व्यक्ति ऐसा नही मिला है जिसने अपनी आँखो से इन्हे देखा हो। इसके लिए विश्वसनीय साक्षी का होना आवश्यक है—केवल किंवदन्ती या सुनी सुनाई बात नही ।"

वे मुस्कराये और कहने लगे —"तो आओ किंवदन्ती की साक्षी के बारे मे तुम्हारी आपत्ति को दूर करने के लिए मै अपनी आँखो देखी घटना ही तुम्हे सुनाऊँ। और यह घटना कम-से-कम छ अन्य व्यक्तियो ने जो उस समय मेरे साथ थे, स्वय देखी थी।[1] और उन्होने अपने तीक्ष्ण व सुस्पष्ट तरीके से घटना का वृत्तान्त सुनाना प्रारम्भ किया। चूँकि मै बिलकुल सही विवरण देना चाहता था, इसलिए अगले दिन प्रात काल मैंने उन्हे समस्त घटना का स्वलिखित विवरण देने की प्रार्थना की, जो उन्होने स्वीकार कर ली और नीचे उन्ही का लिखा हुआ विवरण है —

मै तुम्हे वास्तविक अलौकिक नियम व क्रिया के उदाहरण के तौर पर यह घटना सुना रहा हूँ, जिससे यह प्रकट होता है कि ये वस्तुएँ केवल कपोल कल्पना, भ्रम व धोखा ही नही है, बल्कि सत्य घटनाएँ भी हो सकती हैं।

"हमारे अतिथि गृह के रसोईघर पर अदृश्य रूप से पत्थरो का फेकना आरम्भ हुआ, जो सामने वाली मुँडेर पर से आते प्रतीत होते थे, परन्तु वहाँ पर कोई फेकनेवाला न दिखायी देता था। पहले गोधूलि वेला से पत्थर गिरने शुरू हुए, जो लगभग आध घण्टे तक जारी रहे, परन्तु धीरे-धीरे गिरने वाले पत्थरो की सख्या तेजी, आकार और उनके आक्रमण की अवधि बढने लगी, यहाँ तक कि कभी-कभी कई-कई घण्टे तक, और अन्तिम दिनो मे तो आधी रात से लगभग घण्टा आध घण्टा पहले तक लगातार पत्थरो की बाकायदा बडे जोर से बौछार होने लगी, और अब यह प्रस्तर वर्षा रसोईघर तक ही सीमित न रही, बल्कि अन्य स्थानो—जैसे बाहर के बरामदे पर भी पत्थर गिरने लगे। प्रारम्भ मे हमने इसे किसी मनुष्य की ही करतूत समझी और पुलिस को बुला भेजा। परन्तु पुलिस की तहकीकात थोडी ही देर जारी रही और जब बरामदे मे खडे हुए एक पुलिस के सिपाही की टाँगो के बीच से एक पत्थर सनसनाता हुआ निकल गया, तो भयभीत होकर पुलिस ने अपनी तहकीकात छोड दी। हमने अपने तरीके से भी खोज प्रारम्भ की, परन्तु जहाँ से भी पत्थर आते प्रतीत होते थे, उन सब स्थानो पर कोई मानवीय प्राणी पत्थर फेकता दिखायी न पडता था। और अन्त

---

१ बारीन्द्रकुमार घोप, उपेन्द्रनाथ बैनर्जी, हृषीकेश काँजीलाल, विजयनाग सत्येन्द्र, अमृत आदि। अन्तिम तीन के अतिरिक्त यह सब प्रसिद्ध विद्वान् है, और प्रथम दोनो बगाल के ख्यातिप्राप्त लेखक व विचारक है।

मे, शायद कृपा करके हमारा सन्देह दूर करने के लिए ही बद कमरो के अदर भी पत्थर गिरने लगे, इनमे से एक पत्थर जो खूब बडा था, जिसे मैंने स्वय देखा कि गिरने के साथ ही एक वेत की मेज पर सीधा आराम से आ गिरा, मानो यही उसका ठीक विश्राम स्थान था। और यह हालत बदस्तूर जारी रही, यहाँ तक कि अत मे इस पत्थर-वर्पा ने घातक रूप धारण कर लिया। अब तक यह पत्थरो की वर्पा हानि पहुँचाने वाली न थी, वह केवल विजय के दरवाजे तोडने तक ही सीमित थी। जिस दरवाजे को घटनान्त से पहली रात मैंने खुद देखा। पत्थर जमीन से कुछ फुट ऊँचाई पर आकाश के बीच मे दिखायी देते थे, जो दूर से न आते दिखायी देकर, जिस तरफ से वे आते थे उससे ऐसा मालूम होता था कि वे अतिथि गृह के अहाते की तरफ से या बरामदे मे से फेके जा रहे है, परन्तु वह सारा स्थान प्रकाश से अच्छी तरह आलोकित था, और मैंने देखा कि वहाँ कोई मानवीय प्राणी उपस्थित न था, और न किसी के होने की सभावना ही थी। अत मे अर्द्धपागल सेवक लडके पर, जिसने विजय के कमरे मे शरण ली हुई थी और जो आक्रमण का एकमात्र लक्ष्य था, जोर-शोर से पत्थरो का आक्रमण होने लगा, और वद कमरे मे ही स्थूल रूप धारण करने वाले पत्थरो की चोट के घाव से उसके शरीर से रक्त बहने लगा। विजय के बुलाने पर मै कमरे के अदर गया, और लडके पर पडे अन्तिम पत्थर को देखा। विजय और वह लडका एक दूसरे की बगल मे बैठे थे और उनके सामने से ही पत्थर फेका गया था, परन्तु फेकने वाला कोई दृष्टिगोचर न होता था। कमरे मे केवल वे दोनो अकेले ही थे। अगर यह वेल्ज का 'दृश्य पुरुष, नही था तो और कौन था।

"अव तक हम केवल देखभाल व गश्त लगाने का ही कार्य कर रहे थे, परन्तु मामला बहुत आगे वढ गया था, और खतरनाक हो चला था, इसलिए कुछ उपाय करना आवश्यक था। माताजी ने इन वस्तुओ की प्रक्रिया के ज्ञान द्वारा निर्णय किया कि नौकर लडके और मकान मे सम्वन्ध के ऊपर ही यह क्रिया निर्भर है, इसलिए यदि उनका सम्वन्ध तोड दिया जाय, और नौकर को मकान से अलग कर दिया जाय तो पत्थर फेंकना वद हो जाएगा। हमने उस लडके को हृषीकेश के कमरे मे भेज दिया, और सारी घटना एकदम समाप्त हो गयी, उसके बाद एक भी पत्थर कही गिरता दिखायी न दिया और पूर्ण शान्ति स्थापित हो गयी।

श्री अरविन्द ने अत मे परिणाम निकाला—"इससे स्पष्ट है कि यह यौगिक शक्तियाँ वास्तविक है, और वैज्ञानिक घटनाओ के समान इनके भी नियम व प्रक्रियाएँ निश्चित हैं, और इन प्रक्रियाओ के ज्ञान द्वारा न केवल उनको उत्पन्न किया जा सकता है, वल्कि विनष्ट भी किया जा सकता है।"

(यहाँ मैं पाठको की अभिज्ञता के लिए उक्त घटना का पूर्वापर वर्णन कर देना चाहता हूँ) मुझे बाद मे अमृत से, जिसने स्वय अपनी आँखो से यह सारा

नाटक देखा था, मालूम हुआ था कि यह घटना १६२१ की शीत ऋतु के मध्य मे कई दिन तक घटित हुई थी। सौभाग्य से उसने उक्त घटना का पूरा विवरण लिख रखा था, जो उसने मुझे दिखलाया। उससे मुझे मालूम हुआ कि बहल नामक एक रसोइया इस सारे उपद्रव का कारण था। वहाँ से निकाले जाने के कारण क्रुद्ध होकर उसने धमकी दी कि वह अपने बाद मे वहाँ रहने वालो के लिए उस स्थान को बिल्कुल असह्य बना देगा। वह एक मुसलमान फकीर की शरण मे गया जो आसुरी जादू की कला मे अत्यन्त निपुण था, और उसके प्रभाव से ही यह सब होने लगा। मैंने अमृत से पूछा कि क्या पत्थर काल्पनिक या भ्रमात्मक न हो सकते थे। अमृत ने कहा कि उसने उनका सग्रह किया था और कई महीनो तक उन्हे दर्शनीय वस्तु के समान सुरक्षित रखा था, उन सब मे एक बड़ी विचित्र बात यह थी कि वे सब काई से ढके हुए थे। मुझे यह भी बताया गया कि प्रबल बुद्धिवादी तार्किक उपेन्द्रनाथ बैनर्जी भी उस समय वही उपस्थित थे, जिन्होने उपर्युक्त जादू की कहानी को सुनकर शुरू मे उसका मजाक उडाया और उसके कर्त्ताधर्ता शरारतियो का पता लगाने के लिए कमर कसकर तैयार हो गये। परन्तु अन्त मे उन्होने भी हार मानकर यह स्वीकार किया कि वह उपर्युक्त विचित्र घटना का अर्थ समझने मे असमर्थ है। परन्तु जब बहल की पत्नी घोर निराश मे डूबी हुए श्री अरविन्द तथा माताजी के पास दया याचना के लिए आयी, तब सब भेद खुल गया। उसके पति को, जिसे यौगिक शक्तियो के बारे मे इतना ज्ञान था कि वह यह अनुभव कर सके कि श्री अरविन्द व माताजी जी ने उस शक्ति को उलट कर उसी के ऊपर फेक दिया है, यह अच्छी तरह मालूम हो गया कि उसे अपने पाप का फल बुरी तरह भोगना पड रहा है। जब इन यौगिक शक्तियो का किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध प्रयोग किया जाता है, जो उनका प्रतिकार कर सकता है, तो वे अनिवार्य रूप से उसके मूलकर्त्ता के ही सिर पर आकर पडती है। इसलिए उसका पति बुरी तरह बीमार पड गया। श्री अरविन्द ने अपनी उदारता से उसे क्षमा कर दिया, और अमृत की उपस्थिति मे यह कहा—"इसके लिए उसे मरने की आवश्यकता नही है।" इसके बाद वह आसुरी जादूगर अच्छा हो गया।

अपने विवरण के अत मे उन्होने—"माताजी ने उत्तरी अफ्रीका मे यौगिक शक्तियो की साधना की थी, इसलिए वे अपने गम्भीर यौगिक ज्ञान द्वारा इसे अच्छी तरह समझती थी।"

"और आप?"

वह मुस्कराये और उत्तर देने से पूर्व कुछ क्षण तक सोचने के बाद कहने लगे—"यौगिक शक्तियो के बारे मे मेरे भी सैकडो अनुभव है।"

"आकाश-गमन के बारे मे आपकी क्या सम्मति है?"

"आकाश-गमन मेरी सम्मति से सम्भव कल्पना है, क्योकि मुझे ऐसी प्राकृतिक शक्तियो का अनुभव है, जिनको विकसित करने मे यह सम्भव हो सकता है, और ऐसे भौतिक अनुभव भी है जो आकाश-गमन के सिद्धान्त को मिथ्या मान लेने पर सम्भव नही हो सकते।"[१]

मैंने कुछ क्षण मौन रहने के बाद पूछा—"परन्तु ऐसी हालत मे आधुनिक मत इन अनुभवो को सत्य स्वीकार करने के सर्वथा विरुद्ध क्यो है ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"इस प्रश्न का उत्तर मैं अपने अनेक लेखो मे दे चुका हूँ, और मैंने कहा है कि मन उस अविद्या का एक साधन है जो ज्ञान की तरफ बढ रही है।" इसका यह अभिप्राय नही है कि आध्यात्मिक जीवन मे मन का कोई स्थान नही है, परन्तु इसका यह अर्थ जरूर है कि यह एक मुख्य साधन भी नही हो सकता, फिर यह एक ऐसा प्रामाणिक अधिकारी तो कदापि नही है कि जिसके निर्णय के आगे सबको, यहाँ तक कि ईश्वर को भी सिर झुकाना पडे, मन को उस महत्तर चैतन्य से, जिसकी तरफ यह पहुँच रहा है, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, न कि अपने मापदण्डो को उस पर थोपना चाहिए।"[२] मन के लिए यह कर सकना कठिन है, क्योकि मन अपने स्वभाव के अनुसार एक समय मे एक ही वस्तु को स्पष्ट रूप से देख सकता है, यह सत्ता के अशो पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित कर सकता है, और निर्दयतापूर्वक सबको एक ही दृष्टिकोण से देखकर एकता खोजने का अपना कार्य सम्पन्न करता है। इस प्रक्रिया की यह एक अत्यन्त व्यावहारिक उपयोगिता है कि इससे मानवीय मन को वह प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हुई है, जिसकी इसे आवश्यकता थी, और इस प्रकार यह अपने सन्मुख किसी ऐसी वस्तु का विचार रखने मे, जो इसकी पहुँच से परे है, और जिसकी ओर इसे मुडना चाहिए, इसकी मदद करती है। परन्तु यह सब होने पर भी बौद्धिक तर्क केवल अस्पष्ट रूप से ही इसकी ओर निर्देश कर सकता है, या अँधेरे मे टटोलने के समान इसे ढूंढने की चेष्टा कर सकता है, अथवा इसकी अभिव्यक्तियो के आशिक पहलुओ को सूचित कर सकता है, परन्तु यह इसके अन्दर प्रवेश नही कर सकता न इसे जान सकता है।[3] परन्तु जब तुम एक सर्वांगीण व पूर्ण खोज के लिए प्रतिज्ञा-

१ यह वाक्य उन्होने मेरे विवरण का सशोधन करते हुए अपने हाथ से लिखा था। इस सम्बन्ध मे मैंने उनसे अपने वैयक्तिक अनुभवो के बारे मे कुछ और अधिक विस्तार से कहने का आग्रह किया, परन्तु उन्होने मेरे कथन को हँसी मे ही यह कहकर टाल दिया कि 'यह अभी कहने योग्य नही है।'

२ मुझे लिखे एक पत्र से उद्धृत।

३ मेरे मित्र चैडविक को लिखे पत्र से उद्धृत। तथा श्री अरविन्द की 'दिव्य-जीवन' भाग २, अध्याय २ देखो। आखिर मे उन्होने मुझे एक पत्र मे

बद्ध हो तब तुम्हे अपनी मानसिक पूर्व-धारणाओ, अर्थात् 'क्या सम्भव है क्या नही' की कांटेदार वाड से अपने-आपको आवद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? यह प्रचलित भावना कि तुम साधारण चैतन्य मे रहते हुए, साधारण चैतन्य से

लिखा था—"तुम्हे तर्क के अत्यधिक प्रयोग पर वल देने और अपनी वैयक्तिक वुद्धि की प्रामाणिकता तथा प्रत्येक वस्तु को निर्णय करने के इसके अधिकार की भावना से मुक्त हो जाना चाहिए। वुद्धि का भी अपना स्थान है, विशेषत कुछ भौतिक वस्तुओ के वारे मे और साधारणतया सासारिक प्रश्नो के वारे मे, अथवा दार्शनिक सिद्धांत व स्थापनाओ के निर्माण मे—यद्यपि वहाँ पर भी वह वहुत भूल कर सकती है, परन्तु योग व आध्यात्मिक वस्तुओ के वारे मे प्रामाणिक व अन्तिम निर्णायक होने का उसका दावा सर्वथा अग्राह्य है "। भारत मे यह वात सदा से मानी जाती है कि वुद्धि और इसका तर्क अथवा इसका निर्णय, तुम्हें आध्यात्मिक सत्यो का साक्षात्कार नही करा सकते, यह केवल विचारो के वौद्धिक चित्रण मे सहायता कर सकते है, साक्षात्कार तो केवल अन्तर्दर्शन या आन्तरिक अनुभव द्वारा ही होता है। वुद्धि व वौद्धिकता तुम्हे ईश्वर का दर्शन नही करा सकते आत्मा ही उसका दर्शन कर सकता है। मन और अन्य साधनो को जब आत्मा द्वारा साक्षी वना लिया जाता है, तव वे दर्शन कर सकते हैं और उसका स्वागत कर सकते हैं व प्रसन्नता का अनुभव कर सकते है। परन्तु मन उसे रोक भी सकता है या कम-से-कम दर्शन की उपलब्धि मे वहुत देर तक वाधक हो सकता है। कारण, इसकी पूर्व-धारणाएँ, पूर्व-निश्चित सम्मतियाँ और मानसिक पसन्दगियाँ उस आध्यात्मिक सत्य के विरुद्ध, जिसका कि साक्षात्कार करना है, तर्क की एक दीवार खडी कर सकती हैं, और यदि वह कभी अपने आपको ऐसे रूप मे प्रकट करता है जो उसके अपने पूर्व विचारो से अनुकूल नही है, तो वह उसे स्वीकार करने से इन्कार कर सकता है : इसी प्रकार जव ईश्वर अपने-आपको ऐसे रूप मे प्रकट करता है, जिसके लिए वुद्धि तैयार नही है या जो वुद्धि की पूर्व-धारणाओ व विश्वासो मे वुद्धि का आश्रय लिया जा सकता है, वशर्ते कि मन उदार व निष्पक्ष रहने की चेष्टा करे, और अनुचित भावावेशो से मुक्त हो, और वह यह स्वीकार करे कि हमेशा वह ठीक मार्ग पर ही नही है, उससे भी गलती हो सकती है, परन्तु जो विषय उसके अधिकार-क्षेत्र से ही वाहर हैं, विशेषत. आध्यात्मिक अनुभव व योग, जो ज्ञान के दूसरे क्षेत्र से सम्वन्ध रखते हैं, उन विषयो मे केवल उसी पर आश्रित रहना कभी भी सुरक्षित नही है। (६-४-४७)

परे की वस्तु का निर्णय कर सकते हो, सर्वथा अग्राह्य है । इसलिए सर्वोत्तम मार्ग यही है कि अपने मन को इन पूर्व-धारणाओं से मुक्त करके शान्त बनाओ और सत्य ग्रहण के लिए खुला रखो । मुख्य वस्तु यही है कि अपनी चेतना को इस प्रकार समृद्ध करो कि वह उच्चतर सत्यो को ग्रहण करने मे समर्थ हो सके । यदि तुम ऐसा कर सकते हो, और अपनी आध्यात्मिक सत्ता को पथ-प्रदर्शन करने देते हो, तो उचित समय आने पर यह तुम्हे उस द्वार पर पहुँचा देगी, जिसकी तुम खोज कर रहे हो, और जहाँ पर मन अपने अर्द्ध-प्रकाशित चैतन्य के साथ तुम्हारी दृष्टि को सकुचित या आवद्ध न कर सकेगा, क्योकि ऊपर से अवतरित होता हुआ एक उच्चतर प्रकाश उन्होने अपने सिर के ऊपर के प्रदेश की ओर निर्देश किया—"उसका स्थान ग्रहण कर लेगा और मन के उच्चतर क्षेत्रो से, अर्थात् अतिमानस से ज्ञान का प्रवेश होगा । यही मेरा योग है, जैसाकि तुम जानते हो ।"

मैंने बिना किसी उत्साह के अपनी सहमति प्रदर्शित की । मैंने उत्तर दिया—"यह मै जानता हूँ और देखता भी हूँ कि मानसिक शान्ति (passivity) यदि कोई उसे प्राप्त हो सके, तो सहायक सिद्ध हो सकती है । परन्तु मेरी कठिनाई यही है कि मेरा मन अत्यन्त उद्दण्ड है और अनुग्रहपूर्वक अपना सिंहासन छोडना नही चाहता" और फिर झिझक के साथ कुछ क्षण मौन रहकर मैंने कहा—"पर मेरी कठिनाई किसी भी तरह कम नही हो पाती, जबकि मैं आश्चर्यित होकर सोचता हूँ · कि क्या मानसिक सदेहो का कोई मूल्य नही है—क्या वे कोई उद्देश्य पूर्ण नही करते । ऐसे क्षणो मे मैं अपने-आपसे पूछता हूँ कि क्या हमारे सदेह अपने परिणामस्वरूप कष्टो के द्वारा ही हमारे लिए कुछ सहायक नही हो सकते । मुझे ए० ई० की वह प्रभावशाली पक्तियाँ, जो उसने अपनी सुन्दर कविता 'मनुष्य देवता के प्रति' मे लिखी हैं, प्राय याद हो आती है —

' जिन्होने अन्धकार को कभी नही देखा है
वे केवल प्रकाश के गुलाम है
और तम और प्रकाश के वीच
स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने का उन्होने सकल्प किया है ।"

अगले दिन मैंने इस बारे मे उन्होने जो उत्तर दिया था, उसे स्मरण रखने मे अपनी असमर्थता स्वीकार करते हुए उन्हे लिखा और अपने मन के भावो को भी प्रकट करने का प्रयत्न किया । और अन्त मे मैंने उनसे आग्रह किया कि क्या वे इतनी कृपा करेंगे कि इस प्रसग मे उन्होने जो कुछ कहा था उसे अपनी स्मृति से पुन लिख देंगे । इस बारे मे उन्होने अपनी 'दिव्य जीवन' पुस्तक मे 'शोक, दु.ख, कष्ट व त्रुटि' आदि के बारे मे जो कुछ लिखा है, उसका भी मैंने उन्हे स्मरण कराया । उक्त पुस्तक मे उन्होने लिखा है कि "यह वस्तुएँ विश्व-चेतना के वास्तविक तथ्य है, केवल काल्पनिक या मिथ्या वस्तु नही है, यद्यपि यह ठीक है कि हम

अज्ञानवश उन तथ्यो का जो अर्थ समझते है या जो मूल्य आँकते है, वह उनका वास्तविक अर्थ या मूल्य नही है क्योकि "उन्होने लिखा था—"बिना दु ख के अनुभव के हम दिव्य प्रकाश के उस अनन्त मूल्य को नही समझ सकते जिसे उत्पन्न करने के लिए दु ख प्रसव-वेदना मे है। समस्त अज्ञान एक छाया है, जो ज्ञान के सूर्य को आवृत किए हुए है, प्रत्येक भूल सत्य की खोज तथा उसके लिए प्रयत्न की सम्भावना की द्योतक है, प्रत्येक दुर्बलता व असफलता शक्ति या सम्भावना की गहराइयो की प्रथम थाह लेना है, समस्त अनैक्य का अभिप्राय एकीकरण की प्रक्रिया मे नाना विध मधुरता के अनुभव द्वारा अनुभूत एकता के आनन्द को समृद्ध करना है।"[1]

उन्होने उत्तर मे लिखा—"मुझे जहाँ तक स्मरण है, मैंने इस विषय मे इसके अतिरिक्त और कुछ नही कहा है कि निराश हुई प्राणिक इच्छा दु ख व कष्ट को पैदा करती है। दु ख व कष्ट उस अज्ञान के आवश्यक परिणाम है, जिसमे कि हम रह रहे हैं, मनुष्य प्रत्येक प्रकार के अनुभवो द्वारा, चाहे वह दु ख व कष्ट के अनुभव हो, या उनके विरोधी सुख प्रसन्नता, व आनन्द के अनुभव हो, अपनी उन्नति करता है। यदि कोई व्यक्ति ठीक प्रकार से उनका स्वागत करता है, तो वह उनसे शक्ति प्राप्त कर सकता है। बहुत-से व्यक्ति दु ख व कष्टो मे भी, जबकि वे एक प्रकार के सघर्ष व साहस के प्रयत्नो से सम्बन्ध रखते है, आनन्द का अनुभव करते हैं, परन्तु इसका अधिकतर कारण सघर्षजन्य उल्लास व जोश ही है, कष्ट का अपना स्वरूप नही। परन्तु प्राणिक सत्ता मे कुछ ऐसी वस्तु है जो जीवन के प्रत्येक पहलू मे, अर्थात् उसके अन्धकारमय व उज्ज्वल दोनो रूपो मे आनन्द का अनुभव करती है। साथ ही प्राणिक सत्ता मे कुछ ऐसी विकृत वस्तु भी है, जो उसकी अपनी दुर्दशा व दु ख यहाँ तक कि उसके पतन व दुर्दशा मे भी एक प्रकार मे नाटकीय सुख का अनुभव करती है। जहाँ तक सदेहो का प्रश्न है, मैं सोचता हूँ कि केवल सदेहो से कुछ लाभ नही है, मानसिक सदेह उस अवस्था मे कुछ लाभ पहुँचा सकते है, जबकि वे सत्य की खोज के लिए हो, परन्तु केवल सदेह के लिए संदेह करने, अथवा किसी भी वस्तु की विरोध-भावना मात्र से प्रेरित होकर आत्मा के सत्यो के प्रति सदेह करने का परिणाम भ्रम या स्थायी अनिश्चितता के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। यदि मै जब भी प्रकाश का आगमन हो, तभी उसमे सदेह प्रकट करने लगूँ व इसके सत्य के उपहार को ग्रहण करने से इनकार कर दूँ, तो वह प्रकाश मेरे अन्दर ठहर व टिक नही सकता, और

---

१ दिव्य तथा अदिव्य के अध्याय मे भाग २, पृष्ठ १७०
उन्होने अपनी 'सावित्री' कविता मे भी लिखा है —
"बिना नरक मे से गुजरे हुए कोई स्वर्ग मे नही पहुँच सकता।"

अन्तत वह अपना स्वागत होता न देखकर तथा मन मे अपना कोई आधार न पाकर वापस चला जाएगा। व्यक्ति को हमेशा प्रकाश की तरफ अग्रसर होने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि अन्धकार की तरफ पीछे हटना चाहिए और अन्धकार को ही भ्रमवश प्रकाश समझकर उससे चिपटे रहना चाहिए। दुख, कष्ट व सदेह मे मनुष्य को जो अपनी पूर्णता दिखायी देती है, वह अज्ञान से सम्बद्ध है, वास्तविक पूर्णता दिव्य आनन्द, दिव्य सत्य तथा इसके पूर्ण निश्चय मे ही है, और इसी के लिए योगीजन प्रयत्न करते हैं। सघर्ष की अवस्था मे उसे सदेह मे से गुजरना पड सकता है, परन्तु वह उसकी अपनी इच्छा व रुचि से नही, परन्तु केवल इसलिए क्योकि उसके ज्ञान मे अभी अपूर्णता विद्यमान है।"

अगला प्रश्न जो मैने पूछा था, यह था कि क्या मानसिक विकास कभी-कभी आध्यात्मिक विकास के मार्ग मे बाधक नही हो सकता।

उन्होने उत्तर दिया—"हो सकता है, और प्राय होता है, विशेषत जबकि धारणा गलत हो, अर्थात् जब मन यह मानता हो कि हमारे व्यक्तित्व की चरमावस्था वही है। इसका कारण मैं तुम्हे पहले ही बतला चुका हूँ। वह यह है कि वह उच्चतर प्रकाश, जो हमारे विकास को शीघ्र सम्पन्न करना चाहता है, हमारा सहयोग माँगता है। परिणामत यदि हमारे मन व प्राण का अहकार, बाह्य मानसिक विचारो के स्तर मे इसके लिए स्थान देने से इनकार कर देता है, तो वह प्रवेश नही पा सकता। यही कारण है कि मैंने अनेक बार तुम्हे यह बात कही है कि आध्यात्मिक साम्राज्य मे, जो व्यक्ति यह समझता है कि वह कुछ नही जानता, वह अज्ञानी है, वही वास्तव मे ज्ञान प्राप्ति का प्रारम्भ कर सकता है। जब तक कोई मन से आगे बढने के लिए तैयार नही होता, तब तक वह चैतन्य की उच्चतर क्रियाओ के अत्यत अस्पष्ट विचारो के अतिरिक्त और कुछ नही जान सकता। उदाहरण के लिए, वे मनुष्य जो मन तक ही सीमित रहते हैं व रहने मे सतुष्ट हैं, वे अपने-आपको साधारणतया भौतिक प्राणी व मानसिक जीव समझते है, आत्मा को स्वीकार करने की कोई प्रेरणा वे अनुभव नही करते। क्योकि वे इसके अतिरिक्त कि शरीर के विनाश के बाद वह शायद कोई जीवित रहनेवाली वस्तु हो सकती है, उसका कोई अनुभव नही करते। परन्तु इससे और आगे बढने के लिए वे केवल इसीलिए तैयार नही होते, क्योकि उन्हे मन से पृथक् आत्मा का कोई अनुभव नही हुआ है। इसलिए वे अपने आपको मानसिक प्राणी स्वीकार करते हैं, और चूँकि उन्होने स्वय आत्मा का अनुभव नही किया है, इसलिए आत्मा की मिथ्या कल्पना बतलाते है। और जब तक आध्यात्मिक सत्ता आवरण से ढकी रहती है, तब तक यही अवस्था रहती है।"

मैंने एक प्रकार के उत्साह का अनुभव करते हुए कहा—"यह मै जानता हूँ, क्योकि आपने अपने पत्रो मे इस बात पर बार-बार जोर दिया है। अपनी 'दिव्य

जीवन' पुस्तक मे भी आपने बडे सुन्दर शब्दो मे कहा है कि जब तक हमारा व्यक्तित्व विकास की एक विशेष अवस्था को प्राप्त नही कर लेता तब तक यह हमारी प्रकृति के गभीरतर भीतरी भाग मे रहकर आवरण के पीछे से अपना कार्य करती है।"

मैं इसका पूरा उद्धरण देता हूँ, क्योकि यह अत्यन्त प्रकाश देने वाला है।[1] हमारे अन्दर विद्यमान आत्मा व अध्यात्म तत्व—अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए एक आत्मव्यक्तित्व अर्थात् एक स्पष्ट आध्यात्मिक सत्ता को आगे लाता है और विकसित करता है। यह आध्यात्मिक सत्ता हमारे अन्दर विद्यमान सच्ची मानसिक, सच्ची प्राणिक व सच्ची भौतिक सत्ता के समान हमारे पृष्ठभाग मे आवरण के पीछे प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती है, परन्तु उन्ही के समान यह हमारे बाह्य जीवन पर उन प्रभावो व सकेतो द्वारा, जो वह बाह्य स्तर पर डालती है, अपना कार्य करती है, यह उस समस्त बाह्य पिण्ड का, जो आन्तरिक प्रभावो व लहरो का सामूहिक परिणाम है, अशभूत है, यह वह दृश्यरूप बाह्य ढाँचा है, जिसे हम साधारणतया अपना आप कहकर अनुभव करते व सोचते है। इस अज्ञानमय बाह्य स्तर पर हमे मन, प्राण व शरीर से पृथक् किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान, जिसे आत्मा कहा जा सकता है, अत्यन्त अस्पष्ट रूप से होता है, हम इसे न केवल अपना एक मानसिक विचार या अपनी एक अस्पष्ट मूल भावना ही अनुभव करते है, परन्तु अपने जीवन, अपने चरित्र व अपनी क्रिया मे एक दृश्य प्रभाव के रूप मे अनुभव करते है। जो कुछ भी सत्य, शिव तथा सुन्दर है—सूक्ष्म, पवित्र तथा श्रेष्ठ है, उसके लिए एक भावुक अनुभूति, एक आकर्षण व उसकी प्राप्ति की इच्छा, हमारे मन व जीवन पर उसे अपने विचारो, भावो व क्रिया और चरित्र मे लाने के लिए एक प्रकार का दबाव—ये सब यद्यपि आत्मा के प्रभाव के एकमात्र लक्षण नही है, तथापि उसके प्रभाव के प्राय सर्वानुमोदित सर्वविदित व विशेष-सूचक है। वह मनुष्य, जिसके अन्दर यह तत्त्व विद्यमान नही है, या जो इसकी प्रकार को अनसुना कर देता है, उसे हम यह कहते है कि 'उसकी आत्मा नही है।' यही वह प्रभाव है जिसे हम अपने अन्दर विद्यमान सूक्ष्मतर व दिव्यतर अश कहकर अनुभव करते है और यह हमे हमारी प्रकृति की पूर्णता के लक्ष्य की तरफ ले जाने के लिए पूर्णतया सक्षम है।"

उन्होने सहमति प्रदर्शित करते हुए कहा—"तथापि जब तक हम इस स्वाभाविक विकास को प्राप्त नही कर लेते—अध्यात्म सत्ता को व्यक्तित्व के विकास मे सहायता करते हुए तब तक प्रतीक्षा करनी पडती है जब तक कि वह उस सब अनुभव को जो आत्मा अपने मन, शरीर व प्राण आदि साधनो द्वारा ग्रहण करता है, अपने अन्दर आत्मसात् नही कर लेता। परन्तु यदि इस तैयारी के काल मे

१ त्रिविध परिवर्तन के अध्याय मे पुस्तक द्वितीय, पृ० ६१४-५।

मन नमनशील रहने के लिए राजी हो जाय—अर्थात् यदि वह आत्मा का अधिनायक न बनकर उसका साधन बन जाय, दूसरे शब्दो मे, यदि वह आत्मिक सत्यो का अपनी छोटी मानसिक सत्यो की हालत से निर्णायक न बने, तो वह एक महान् सहायक हो सकता है। तुम समझ रहे हो ?"

मैंने कुछ उदास स्वर मे उत्तर दिया—"परन्तु समझना एक वस्तु है, और अपनी समझ के आदेशानुसार कार्य करना पृथक् वस्तु है। मेरा अभिप्राय यह है कि यद्यपि मैं मन के सहायक बनाने की बुद्धिमत्ता को समझता हूँ, तथापि जिस नमनशीलता की आप वकालत करते है उसे प्राप्त कर सकना मैं अत्यन्त कठिन समझता हूँ। इसलिए कृपा करके मुझे कुछ ऐसे व्यावहारिक निर्देश क्यो न दीजिये जिससे कि मैं इस दिशा मे कुछ प्रयत्न कर सकूँ।"

उन्होने हँसते हुए उत्तर दिया—"परन्तु मैंने तो तुम्हे बार-बार बतलाया है। क्या मैंने तुम्हे अपने अनेक पत्रो मे यह सलाह नही दी है कि तुम्हे अपनी आन्तरिक सत्ता से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए, अपने अन्दर रहने की चेष्टा करनी चाहिए, उदाहरण के तौर पर अपनी कविता व सगीत की सहायता लेनी चाहिए, क्योकि ये तुम्हारी भक्ति को समृद्ध करते है, और सही धारणा बनाने मे तुम्हारे सहायक होते है। मै तुम्हे बतला चुका हूँ, और तुम भी जान चुके हो कि जब मनुष्य की धारणा ठीक होती है, तब सूर्यालोक से प्रकाशित आध्यात्मिक मार्ग पर चलना कितना सुगम हो जाता है; कारण, उस अवस्था मे अध्यात्म सत्ता के लिए बाहर आना सरल हो जाता है। मैंने अनेक बार तुम्हे यह भी बताया है कि जितना ही अधिक तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ता आगे आती है, उतना ही अधिक मानवीय प्रकृति को परम् दिव्य सत्ता मे परिवर्तित करने का कार्य सुगम हो जाता है। यही कारण है कि मैंने तुम्हे सदा भक्ति सेवा व कार्य के इस मार्ग पर चलने का आदेश दिया है, तुम्हारी प्रकृति के लिए यही मार्ग अन्य सब मार्गो से सुगम है।"

मैंने कुछ खिन्न होकर कहा—"बौद्धिक रूप से मैं यह सब समझता हूँ, परन्तु मैंने भी आपसे बार-बार यह बात कही है कि व्यावहारिक रूप से इस पर चलना मेरे लिए सुगम नही है। मेरी मानसिक व प्राणिक स्वेच्छा हमेशा बीच मे दखल देकर सब काम बिगाड देती है और मैं वस्तुओ का ठीक रूप न देख सकने के कारण अपने आपको किंकर्तव्यविमूढ पाता हूँ।"

उन्होने कुछ विरोध प्रकट करते हुए कहा—"मै तो इसके विपरीत यह सोचता हूँ कि मैंने जब कभी भी तुम मे भक्ति या किसी अन्य उच्चतर प्राणिक अग की प्रबलता के कारण तुम्हें अन्तर्मुख अवस्था मे पाया है, तब तुम स्वत वस्तुओ का सही रूप देख पाते हो। क्योकि मैंने देखा है कि उस समय तुम्हारी

मानसिक दृष्टि उद्बुद्ध हो जाती है, और तुम्हारे निर्णय अत्यन्त स्पष्ट, ठीक तथा उज्ज्वल होते है।"

"आपका क्या अर्थ है? क्या आप वास्तव मे यह समझते है कि मैं वस्तुओ का ठीक रूप ग्रहण कर पाता हूं?"

"मेरा यह अभिप्राय नही है कि तुम सफलतापूर्वक और सर्वतोभावेन और प्रत्येक बात मे ऐसा कर सकते हो। मैंने केवल इसी बात पर बल दिया है कि जब कभी तुम स्वाभाविक भक्ति की अवस्था मे होते हो, अथवा तुम्हारे मन व प्राण पर आत्मिक प्रभाव क्रियाशील होता है तब तुम पर ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है। तुम्हारी कविता व संगीत मे यह बहुत सक्रिय रहता है, यही कारण है कि मैंने इनके लिए तुम्हे सदा ही प्रोत्साहित किया है।"

मैंने उत्साहित होकर अपनी सहमति प्रकट की और कहा—"हाँ, आपने मुझे प्रोत्साहित किया है, क्योकि मुझे याद पडता है कि कुछ समय हुआ जब आपने मुझे लिखा था कि जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो मेरी आत्मिक सत्ता हमेशा मेरे पीछे होती है, और जब कभी अत्यन्त गहरी निराशा मे भी होता हूँ, तब यदि मैं लिखना आरम्भ करता हूँ, तो मेरी आत्मिक सत्ता बीच मे दखल देती है और और अपना स्वरूप बीच मे प्रकट करती है। इन सबके लिए नि सन्देह मैं प्रसन्न हूँ, और आपका अत्यन्त कृतज्ञ भी हूँ, परन्तु ··।"

"कहो, कहो।"

"मेरा अभिप्रय है—कि इससे समस्या का हल नही होता।"

उन्होंने मुस्कराकर कहा—"परन्तु वह समस्या है क्या?"

मैं कुछ देर तक व्यर्थ ही अपने भावो को प्रकट करने के लिए शब्दो को ढूंढता रहा और कहा—"हाँ, बात यह है—मेरे कहने का सीधा-सादा मतलब यह है कि मैं उस आत्मिक अवस्था को देर तक कायम नही रख सकता। ऐसा क्यो है?"

उन्होंने उत्तर दिया—"इसका सीधा-सा कारण यही है कि तुम्हारी प्राणिक सत्ता अधीर होकर बेचैन हो जाती है, और तब तुम्हारा मन व्याकुल व सन्देहशील होने लगता है—क्या यह सब बाते मैंने तुम्हे पहले भी नही कही हैं?"

"आपने कही अवश्य है—परन्तु औषधि का प्रयोग किस तरह किया जाय। आप यह क्यो नही देख पाते कि मुझे शान्ति प्राप्त नही होती? यदि मुझे शान्ति प्राप्त हो जाती तो मेरे लिए आत्मिक अवस्था को स्थिर बनाये रखना कितना सुगम हो जाता। आप मेरा मतलब समझ रहे होगे।"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया—"मैं खूब समझ रहा हूँ, पर तुम क्यो नही समझते, कि यदि तुम प्राणिक के लिए आत्मिक का त्याग कर दोगे तो तुम्हे कभी शान्ति प्राप्त करने की आशा नही करनी चाहिए, क्योकि प्राणिक अपने

आप कभी शान्ति प्राप्त कर ही नही सकता, उसकी प्रकृति मे ही शान्ति नही है ?"

"इससे मुझे आपके उस पत्र की याद आ जाती है, जिसमे आपने मुझे लिखा था कि प्राणिक एक अच्छा सेवक है, परन्तु वह खराब स्वामी है।"

"इस कारण भी मैंने तुम्हे बतलाया था। योग हमारी प्रकृति के उन अवयवो पर अपरिपक्व और अपवित्रता मजबूती से अपनी जड जमाये हुए है, दबाव डालता है। प्राणिक को इससे कष्ट पहुँचता है, क्योकि, एक तो यह तमसाच्छन्न है और ठीक तरह से नही समझ सकता, और दूसरे, इसके कुछ अवयव अपनी अपरिक्व व तामसिक चेष्टाओ को नही छोडना चाहते, और इसलिए वे प्रकाश को देखकर मकुचित हो जाते हैं, क्योकि वे परिवर्तन नही चाहते।"

मैंने कुछ मयत होकर पूछा—"मन के बारे मे क्या है ? क्या इसे शान्ति मिल मकती है ?"

उन्होंने कुछ सदिग्ध से स्वर मे कहा, "एक प्रकार से मिल सकती है, परन्तु माधारणतया यह खामोश किये हुए मन द्वारा एक प्रकार की उदासीन शान्ति से अधिक कुछ नही है। परन्तु उस शान्ति का स्रोत भी उसके पीछे अवस्थित आत्मा मे ही है, क्योकि वास्तविक शान्ति निश्चित रूप मे आत्मा से ही सम्बध रखती है। सुखद विश्वास, तत्पर बुद्धि और स्वत. आत्मसमर्पण इसके उसी प्रकार स्वाभाविक गुण है, जैसा प्रेम के लिए विश्वास है। इसलिए यदि तुम शान्ति भी चाहते हो तव भी तुम आत्मिक का त्याग नही कर सकते। यही कारण है कि मैंने तुम से बार-बार कहा है कि तुम अधीर होकर प्राणिक निराशा के गर्त मे न गिरो, क्योकि इससे आत्मिक के कार्य मे बाधा पड जाती है। यदि तुम अपनी इस परेशानी से निकलना चाहते हो, तो तुम्हे धैर्यवान् होने तथा आत्मिक कार्य पर विश्वास करने की आवश्यकता है। समझते हो ?"

"परन्तु मन को शान्त करने के लिए ज्ञानमार्ग के बारे मे आपकी क्या सम्मति है ?"

"इस मार्ग पर चलने वालो के लिए कई भिन्न-भिन्न स्वीकृत विधियाँ है। उदाहरण के लिए एक मार्ग वह है जिसे विवेकानद ने ग्रहण किया है। शायद उस मार्ग को तुम जानते हो ?"

"मैंने उनके राजयोग मे इसके बारे मे पढा है।"

(उस महान् वेदान्ती ने इस प्रकार लिखा है —"पहला पाठ यही है कि कुछ समय तक एकान्त मे बैठकर मन को स्वतन्त्र रहने दिया जाय। मन मे हर समय उफान आता रहता है। यह हर समय इधर-उधर कूदने फाँदने वाले बन्दर के समान है। उस बन्दर को जितना वह चाहे, कूदने दो, तुम केवल द्रष्टा बनकर धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो जब तक तुम्हे यह न मालूम हो जाय कि तुम्हारा मन क्या कर रहा है, तुम इसे वश मे नही कर सकते। इसकी लगाम ढीली छोड

दो—और तव देखोगे कि यह प्रतिदिन पहले की अपेक्षा ज्यादा-ज्यादा शान्त होता जा रहा है—और अन्त मे यह पूर्णतया तुम्हारे वश मे हो जाएगा—यह एक बहुत कठिन कार्य है, जिसे एक-दो दिन मे नही किया जा सकता। वर्षो के धैर्यपूर्वक निरन्तर सघर्ष द्वारा ही हम इसमे सफलता प्राप्त कर सकते है।"

श्री अरविन्द ने इस विधि की व्याख्या करने के बाद कहा—"अपने विचारो पर काबू पाने का एक मार्ग यह है। इसके और भी मार्ग है। उदाहरण के लिए एक मार्ग मुझे लीले ने दिखलाया था। उन्होने मुझ से कहा था—"अपने मन को शात करो, किसी बात को अपने आप मत सोचो। तब तुम देखोगे कि जिन विचारो को तुम अपने समझते हो, वे बाहर से आते हैं, जब वे आवे तो उन्हे बाहर धकेल दो। इस प्रकार तुम्हारा मन शान्त हो जाएगा।" मैंने ऐसी बात पहले कभी नही सुनी थी। परन्तु मैंने इसकी सभावना व सच्चाई मे किसी प्रकार का सदेह नही किया? जो कुछ भी उन्होने कहा था, उसे स्वीकार कर लिया और अपने मन को निष्क्रिय बनाकर यह देखने लगा कि कौन से विचार और कहाँ से आते है। तब मैंने एक आश्चर्यजनक बात देखी मैंने देखा कि मन एकदम शात था और प्रत्येक विचार वास्तव मे बाहर से आता था। और ज्यो ही वे आने का प्रयत्न करते थे, मै उन्हे अपने मन की परिधि के अन्दर घुसने से पहले ही बाहर रोक देता था। इस प्रकार तीन दिन के अन्दर मै विचारो से मुक्त हो गया, मेरा मन सार्वभौम और स्वतन्त्र हो गया, और मैं अन्दर आने वाले विचारो के हाथ का खिलौना न वनकर उनका स्वामी हो गया, क्योकि जिन्हे मैं चाहता था, उन्हे मैं चाहता था, उन्हे चुन सकता था और बाकी को इन्कार कर देता था।"

मैंने उत्तर दिया—"मुझे यह याद है, क्योकि आपने मुझे यह बात पहले भी कई वार लिखी है, और साथ ही मुझे यह भी स्मरण है कि आपको ऐसे विचित्र प्रस्ताव को केवल गुरु के कहने मात्र से एकदम स्वीकार कर लेने की शक्ति को देखकर मैं कितना आश्चर्यान्वित हुआ था, और इसके लिए मैंने मन ही मन आपकी कितनी प्रशसा की थी।"

उन्होने मद स्मित के साथ कहा—"यह सुगम कार्य नही है, यह मै जानता हूँ।"

उनके मृदु व्यग्य का निशाना कौन है—इसे मैं समझ गया, और इसलिए वार्त्तालाप का विषय वदल दिया। मैंने पूछा—"क्या मै अपने मन को वश मे करने के लिए इस विधि का अभ्यास कर सकता हूँ?"

मेरे मुँह से यह शब्द निकल तो गए, परन्तु मुझे यह आशका हुई कि कही वे स्वीकृतिसूचक उत्तर न दे दे।

परन्तु उन्होंने मेरे मन की वात जान ली और जोर से हँसते हुए उत्तर दिया—"परन्तु ध्यान रखो कि उस अय्यर के समान तुम्हे प्रयत्न नही करना चाहिए।"

वह कुछ रुके, हँसे और फिर कहने लगे—"सुनने मे यह कैसी हास्यास्पद बात है। उसने मुझसे मन को शान्त करने की विधि पूछी। मैने उसे बता दिया। उसने मेरे आदेश का पालन किया और भाग्य ने उसका पूरा साथ दिया, वह सफल हो गया। परन्तु देखो! वह अधमरा सा होकर दौडता हुआ मेरे पास आया! "ओह! मेरा मस्तिष्क विचारशून्य हो गया है, मै कुछ नही सोच सकता हूँ! हे ईश्वर! मै पागल हो रहा हूँ।" श्री अरविन्द एक बार फिर हँसे और कहने लगे—"उसने इस बात का अनुभव नही किया कि एक व्यक्ति जो वह पहले ही था, ठीक वैसा ही नही हो सकता। उन दिनो मै इतना धैर्यवान् नही था, और मैने उसे इस प्रकार आश्चर्यजनक रूप से प्राप्त की गई शान्ति को भग करने के लिए खुला छोड दिया।"

उनकी सुखद व सुन्दर हँसी मे मैने भी सहयोग दिया।

हास्य के शान्त होने पर उन्होने पुन. कहना आरम्भ किया—"परन्तु तुम्हारे बारे मे, तुम्हे आत्मिक मार्ग का अनुसरण करने के लिए सलाह देना ही अधिक उपयुक्त होगा, जैसाकि मै तुम्हे पहले भी कह चुका हूँ।"

मैने उत्तर दिया—"जैसा आप मुझे विशेष रूप से कहते रहे है, मैं सगीत व कविता द्वारा इसके लिए प्रयत्न करता हूँ, और यह भी आप जानते है कि इस दिशा मे मैंने कितना अधिक प्रयत्न किया है। परन्तु कठिनाई यह है, और जो कि प्रतिदिन बढती ही जा रही है कि इन चेष्टाओ से अब मुझे सन्तोष नही मिलता, जैसाकि मै आपको कई बार लिख चुका हूँ। क्योकि चाहे मैं कुछ भी करूँ, यह भावना मेरा पीछा नही छोडती कि अन्तिम विश्लेषण करने पर ये सब चेष्टाएँ उसी प्रकार निरर्थक हैं, जैसे कि वह खेल जिनमे हम किसी रस का अनुभव नही करते, परन्तु फिर भी यह बहाना करते हैं कि हमे उनसे आनन्द प्राप्त होता है।"

उन्होने कुछ देर तक सोचने के बाद मेरी तरफ ध्यान से देखते हुए कहा—"मै जानता हूँ कि यह वैराग्य का वह पुराना रुझान है, जिसने तुम्हारी प्रकृति मे किसी जगह जड पकडी हुई है, परन्तु वयक्तिक रूप से मैं वैराग्य की आवश्यकता का अनुभव नही करता, तुम से यह छिपा नही है।[1] मैंने हमेशा ही समता के मार्ग को—गीता के समत्व के मार्ग को जिसमे किसी भी वस्तु से आसक्ति व बन्धन का सर्वथा परित्याग है, पसन्द किया है।"

---

१ एक बार उन्होने मेरे वैराग्य (सासारिक वस्तुओ के प्रति विरक्ति) के बारे मे मुझे लिखा था—"यह स्पष्ट है कि तुम्हारे अन्दर कोई वस्तु पिछले जन्म की अपूर्ण वक्ररेखा को जारी रखते हुए तुम्हे इस वैराग्य की तरफ धकेल रही है—यह कोई ऐसी वस्तु है जो बाह्य प्रकृति के प्रति उद्दण्ड होकर अपने आपको मुक्त करने व अपनी आकाक्षाओ को पूर्ण करने के

लगे। बातचीत के सिलसिले मे मैं अकस्मात् ही उत्साहित हो उठा और वक्तृत्व पूर्ण ढग मे इस बारे मे श्री अरविन्द के मत को इस प्रकार प्रकट करने लगा कि यह उस प्रकाश के समान है जो सूर्योदय से पहले आकाश मे व्याप्त हो जाता है, इत्यादि। जब वह मुग्ध होकर मेरे शब्दो को सुन रही थी, मेरे अन्दर एक बिजली सी दौड गयी, और आश्चर्य की बात है कि मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे इर्द-गिर्द मीलो तक सन्देह का कही नामोनिशान भी नही है। परन्तु उससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह थी कि उसकी आँखे अस्त होते हुए सूर्य के प्रकाश मे वास्तव मे चमक उठी, और हम दोनो के अन्दर एक स्नेहमय आन्तरिक सम्पर्क स्थापित हो गया। परन्तु जब मै घर लौटा तो मानो मेरी परेशानी को बढाने के लिए मेरे अन्दर एक भय का सचार हो गया: क्या मै इसलिए उसे प्रभावित करने का अभिनय कर रहा था क्योकि वह एक रानी है? मै अपनी ही आँखो मे गिर गया, यद्यपि जब मैं बात कर रहा था तो मुझे किसी प्रकार के कपट का ज्ञान न था। मैंने अपने दिखावटी व कपटी होने पर श्री अरविन्द को अपने हार्दिक पश्चाताप से सूचित किया।

उन्होने सात्वना देते हुए—सभवत अर्धस्मित के साथ उत्तर मे लिखा "महारानी के साथ तुम्हारा अनुभव। यह प्रत्येक के साथ होता है। यह इस तरह होता है कि चेतना का वह भाग जो कि इन वस्तुओ मे न केवल विश्वास करता है, परन्तु उन्हे सत्य समझता है, समुख आ जाता है, और दूसरा भाग जो कि दबा हुआ है और सदेह व इनकार के लिए उद्यत है, वह पीछे चला जाता है, या छिप जाता है। मनुष्य मानवीय व्यक्तित्व की इस विविध रूपता को नही जानते, इसलिए वे इसे अपने व दूसरो के अन्दर कपट कहकर पुकारते हैं। परन्तु यह ऐसी कोई वस्तु नही है। कुछ ऐसे विश्वास व भावनाएं है, जिन्हे हमारी प्रकृति के अन्दर कोई वस्तु दृढता के साथ पकडे हुए है, और तूफान व निराशाएँ उन्हे कुछ काल के लिए ढक सकते है, परन्तु उनको विनष्ट नही कर सकते।"

जब एकाएक उस घटना का मुझे स्मरण हो आया तब मैं यह समझ पाया कि दूसरो के मेरे अन्दर उस चीज के सम्पर्क से उनका क्या अभिप्राय था, जिसे कि मैं अपने आप प्रायः भूल जाता था मेरी आन्तरिक सत्ता, जिसे कि वे अपनी चेतना के प्रकाश से विकसित कर रहे थे, मेरी आत्मिक सत्ता जिसे कि वे अपनी अनुकम्पा से सामने की तरफ धकेल रहे थे। और उनके चरणो मे बैठकर मैं अपने आपको एकदम अत्यन्त विनम्र तथा कृतज्ञ, यद्यपि साथ ही कुछ लज्जित भी अनुभव करने लगा। मैं उनके ज्ञान की गहराई व यौगिक सत्यो के बारे मे कैसे सन्देह कर सकता था? और उनके अपने ही शब्दो मे जो उन्होने गुरु का लक्षण व कार्य बतलाते हुए कहे थे क्या उन्होने "सिखाने की अपेक्षा अधिक उद्बोधन नही किया है?" और मेरी समझ मे यह बात ऐसी अच्छी तरह आ

गई, जैसे कि पहले कभी न आयी थी, कि अपने सन्देहो के उन द्वारा धैर्यपूर्वक दिये गए प्रत्युत्तरो से मैंने कितना अधिक ग्रहण किया है—शायद ठीक इसी प्रकार जैसे कि कोई बालक जिस वस्तु की तरफ वह अपनी खुली हुई आश्चर्यचकित आँखो से देखता है, उससे ही अज्ञान रूप से प्राय अपने लिए पोषक तत्व को ग्रहण करता है।

ऐसा मालूम होता था कि वे मेरे विचारो को पढ रहे हो, क्योकि उन्होने कहा—"आध्यात्मिक जगत् मे प्राय ऐसी घटनाएँ होती है,—जिनकी कि मन कल्पना नही कर सकता। मैं तुम्हे एक उदाहरण देता हूँ। आध्यात्मिक अनुभव मे यह एक तथ्य है कि गुरु शिष्य से छोटा भी हो सकता है, परन्तु फिर भी उसकी सहायता कर सकता है, वह अपने शिष्य को वह अनुभव प्रदान करने मे भी साधन बन सकता है, जो कि उसने स्वय नही किए है।"

"मुझे भय है—"

"सुनो। लीले मुझे कुछ अनुभव देना चाहते थे, परन्तु ऐसा हुआ कि मुझे सर्वथा विभिन्न प्रकार का अनुभव हुआ—निर्वाण का अनुभव, जिसे मुझे देना उन्होने कभी नही सोचा था। वास्तव मे वे इसकी कल्पना भी नही कर सकते थे, और इसलिए उन्होने मुझे अपने अन्तर्वर्ती पथप्रदर्शक पर विश्वास करने के लिए कहकर छोड दिया।[1] परन्तु उसने मेरी सहायता की, यद्यपि उस रूप मे नही, जैसाकि उनका मन चाहता था।

मैंने आधे दिल से स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया।

वे मेरी असहायता पर मुस्कराये और कहा—"तो आओ एक और उदाहरण दूँ। मातजी और मै अपनी शक्ति तुम पर लगा रहे थे—जैसेकि उसी प्रयोजन से और भी अनेको पर—और उसके परिणामस्वरूप अनेक फूल निकले है। तुमने उनको कार्य करते हुए नही देखा है, परन्तु अनेक अवसरो पर तुम्हे स्वय स्वीकार करना पडा है कि तुम्हारे साथ ऐसी घटनाएँ हुई है जिन्हे कि तुम

१ श्री अरविन्द ने मई १९३२ मे मुझे एक पत्र मे लिखा था हम दोनो इकट्ठे बैठे और हमने पूर्ण ईमानदारी के साथ जो कुछ उन्होने मुझे करने के लिए आदेश किया था, उसका पालन किया—पहला परिणाम अत्यन्त शक्तिशाली अनुभवो की एक श्रृखला और चेतना के मौलिक परिवर्तनो के रूप मे प्रकट हुआ जिसका उन्होने कभी विचार न किया था—कारण वे अनुभव अद्वैतिक या वैदान्तिक थे, और वह अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध थे, उनके द्वारा मुझे यह विश्व परब्रह्म की अवैयक्तिक सार्वभौमता मे अत्यन्त तीव्रता के साथ मिथ्या रूपो की चलचित्र क्रीडा के समान प्रतीत होने लगा।

चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नही कह सकते। यदि तुमने अपने अन्दर कार्य करने वाली उस शक्ति को देखा होता, तो तुम्हे सारी प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती, परन्तु चूँकि तुमने उसे नही देखा, इसीलिए तुम इसे चमत्कार कहते हो, और बुद्धिमत्तापूर्वक इस प्रकार सदेह प्रकट करतेहो कि क्या यह हमारी शक्ति थी—जोकि तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही थी।"

मैंने कुछ शर्मिन्दा होकर क्षमा याचना के तौर पर कहा—"मैने आपके शब्दो पर कभी अविश्वास नही किया, मुझे सिर्फ आश्चर्य होता था—किस तरह कहूँ—मेरा अभिप्राय है कि मैं अपने आपसे यह पूछता था कि जिस शक्ति के बारे मे आप कहते है, वह क्या कोई स्थूल इन्द्रियगोचर शक्ति है ?"

"स्थूल ? स्थूल से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? आध्यात्मिक शक्ति की अपनी ही स्थूलता है। यह एक आकृति धारण कर सकती है—उदाहरण के लिए एक प्रवाह के समान—जिसे कि एक व्यक्ति जानता है और जिस पदार्थ पर भी चाहे सर्वथा स्थूल रूप से भेज सकता है। यह आध्यात्मिक चेतना मे निहित शक्ति के बारे मे एक तथ्य का वर्णन है। परन्तु ऐसी चीज भी है जिसे कि किसी सूक्ष्म शक्ति का इच्छित प्रयोग कहते हैं—यह आध्यात्मिक, मानसिक व प्राणिक हो सकता है—और ससार मे किसी विशेष स्थल पर किसी विशेष परिणाम को पैदा करने के लिए होता है। ठीक जैसे अदृश्य भौतिक शक्तियो की लहरे है, (विश्व-लहरे इत्यादि) या बिजली की धाराएँ है, इसी प्रकार मन की भी लहरे हैं, विचारधाराये है, भावो की लहरे है—उदाहरण के लिए क्रोध, दुख इत्यादि—जोकि बाहर जाती हैं, और दूसरो पर, बिना उनके यह जाने कि वह कहाँ से आ रही है, या आयी रही हैं या नही, अपना प्रभाव डालती है, वे केवल परिणाम का अनुभव करते है। वह व्यक्ति जिसकी यौगिक व आन्तरिक इन्द्रियाँ जागृत हैं, उनके आगमन व आक्रमण का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार अच्छे व बुरे प्रभाव अपने आपको फैला सकते है, और यह बिना चाहे स्वाभाविक रूप से हो सकता है, परन्तु उनका जानबूझकर भी प्रयोग हो सकता है। आध्यात्मिक व किसी दूसरी शक्ति की किसी उद्देश्य को लेकर भी उत्पत्ति हो सकती है। प्रभावशाली सकल्प व विचार का, किसी बाह्य क्रिया, वाणी या अन्य किसी साधन की सहायता के बिना भी, जोकि उस अर्थ मे स्थूल नही है, परन्तु जो फिर भी पूर्ण प्रभावशील है, उस रूप मे प्रयोग हो सकता है। यह कोरी कल्पनाएँ भ्रम व धोखा ही नही है, परन्तु सत्य घटनाएँ है।"[1]

जब वे इस प्रकार गम्भीर उत्साह के साथ बोल रहे थे, उनका चेहरा इतना दमकने लगा जैसा कि मैंने पहले कभी नही देखा था और मैने अपने समस्त शरीर

---

१ यह पूरा पैराग्राफ श्री अरविन्द ने मेरी प्रार्थना पर स्वय लिखा था।

मे एक प्रकार के कम्पन का अनुभव किया। और एक ही क्षण मे मैंने उनकी शक्ति का सक्रामक प्रभाव ग्रहण कर लिया। और मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मैं एक विश्वास की मूर्ति के रूप मे परिणत कर दिया गया हूँ! उस समय, सन्देह का अन्धकार एकदम एक अजनबी वस्तु प्रतीत होने लगा। और इस सब आश्चर्य और उल्लास से भी बढकर, उनके शब्दो के अमृत का उनके सामने बैठकर पान करने के नशे से भी बढकर, एक प्रकार के आदर मिश्रित भय का भाव भी था कि ऐसी महान् शक्ति व ज्ञान का अवतार, एक मित्र के समान मुझसे बाते कर रहा है। परन्तु मैंने किसी प्रकार के अभिमान का अनुभव नही किया, अपितु एक ऐसी गम्भीर विनम्रता का अनुभव किया जोकि, एक निमन्त्रण को इनकार करने मे लज्जा का अनुभव करती है, कि एक ऐसा व्यक्ति जो कि प्रकाश और प्रेम के तत्व से बना हुआ है, उसने मुझे अपने साथ हँसने व विचार-विनिमय करने का

और यहाँ तक कि एक साथी के समान अपने ऊपर आक्षेप करने का भी अधिकार प्रदान किया है। नि सन्देह इस बात का कोई प्रश्न न था कि मैं उन्हे अपने अनुभव वही और उसी समय प्रकट करता, न इसकी कोई आवश्यकता ही थी। इसके बाद कुछ देर तक कोई न बोला—और मैं चकित था कि आगे क्या होने वाला है? परन्तु उन्होने कुछ नही कहा। मैंने उनके नेत्रो की तरफ देखा और फिर अपनी दृष्टि हटा ली। परन्तु फिर भी वे मौन रहे। न जाने क्यो मैंने एक विशेष प्रकार की हरकत की, जिसकी मैं स्वय व्याख्या नही कर सकता। मेरे मुँह से बिना सोचे-समझे अचानक ही सीधा प्रश्न निकल पडा। मैने उनकी तरफ दृष्टि निक्षेप करते हुए कहा—"आप बाहर कब आ रहे है?"

वे मुस्कराए और उत्तर दिया—"मैं नही जानता।"

"इससे आपका क्या मतलब है? आप अवश्य जानते होगे?"

वह हँसे "उस तरह नही, जिस तरह कि तुम जानते हो" उन्होने एकटक मेरी तरफ देखते हुए कहा, और कुछ क्षण रुककर फिर छकाते हुए कहने लगे—"क्योकि मैं अब मानसिक स्तर पर नही रहता। मैं मन द्वारा निर्णय नही करता।"

"परन्तु फिर भी" मैंने जोर दिया—"आपका यह मतलब कभी नही हो सकता कि आप जैसा दिव्य व्यक्तित्व, इस छोटे से कमरे मे अनन्त काल तक बन्द पडा रहेगा?"

"परन्तु मैंने तुम्हे कहा है कि मेरे साथ घटनाये पूर्व निश्चित नही है।" उन्होने प्रशान्त स्वर मे कहा।

"अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि मै मनुष्यो से मिलता-जुलता रहूँ, तो वह कार्य जो मुझे करना है, उसे मैं न कर सकूँगा।"

मैं उनका अभिप्राय समझ गया और इसलिए और अधिक जानने के लिए

जोर नही दिया। क्योकि मुझे उनका वह लेख स्मरण हो आया जो कि उन्होने मुझे अपने हाल के ३० मई १९४२ के पत्र मे लिखा था इस बात की सफाई देते हुए कि उन्होने अपने शिष्यो के पत्रो का उत्तर देना भी क्यो बन्द कर दिया है?

"मुझे वैयक्तिक पसन्दगी व रुचि या अरुचि के आधार पर नियम नही बनाना पडा है, परन्तु चूंकि पत्र-व्यवहार मे मेरी शक्ति व समय का बहुत अधिक अश खर्च हो जाता है, और यदि मैं अपने मार्ग को नही बदलता और अपने वास्तविक कार्य मे नही जुटता, तो उसके बहुत कुछ उपेक्षित व अधूरा रह जाने का भय है। इन विश्वसकट के समयो मे, जबकि मुझे हर समय सतर्क व एकाग्रचित्त रहने की आवश्यकता है और जबकि, इसके अतिरिक्त, आन्तरिक आध्यात्मिक कार्य की मुख्य क्रिया के लिए भी उतनी ही लगन व ध्यानमग्न होने की आवश्यकता है, मेरे लिए नियम को छोड देना सम्भव नही है। और फिर एक वैयक्तिक साधक के लिए भी, उसके हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि यह मुख्य आध्यात्मिक कार्य पूरा किया जावे, क्योकि इसकी सफलता से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो जायेगी, जिनमे कि उसकी कठिनाइयाँ भी बहुत आसानी से हल हो जायेगी।"

मुझे एक दूसरे पत्र का भी स्मरण हो आया। मैने उनसे पूछा था कि किसी एक व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक क्यो है कि वह 'अतिमानस के अवतरण' जैसी किसी महान् सफलता के लिए प्रयत्न करे। साथ ही मैंने यह भी पूछा था कि क्या उस शक्ति को नीचे लाने के लिए प्रयत्न करना, जिसे स्वय कृष्ण भगवान् ने भी क्रियात्मक या सम्भव नही समझा एक सदिग्ध प्रयत्न नही है? इसके उत्तर मे उन्होने १० फरवरी १९३५ को लिखा था —

"मैं किसी वैयक्तिक महत्त्व के लिए अतिमानस को नीचे लाने का प्रयत्न नही कर रहा हूँ। मानवीय अर्थो मे महत्ता व लघुता की मुझे कोई परवाह नही है। मै आन्तरिक सत्य, प्रकाश, समता व शान्ति के किसी तत्त्व को पार्थिव चेतना मे लाने का प्रयत्न कर रहा हूँ, मैं उसे ऊपर देखता हूँ और जानता हूँ कि वह क्या है—मैं इसे हर समय ऊपर से अपनी चेतना पर चमकते हुए अनुभव करता हूँ, और मैं यह कोशिश कर रहा हूँ कि इसके लिए पूर्ण सत्ता को हर समय अपनी सहज शक्ति मे रखना सम्भव हो जाय, बजाय इसके कि मनुष्य की प्रकृति अर्ध-प्रकाश और अर्ध-अन्धकार मे ही पडी रहे। मेरा विश्वास है कि इस सत्य का अवतरण यहाँ पर दिव्य चेतना के विकास का मार्ग है, और पार्थिव विकास का अन्तिम अभिप्राय है। यदि मुझसे कही अधिक महान् पुरुषो को यह दृष्टि प्राप्त नही हुई है, या उनके सामने यह लक्ष्य नही है, तो यह इस बात के लिए कोई युक्ति नही है कि मैं अपनी सत्येन्द्रिय व सत्य दृष्टि का अनुसरण न करूँ। यदि जिस कार्य को कृष्ण ने नही किया है, उस कार्य को करने का प्रयत्न करने के लिए मानवीय बुद्धि मुझे मूर्ख समझती है तो मुझे उसकी परवाह नही है। इसमे 'क'

या 'ख' या अन्य किसी व्यक्ति का कोई प्रश्न नही है। यह मेरे और ईश्वर के बीच एक प्रश्न है—कि क्या यह ईश्वरीय सकल्प है या नही, अथवा कम-से-कम इसे और अधिक सम्भव बनाने के लिए भेजा गया हूँ या नही ? मेरी इस साहसिक कल्पना के लिए, यदि सब मनुष्य मुझ पर हँसना चाहे तो हँसने दो, और यदि सब नरक मेरे ऊपर गिरना चाहे तो गिरने दो—परन्तु मैं अपना प्रयत्न तब तक जारी रखूँगा जब तक कि मै विजयी नही हो जाता या विनष्ट नही हो जाता। इस भावना के साथ मैं अतिमानस की खोज कर रहा हूँ, अपने लिए या दूसरो के लिए यश व सन्मान प्राप्ति के लिए नही।"

"मैंने तुम्हे अपने हाल के पत्रो मे यह बात किसी अश तक स्पष्ट कर दी है कि मैं किस चीज मे व्यस्त हूँ।" कुछ देर रुकने के बाद उन्होने कहा—"परन्तु तुम कल्पना कर सकते हो कि और भी ऐसी अनेक प्रकार की बाधाएं हैं जिनका कि मुझे मुकाबला करना है।"

मैंने आग्रह प्रकट करते हुए कहा—"कृपा करके एक बात मुझे बताइए। आपने अनेक बार मुझे पार्थिव प्रकृति के प्रतिरोध के बारे मे लिखा है। श्री माता जी ने भी कुछ दिन हुए जब मुझे यह कहा था कि भौतिक उथल-पुथल व आकस्मिक परिवर्तन प्राय एक निकटवर्ती नवीन परिवर्तन के सूचक होते है। क्या मैं उन्हे ठीक समझा हूँ ?"

उन्होने सहमति प्रकट की—"जिन्हे यौगिक शक्तियो का ज्ञान है वे युग-युगान्तर से यही बात कहते चले आये है।"

"परन्तु मुझे आपके विचारो मे अधिक दिलचस्पी है, आपकी वैयक्तिक सम्मति—या अनुभव, यदि आप चाहे।"

(इस सम्बन्ध मे कुछ वर्ष पूर्व १६४७ मे उन्होने मेरे एक पत्र के उत्तर मे, जिसमे कि मैंने ससार की परिस्थितियो के बारे मे साधारणतया अन्धकारमय भविष्य की आशका प्रकट की थी, मुझे लिखा था "यह सब, चाहे कितना भी तीव्र क्यो न हो सामयिक घटना है, जिसके लिए वे सब व्यक्ति जो कि विश्वशक्ति तथा आत्मा का ज्ञान रखते हैं, पहले से ही तैयार थे। मै स्वय पहले से ही यह जानता था कि अभी भीषणतम हालत आनेवाली है, जो उषा से पूर्व रात्रि के अन्धकार के समान है, इसलिए मैं निरुत्साहित नही होता। अन्धकार के पीछे जो कुछ तैयार हो रहा है, मैं उसे जानता हूँ, और उसके आने के प्रथम लक्षणो को स्पष्ट देख व अनुभव कर रहा हूँ। जो ईश्वर की खोज करना चाहते है, उन्हे मजबूती के साथ खडा होना होगा, और अपनी खोज मे आगे बढते जाना होगा, एक समय के बाद अन्धकार दूर हो जाएगा, और प्रकाश प्रकट हो जाएगा।"

एक दूसरे पत्र मे—२० अक्टूबर, १६४६—को उन्होने मुझे लिखा था "परन्तु जो कुछ हो रहा है उससे मैं हतोत्साह नही हूँ, क्योकि मैं जानता हूँ और

सैकडो दफे मैंने स्वय इस बात का अनुभव किया है कि उस व्यक्ति के लिए जो ईश्वर का साधन है गहनतम अन्धकार के पीछे भगवान् की विजय का प्रकाश विद्यमान है।") उन्होने उत्तर नही दिया। "ऐसे अन्धकारमय भविष्यवाणी के बारे मे आपके पास कोई सीधी साक्षी है ?" मैने फिर पूछा।

एक अर्धस्मित उनके अधरो पर खेलने लगी। कुछ क्षण तक वे एकटक मेरी तरफ देखते रहे और फिर कहने लगे—"हाँ है।"

"इससे क्या मैं यह समझूं कि आखिर आपका अतिमानस वास्तव मे अपने कार्य के लिए मजीदा है, और वह इतनी प्रतीक्षा के बाद हम मानवीय प्राणियो के लिए नीचे आएगा ?"

उनकी मुसकान ने हास्य का रूप धारण कर लिया। और उन्होने झट उत्तर दिया—"हाँ! परन्तु जव तुम उनसे मिलो, तो उनसे सिर्फ यह कह देना कि यह काम उनका नही है।"

"कहूं ? किन्हे ?"

वे फिर हँसने लगे—"उन आदमियो को जिनके बारे मे तुम बात कर रहे। अथवा उन मनुष्यो को जोकि अतिमानस को अपने मन की कोई कल्पना समझते हैं। वे लोग यदि यह नीचे आ जाता है, पर नीचे आकर उनकी पूर्व कल्पित भावनाओ व विचारो को पूर्ण नही करता, तो इसे देखकर बडे निराश होगे।

मैं यह सुनकर हँस पडा—"परन्तु क्या ऐसी कल्पना करनेवाले कोई साधक है।"

"क्या नही है ? वे मुस्कराये।"क्या तुम्हे स्वयं कुछ ऐसे व्यक्ति नहीं मिले हैं, जिन्होने कि अपने आप इसे नीचे घसीट लाने का प्रयत्न किया था, और जो सबसे पहले अतिमानस प्राणी बनना चाहते थे परन्तु जिन्हे भयानक परिणाम का शिकार बनना पडा ?" यह कहकर वे हँसने लगे, और फिर कहने लगे—"मनुष्यो को अपनी वर्तमान स्थिति मे अतिमानस के कार्य मे दखल देने की आवश्यकता नहीं है, पर जिस स्थान पर वे हैं, उसी स्थान पर अपना कार्य करने की जरूरत है, और अतिमानस को मेरा कार्य समझकर उन्हे छोड देना चाहिए।"

(अतिमानस के अवतरण के बारे मे मुझे उनका एक और मजाक याद आ गया कि वह यूरोप के महाद्वीप पर दूसरा युद्ध क्षेत्र कायम करने के शाश्वत वायदे के समान सदिग्ध है, जिस पर कि रूसियो के सिवा सभी विश्वास करते थे।)

हास्य के थमने पर मैंने कहा—"क्या आशा करे कि आसुरिक शक्तियो पर विजय अतिमानस के अवतरण के युग का श्रीगणेश करेगी ?"

"अपने आप मे नही" उन्होंने अपनी दृष्टि परे हटाते हुए कहा—"परन्तु इसमे अवतरण की सम्भावना के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हो जायेंगी।"

उनकी वाणी व दृष्टि मे कुछ ऐसा जादू था कि उसने मेरी हृद्तन्त्री को

हिला दिया। मैंने कुछ देर तक सकोच के बाद एकदम अचानक ही पूछा, कह नही सकता शायद उनके मुख से जवाब सुनने के लालच से ही। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि किसी ने मुझे ऐसा करने के लिए अन्दर से मजबूर किया।

"क्या आपका असली कार्य इस अतिमानस शक्ति का आवाहन ही है?"

"हाँ" उन्होने उत्तर दिया—"मै इसीलिए आया हूँ।"

और मैं उनके साथ हँस रहा था, तर्क कर रहा था, उनके विचारो की परीक्षा कर रहा था क्योकि उन्होने अपनी अनन्त अनुकम्पा से मुझे अपना पुत्र व मित्र कहकर यह अधिकार प्रदान किया था। मुझे यह देखकर गीता मे वर्णित अर्जुन की आत्मग्लानि स्मरण हो आयी। (११-४१)

सखेति मत्वा प्रसभ मदुक्त, हे कृष्ण हे मादव हे सखेति।
अजानता तव महिमान मयेद मया प्रमादात् प्रपायेन वापि ॥
पचावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारु शय्यासन भोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्ष, तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

उनसे विदा होने से पूर्व मैने उन्हे प्रणाम किया, और उनसे अनुरोध किया कि वे अपनी उत्कृष्ट कविता अहना मे से वह स्थल पढकर सुनावे, जहाँ कि उपादेवी अपने प्रकाश के ज्ञान के पिपासुओ को उत्तर देती है। उन्होने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह सुन्दर अश मुझे लययुक्त स्वर मे गाकर सुनाया।

●●

परिशिष्ट

(पाठको की जानकारी के लिए मै श्री अरविन्द के एक सार्वजनिक तथा वाह्य जीवन के वारे मे एक प्रामाणिक मूत्र द्वारा दी गयी मुख्य घटनाओ का सक्षिप्त विवरण दे रहा हूँ।)

"श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त सन् १८७२ मे कलकत्ता शहर मे हुआ था। १८७९ मे सात वर्ष की अवस्था, वे अपने दो बडे भाइयो के साथ शिक्षा प्राप्त करने के लिए इग्लैण्ड भेज दिये गये, जहाँ वे चौदह वर्ष तक रहे। पहले-पहल मैनचेस्टर मे एक इगलिश परिवार के साथ उनका पालन-पोषण हुआ, और १८८५ मे वे लन्दन मे सेण्ट पाल के स्कूल मे भर्ती हुए, और वहाँ से १८९० मे वे किग कालेज की उच्च श्रेणी की स्कालरशिप प्राप्त करके कैम्ब्रिज मे दाखिल हुए, जहाँ उन्होने दो वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। १८९० मे वे इण्डियन सिविल सर्विस की खुली प्रतियोगिता मे भी उत्तीर्ण हुए, परन्तु दो वर्ष की आजमायश के बाद घुडसवारी की परीक्षा मे उपस्थित न हो सके, जिसके कारण उन्हे उस सेवा के अयोग्य ठहराया गया। इस समय वडोदा नरेश लन्दन आए हुए थे। अरविन्द उनसे मिले, और वडोदा की रियासत मे उन्हे नौकरी मिल गयी, और १८९३ के फरवरी मास मे उन्होने इग्लैण्ड से प्रस्थान कर दिया।

श्री अरविन्द ने १८९३ से १९०६ तक तेरह वर्ष वडोदा रियासत की सेवा मे व्यतीत किए, पहले भूमिकर विभाग मे और महाराजा के मन्त्रणालय विभाग मे, और वाद मे अग्रेजी के उपाध्याय के पद पर, और अन्त मे वडोदा कालेज के उपाचार्य के पद पर कार्य किया। उनके यह वर्ष मुख्यत आत्म-शिक्षण व साहित्यिक सेवा के वर्ष थे—क्योकि उनकी कविताओ का अधिकाश जोकि वाद मे पाडिचेरी ने प्रकाशित हुआ, इसी समय मे लिखा गया था—और उनके भविष्य के कार्य की तैयारी का भी यह काल था। इग्लैण्ड मे उन्होने अपने पिता के स्पष्ट आदेश के अनुसार केवल पाश्चात्य शिक्षा ही प्राप्त की थी, और पौरस्य व

भारतीय सस्कृति से कोई सम्पर्क न रखा था।[1] परन्तु बडौदा मे उन्होने अपनी इस कमी को दूर कर लिया, सस्कृत सीखी व अन्य अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओ का भी ज्ञान प्राप्त किया, और प्राचीन व आधुनिक भारतीय सस्कृति के बाह्य रूपो व उसकी आत्मा को अच्छी तरह समझ लिया। इस समय के पिछले कुछ वर्षो का अधिक भाग उन्होने छुट्टी मे, अप्रत्यक्ष राजनीतिक कार्यो मे व्यतीत किया, क्योकि बडौदा मे उनकी स्थिति उन्हे सार्वजनिक रूप से कार्य करने से रोकती थी। १६०५ मे बग-विच्छेद के विरुद्ध आन्दोलन ने उन्हे बडौदा की सेवा को त्याग देने का अवसर प्रदान किया, और वे प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक कार्यो मे भाग लेने लगे। सन् १६०६ मे उन्होने बडौदा को छोड दिया, और कलकत्ता मे नवसस्थापित बगाल नेशनल कालेज के आचार्य पद पर नियुक्त हुए।

"श्री अरविन्द की राजनीतिक गतिविधि का कार्यकाल १६०२ से १६१० तक आठ वर्ष है। इसमे पहले पाँच साल तक उन्होने पर्दे के पीछे से, अपने अन्य साथियो के साथ स्वदेशी आन्दोलन (भारतीय सिन फिन आन्दोलन) के प्रारम्भ के लिए कार्य किया, जबकि बगाल के आन्दोलन ने राजनीतिक क्षेत्र मे उस नरमदली सुधारवाद की नीति की अपेक्षा जिसे कि अब तक भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने अपनाया हुआ था, एक और अधिक उग्र व अग्रगामी नीति को जन्म दिया। सन् १६०६ मे श्री अरविन्द इसी ध्येय को लेकर बगाल आये, और नयी पार्टी मे सम्मिलित हो गये, यह पार्टी काँग्रेस के अन्दर ही एक छोटा-सा अग्रगामी दल था जिसके सदस्यो की सख्या अभी बहुत कम थी, व प्रभाव भी मामूली ही था। इस दल की राजनीतिक कल्पना एक प्रकार से असहयोग का एक अस्पष्ट सदेह था, परतु क्रिया मे यह अभी तक काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन पर 'विषय निर्धारिणी समिति' के रहस्य के पर्दे के पीछे कुछ नरम दली नेताओ के साथ कुछ प्रभावशून्य झपटो से आगे न बढा था। श्री अरविन्द ने बगाल मे इस दल के

---

१ यह कहा जा सकता है कि इगलैण्ड की शिक्षा ने श्री अरविन्द को, प्राचीन, मध्यकालीन, व आधुनिक यूरोप की सस्कृति का विस्तृत व पर्याप्त ज्ञान दिया था। वे ग्रीक व लैटिन के विलक्षण विद्वान थे। उन्होने अपने बचपन मे ही मैनचेस्टर मे फ्रेंच भाषा सीख ली थी, और जर्मन व इतालवी भाषा का भी इतना पर्याप्त ज्ञान कर लिया था कि वे गेटे व दान्ते को उनकी मातृभाषाओ मे ही अच्छी तरह पढ व समझ सकते थे। (उन्होने कैम्ब्रिज मे प्रथम श्रेणी मे ट्राइपोज की डिग्री प्राप्त की, और इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा मे ग्रीक व लैटिन मे पूर्व रिकार्ड को मात करने वाले नम्बर प्राप्त किये।)

नेताओ को एक निश्चित व मुकाबले के प्रोग्राम के साथ जनता मे आने व एक भारतव्यापी दल का निर्माण करने के लिए आह्वान किया, और लोकप्रिय मराठा नेता लोकमान्य बालगगाधर तिलक को दल का सर्वोच्च सेनापति बनाकर उनकी सरक्षा मे, काँग्रेस पर शासन करने वाले नरम दली (सुधारवादी व लिबरल) सिद्धहस्त राजनीतिज्ञो के घनिक शासन के विरुद्ध आक्रमण करने तथा देश काँग्रेस पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। नरम दल वालो और राष्ट्रीयतावादियो (जिन्हे उनके विरोधी गरम दल वाले कहते थे) के बीच जो ऐतिहासिक सघर्ष हुआ है, उसका सूत्रपात यही से हुआ था, और इसने दो साल में ही भारतीय राजनीतिक का सारा रूप ही बदल डाला। नवजात राष्ट्रीय दल ने नरम दल के सुदूरवर्ती साम्राज्यान्तर्गत—स्वशासन की आशा के विरुद्ध, जोकि धीरे-धीरे सुधारो की प्रगति द्वारा न मालूम एक या दो शताब्दी की किस दूरस्थ तारीख पर क्रियान्वित होगी, अपना लक्ष्य स्वराज्य व पूर्ण स्वतन्त्रता को घोषित किया। इसने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक प्रोग्राम पेश किया, जोकि भावना मे यद्यपि सूक्ष्म विवरण मे नही, उस सिन-फिन नीति से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था, जिसे कुछ वर्ष बाद आयरलैण्डवासियो ने अपनाया, और उसके द्वारा अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। इस नीति का मुख्य सिद्धान्त आत्मनिर्भरता व आत्म-सहायता है, इसका लक्ष्य जहाँ एक तरफ राष्ट्र की शक्तियो का प्रभावशाली सगठन करना है, वहाँ दूसरी तरफ सरकार के साथ पूर्ण असहयोग करना है। अग्रेजी व विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार, और उनका स्थान ग्रहण करने के लिए स्वदेशी उद्योगो को प्रोत्साहन, अग्रेजी अदालतो का बहिष्कार और उनके स्थान पर पचायती सस्थाओ का निर्माण, सरकारी कालेजो व विश्वविद्यालयो का बहिष्कार और राष्ट्रीय कालेजो व स्कूलो की स्थापना और नवयुवको की ऐसी समितियो का निर्माण जोकि आवश्यकता पडने पर पुलिस व सेना का कार्य कर सकें, यह सब उक्त प्रोग्राम के तात्कालिक अग थे। श्री अरविन्द काँग्रेस पर उक्त दल की सत्ता स्थापित कर यह आशा करते थे कि वे काँग्रेस को सगठित राष्ट्रीय कार्य का प्रेरक केन्द्र बना देंगे, राष्ट्र के अन्दर एक अनियमित राष्ट्र बना देंगे, जोकि स्वतन्त्रता के लक्ष्य की प्राप्ति तक अपना सघर्ष जारी रखेगा। उन्होने अपने दल को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह नव स्थापित 'वन्देमातरम' दैनिक पत्र को जिसके कि वे स्वय उस समय सम्पादक थे, अपना प्रमाणित पत्र स्वीकार करे और उसका आर्थिक दायित्व अपने ऊपर ले। 'वन्देमातरम्' पत्र जिसकी नीति १९०७ मे उसके प्रारम्भ से लेकर १९०८ मे उसके अचानक श्री अरविन्द के जेल मे चले जाने के कारण बन्द होने तक, पूर्णतया श्री अरविन्द द्वारा ही परिचालित होती थी, उसका प्रचार तत्काल ही

प्राय सारे भारतवर्ष मे हो गया था। इसने अपने अल्पकालिक परन्तु महत्वपूर्ण जीवन काल मे भारतवर्ष की समस्त राजनीतिक विचारधारा को एकदम बदल दिया, जिस पर तब से लेकर अभी तक यहाँ तक कि उसके बाद मे होने वाले परिवर्तनो मे भी उसकी छाप मौजूद है। परन्तु इस प्रकार का सघर्ष यद्यपि अत्यन्त जोशीला तथा प्रभावकारी था, और भविष्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था, तथापि उस समय यह अधिक देर तक न टिक सका, क्योकि देश अभी तक ऐसे साहसिक प्रोग्राम के लिए तैयार न था।

१९०७ मे श्री अरविन्द के विरुद्ध राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया, परन्तु वे छोड दिए गए। अब तक वे एक सगठनकर्त्ता व लेखक के रूप मे ही कार्य कर रहे थे, परन्तु उपर्युक्त घटना के कारण तथा अन्य नेताओ के जेल मे चले जाने व अज्ञातवास ले लेने के कारण उन्हे बगाल के दल के प्रमुख नेता के रूप मे सामने आना पडा, और पहली दफे एक वक्ता के रूप मे प्लेटफार्म पर खडा होने के लिए बाध्य होना पडा। १९०७ मे सूरत मे होनेवाले राष्ट्रीय सम्मेलन के वे सभापति बने, जहाँ दो बराबर की पार्टियो मे जबर्दस्त सघर्ष के बाद काँग्रेस टुकडो मे विभक्त हो गयी। १९०८ के मई मास मे वे फिर अलीपुर षड्यन्त्र केस मे पकडे गये, जहाँ उन पर उनके भाई वारीन्द्र के नेतृत्व मे षड्यन्त्रकारी दल के कार्यो मे हिस्सा लेने का अभियोग लगाया गया, परन्तु कोई वजनदार साक्षी उनके विरुद्ध उपस्थित न की जा सकी, और उस केस से भी वे बेदाग छूट गये। एक वर्ष तक अलीपुर जेल मे बतौर हवालाती कैदी के रूप मे रहकर जब वे १९०९ मे जेल से छूटकर आये, तो उन्होने देखा कि उनके दल का सगठन टूट गया है, उसके नेता जेल, देशनिकाला, व जानबूझकर अज्ञातवास द्वारा तितर-बितर हो चुके है, और यद्यपि दल की सत्ता अब भी मौजूद है, परन्तु वह सर्वथा मूक, हतोत्साह हो चुका है और किसी श्रम-साध्य कार्य के योग्य नही है। लगभग एक वर्ष तक उन्होने अकेले ही, राष्ट्रीय दल के एकमात्र अवशिष्ट नेता के तौर पर आन्दोलन को पुनर्जीवित करने का सिरतोड परिश्रम किया। इस अवसर पर उन्होने अपने प्रयत्न को जारी रखने के लिए एक साप्ताहिक अग्रेजी पत्र 'कर्मयोगी' और एक बगाली साप्ताहिक पत्र 'धर्म' का सम्पादन प्रारम्भ किया। परन्तु अन्त मे उन्हे यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडा कि अभी हमारा राष्ट्र उनकी नीति व प्रोग्राम को क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त रूप से तैयार नही है। एक समय उन्होने ऐसा भी सोचा कि पहले एक अनुग्र होमरूल के आन्दोलन द्वारा या एक निष्क्रिय प्रतिरोध के आन्दोलन द्वारा, जैसा कि महात्मा गाधी ने दक्षिण अफ्रीका मे किया था, देश को आवश्यक शिक्षा देनी चाहिए। परन्तु उन्होने अनुभव किया कि इन आन्दोलनो का भी अभी उपयुक्त समय नही आया है, और उनके भाग्य

मे उनका नेतृत्व नही लिखा है। इसके अतिरिक्त अलीपुर जेल मे एक वर्ष की नजरवन्दी का समय जो उन्होने पूर्णतया योगाभ्यास मे व्यतीत किया था—उससे उनका आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन उन पर एक ऐकान्तिक तन्मयता के लिए जोर डाल रहा था। इसलिए उन्होने कम-से-कम कुछ समय के लिए राजनीतिक जीवन मे पृथक होने का सकल्प कर लिया।

"१९१० के फरवरी मास में उन्होने चन्द्रनगर मे गुप्त एकान्त निवास का आश्रय लिया, और अप्रैल के प्रारम्भ मे फासीसी उपनिवेश पाडिचेरी के लिए प्रस्थान किया। इस समय 'कर्मयोगी' मे अपने हस्तक्षरो से एक लेख प्रकाशित करने के कारण उन पर तीसरा मुकदमा और चलाया गया, उनकी अनुपस्थिति मे पत्र के प्रकाशक को दोषी ठहराकर दण्डित किया गया, परन्तु कलकत्ता हाई-कोर्ट मे अपील करने पर वह मुक्त कर दिया गया। श्री अरविन्द ने बगाल को इस विचार से छोडा था कि बाद मे और अनुकूल परिस्थितियाँ आ जाने पर वे फिर राजनीतिक क्षेत्र मे पदार्पण करेंगे, परन्तु बहुत जल्दी ही उस आध्यात्मिक कार्य की विशालता उनके सम्मुख प्रकट हो गयी जिसे कि उन्होने अभी प्रारम्भ किया था, और उन्होने देखा कि इसके लिए उनकी पूर्ण शक्तियो का ऐकान्तिक केन्द्री-करण आवश्यक है। इसलिए अन्तत उन्होने राजनीति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, और राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापतित्व को स्वीकार करने से बार-बार इनकार कर दिया, और पूर्ण एकान्त जीवन व्यतीत करने लगे। १९१० से आज तक पाडिचेरी मे उनके सम्पूर्ण निवासकाल मे वे आध्यात्मिक कार्य व साधना मे ही अधिकाधिक तत्परता से सलग्न हैं।

"चार वर्ष तक मौन योग की साधना के बाद उन्होने सन् १९१४ मे 'आर्य' नामक दार्शनिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उनकी बहुत सी महत्त्वपूर्ण रचनाये, जोकि उसके बाद पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुकी है, जैसा कि 'ईशोपनिषद्' या 'गीता प्रवन्ध' आदि, तथा अन्य अनेक जो अभी तक अप्रकाशित ही हैं, जैसे 'दिव्य जीवन', 'योग समन्वय' आदि वे सब क्रमश 'आर्य' मे प्रकाशित हो चुकी हैं। ये रचनायें उनके उस गभीरतर आन्तरिक ज्ञान का दर्शन कराती हैं जोकि उन्हे योग की साधना द्वारा प्राप्त हुआ है। अन्य रचनाएं भारतीय सभ्यता व सस्कृति के सार व महत्त्व, वेदो के सत्य अर्थ, मानव जाति की प्रगति, कविता के विकास व उसका स्वरूप, और मानव जाति की एकता सभावना से सम्बन्ध रखती हैं। इस समय उन्होने अपनी वे कविताये भी प्रकाशित करनी प्रारम्भ कर दी जोकि उन्होने इग्लैण्ड और बडोदा मे लिखी थी और कुछ थोडी-सी वे कविताये भी थी जो उन्होने अपने राजनीतिक जीवनकाल मे व पाडिचेरी-वास के प्रथम वर्षो मे बनायी थी। साढ़े छ वर्ष तक लगातार

प्रकाशित होने के बाद सन् १९२१ मे 'आर्य' का प्रकाशन बन्द हो गया।

"प्रारम्भ मे श्री अरविन्द ने चार या पाँच शिष्यो के साथ ही पांडिचेरी मे एकान्तवास प्रारम्भ किया था। बाद मे दिन-प्रतिदिन उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले अधिकाधिक शिष्य आने लगे, और उनकी संख्या यहाँ तक बढ गयी कि उन व्यक्तियो के पथप्रदर्शन व निर्वाह के लिए, जिन्होंने कि उच्च जीवन व्यतीत करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर दिया है, साधको की एक समिति बनानी पडी। श्री अरविन्द आश्रम की स्थापना का यही मूल आधार है जोकि उसके चारो ओर एक प्रकार मे स्वय ही विकसित हो गया है, किसी ने उसका निर्माण नही किया है।

"श्री अरविन्द ने १९०५ मे योग साधना का प्रारम्भ किया था। पहले-पहल उन्होने उन आध्यत्मिक अनुभवो के सारभूत तत्वो का उसमे सग्रह किया जोकि ईश्वरीय मिलन व आध्यात्मिक साक्षात्कार के अब तक भारतवर्ष मे प्रच-लित मार्गों द्वारा प्राप्त किये जाते है, और फिर वे एक ऐसी पूर्णतर अनुभूति की खोज मे लगे जिसमे कि सत्ता के दो अन्तिम सिरो का, प्रकृति व आत्मा का मिलन व समन्वय होता है। योग के बहुत मे मार्ग परात्पर की तरफ, आत्मा की तरफ, ले जाने वाले है, और अन्त मे वे जीवन से दूर ले जाते हैं, परन्तु श्री अरविन्द का मार्ग आत्मा की तरफ इसलिए आरोहण करता है, कि वह वहाँ से प्राप्त होने वाले लाभो को प्राप्त करके, आत्मा के प्रकाश, शक्ति व आनन्द को लेकर नीचे जीवन मे पुन अवतरित होकर उसे परिवर्तित कर दे। वस्तुओ के इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य की भौतिक जीवन मे वर्तमान सत्ता, अज्ञान मे एक जीवन है, जिसका आधार जड व अचेतन (Inconscient) है, परन्तु उसके अन्धकार व अज्ञान से भी ईश्वर की सत्ता व सभावनाये विद्यमान हैं। यह उत्पन्न हुआ ससार एक भूल, निरर्थकता व भ्रम नही है, जिसे कि स्वर्ग व निर्वाण की तरफ लौटने वाली आत्मा को फेक देने की आवश्यकता है, परन्तु यह आध्या-त्मिक विकास की रगभूमि है, जिसके द्वारा इस भौतिक जडता मे से वस्तुओ के अदर ईश्वरीय चेतना की क्रमश. अभिव्यक्ति होती है। विकास के क्रम मे अब तक सबसे ऊँची वस्तु जिस तक पहुँच गया है, मन है? परन्तु यह वह सर्वोच्च वस्तु नही जिसके लिए विकास समर्थ है। इससे ऊँचे एक अतिमानस अथवा शाश्वत सत्य चेतना है, जोकि अपने स्वभाव से ही ईश्वरीय ज्ञान का एक स्वय-ज्ञानमय तथा स्वय निर्णायक प्रकाश व शक्ति है। मन एक अविद्या है, जोकि ज्ञान की खोज कर रही है, परन्तु यह एक स्वयभू ज्ञान है जोकि अपने रूपो व शक्तियो की क्रीडा को समन्वित रूप से अभिव्यक्त कर रहा है जिसका कि ससार भर के महान् महापुरुष स्वप्न देखते है। एक महत्तर ईश्वरीय चेतना के प्रति